

भारत-भ्रमण

पांच खण्डों में से

पांचवां खण्ड

केदारनाथ और बदरीनाथजी की यात्रा

—६६—

बाबू साधुचरणप्रसाद विरचित

—६६—

प्रकट २५ सन् १८६७ ई० के अनुसार रजिस्तरी हुई है
इसे छापने वा अनुवाद करने का अधिकार
किसी को नहीं है।

—६६—

काशी

यज्ञेश्वरयंत्रालय में मुद्रित।

१९०२ ई०

पहिली बार १०००

प्रतियाँ

{ मूल्य प्रति प्रतिका १० }

{ लेखक प्रेषकों को छपे }



भारत-भ्रमण

पांच खण्डों में से

पांचवां खण्ड

केदारनाथ और बदरोनाथजी की यात्रा

बाबू साधुचरणप्रसाद विरचित



एकट २५ सन् १८६७ ई० के अनुसार रजिस्टरी हुई है
इसे छापने वा अनुवाद करने का अधिकार
किसी को नहीं है ।



काशी

यज्ञेश्वरयंत्रालय में मुद्रित ।

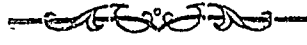
१९०२ ई०

पहिली बार १०००
प्रतियाँ छपीं

}

{ मूल्य प्रति पुस्तक १/२
केवल प्रेस का खर्च

भारत-भ्रमण के पांचवें खण्ड का सूचीपत्र ।



अध्याय	प्रसिद्ध स्थान	पृष्ठ	अध्याय	प्रसिद्ध स्थान	पृष्ठ
१	हृषीकेश	१	४	रुद्रनाथ	९८
११	गंगोत्तरी	२५	११	गोपेश्वर	९९
२१	मानसरोवर	२६	११	चमोली	१०१
२	वेवप्रयाग	२६	११	आदिवदरी	१०७
११	भीलेश्वर	४१	११	कल्पेश्वर	१०८
११	श्रीनगर	४५	११	वृद्धवदरी	१०९
११	पौड़ी	५३	११	जोशीमठ	११०
११	टिहरी	५४	११	भविष्यवदरी	११२
११	रुद्रप्रयाग	५५	११	विष्णुप्रयाग	११३
३	शोणितपुर	५९	११	पांडुकिश्वर	११५
११	गुप्तकाशी	६४	११	योगवदरी	११६
११	नारायणकोटी	६६	११	वदरीनाथ	१२०
११	धामाकोटी	६७	५	नंदप्रयाग	१३७
११	शाकम्भरीदुर्गा	७१	११	कर्णप्रयाग	१४०
११	त्रियुगीनारायण	७३	११	मीलचौरी	१४५
११	मुंडकटा गणेश	७५	११	रानीखेत	१४९
११	गौरीकुण्ड	७८	११	अलमोड़ा	१५०
११	घीरवासाभैरव	७९	११	नैनीताल	१५६
११	केदारनाथ	८२	११	भीमताल	१५७
४	उखीमठ	८९	११	काठगोदाम	१५८
११	मध्यमेश्वर	९१	११	काशीपुर	१५९
११	तुंगनाथ	९४	११	हल्द्वानी	१६०
११	मंडलगार्व	९६			

पांचवें खण्ड का शुद्ध पत्र ।



पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	१	की ओर	०	२६	४	१५०००	१५००
२	१७	शाजहांपुर	शाहजहांपुर	२७	१	रती में	रेती में
३	११	कर्ना	कर्नाल	२९	१५	आगे	आगे से
४	२२	जिला	जिला है	२९	२३	तखटा	तरवटा
७	१७	पौड़ी	पौड़ी में	२९	२४	काटकर	का टकर
७	२३	कारण	इस कारणसे	३१	१	बंदीचट्टी	बंदरचट्टी
८	२५	समान	सामान	४७	११	मांग	मार्ग
१२	२२	पहाड़ सड़क	पहाड़ीसड़क	४७	१८	वागघाट	वांगघाट
२०	२४	५ मील	६ मील	४९	१	होकर	०
२३	२	समान	समान है	६२	१९	आगे	आगे से
२३	१५	सवारी	सवारी है	११६	७	हिमलाय	हिमालय
२५	१५	और	और	१२१	३	पावभर	तीनपाव
२५	२२	उत्तर	ऊपर	१४६	२५	हे,	हे

भारत-भ्रमण ।

पांचवां खण्ड ।



श्रीगणेशाय नमः ।

सोरठा ।

संभु चरन सिर नाय, साधुचरन परसाद अव ।

पंचम खंड सुहाय, बरनत है भारत भ्रमन ॥

प्रथम अध्याय ।

हृषीकेश, गंगोत्तरी और मानसरोवर ।

हृषीकेश ।

मेरी पंचम यातां सन् १८९६ ई० (संवत् १९५३) के अप्रैल (वैशाख) में मेरी जन्मभूमि “चरजपुरा” से आरंभ हुई ।

चरजपुरा से १२ मील दक्षिण गंगा के उस पार शाहाबाद जिले के बिहिया में इंग्लिशियन रेलवे का स्टेशन है । मैं वहां रेल गाड़ी में बैठ केदारनाथ और बदरीनाथ के दर्शन के अर्थ चला । और बनारस तथा वरौली होते हुए हरिद्वार

पहुँचा। विहिया की ओर से पश्चिमोत्तर २९ मील वक्सर, ८७ मील मुगल-सराय जंक्शन, ९४ बनारस, १३३ मील जौनपुर, २१३ मील अयोध्या, २१७ मील फैजाबाद, २९६ मील लखनऊ, ४४२ मील वरौली जंक्शन ४८६ मील चंदौसी जंक्शन, ४९८ मील मुरादाबाद, ५८५ मील लक्सर जंक्शन और ६०१ मील पर हरिद्वार का रेलवे स्टेशन है ।

रेलवे—हरिद्वार के निकट के लक्सर जंक्शन से अवध रूहेल खंड रेलवे, की लाइन ३ ओर गई है । इसके तीसरे दर्जे का महसूल प्रति मील २½ पाई है ।

(१) लक्सर से पूर्व-दक्षिण—

मील, प्रसिद्ध स्टेशन ।

२५ नजीबाबाद ।

३९ नगीना ।

४९ धामपुर ।

८७ मुरादाबाद ।

९९ चंदौसी जंक्शन ।

१४३ वरौली जंक्शन ।

१८७ शाजहांपुर ।

२२५ हरदोई ।

२५८ संडिला ।

२८९ लखनऊ जंक्शन ।

३०६ वाराणसी जंक्शन ।

३६८ फैजाबाद जंक्शन ।

३७२ अयोध्या ।

४५२ जौनपुर ।

४८८ बनारस छावनी ।

४९१ बनारस राजघाट ।

४९८ मुगलसराय जंक्शन ।

चंदौसी जंक्शन से दक्षिण

पश्चिम ३१ मील राजघाट और

६१ मील अलीगढ़ जंक्शन ।

वरौली जंक्शन से उत्तर १२

मील भोजपुरा जंक्शन ६२

मील हलद्वानी और ६६ मील

काठगोदाम ।

लखनऊ जंक्शन से दक्षि-

ण-पूर्व ४९ मील रायवरौली

उत्तर कुछ पश्चिम रूहेलखंड

कमाऊँ रेलवे पर ५५ मील

सीतापुर, ८० मील खेरी,

१६३ मील पीलीभीत १८७

मील भोजपुरा जंक्शन और

२४१ मील काठगोदाम और

लखनऊ से दक्षिण-पश्चिम

३४ मील उन्नाव और ४६

मील कानपुर जंक्शन ।

वाराणसी जंक्शन से २१

हृषीकेश, १८९६ ।

हृषीकेश, १८९६ ।

मील पूर्वोत्तर बहरामघाट ।

फैजाबाद जंक्शन से ६ मील

पूर्वोत्तर अयोध्या का राम-
घाट स्टेशन ।

(२) लखसर से पश्चिमोत्तर—

मील, प्रसिद्ध स्टेशन ।

७ लंधौरा ।

१२ रुड़की-।

२३ सहारनपुर अवध रुहेलाबंद

और नार्थ वेष्टर्न रेलवे का जंक्शन ।

८३ अंबाला जंक्शन ।

८८ अंबाला शहर ।

१०० राजपुर जंक्शन ।

१२४ लुधियाना ।

१६२ फिल्लौर ।

१८६ जलंधर छावनी ।

१८९ जलंधर शहर ।

२१२ व्यास ।

२३८ अमृतसर जंक्शन ।

२७० लाहौर जंक्शन ।

३१२ गुजरावाला ।

३३२ बजीराबाद जंक्शन ।

३४० गुजरात ।

३४५ लालामूसा जंक्शन ।

३७३ झेलम ।

४४८ रावलपिंडी ।

५२६ नवशहरा ।

५५० पेशावर शहर ।

५५३ पेशावर छावनी ।

सहारणपुर जंक्शन से दक्षिण

१६ मील मुजफ्फर नगर, ६८

मील मेरठ छावनी ७१ मील

मेरठ शहर और ९९ मील

गाजियाबाद जंक्शन ।

अंबाला जंक्शन से दक्षिण

कुछ पूर्व २६ मील थानेसर,

४७ मील कर्ना, ६८ मील

पानीपत और १२३ मील दिल्ली

जंक्शन और ३९ मील पूर्वो-

त्तर कालका ।

राजपुर जंक्शन से पश्चिम

थोड़ा दक्षिण १६ मील पटि-

याला, ३२ मील नांभा, ६८

मील बर्नाला और १०८ मील

भतिंडा जंक्शन ।

अमृतसर जंक्शन से पूर्वो-

त्तर २४ मील बटाला, ४४ मील

गुरदासपुर, ५१ मील दीना

गर और ६६ मील पठानकोट ।

लाहौर जंक्शन से दक्षिण

पश्चिम २४ मील रायबंद जं-

क्शन, २०७ मील मुलतान

पहुँचा। बिहिया की ओर से पश्चिमोत्तर २९ मील लक्सर, ८७ मील मुगल-सराय जंक्शन, ९४ बनारस, १३३ मील जौनपुर, २१३ मील अयोध्या, २१७ मील फैजाबाद, २९६ मील लखनऊ, ४४२ मील वरैली जंक्शन ४८६ मील चंदौसी जंक्शन, ४९८ मील मुरादाबाद, ५८५ मील लक्सर जंक्शन और ६०१ मील पर हरिद्वार का रेलवे स्टेशन है ।

रेलवे—हरिद्वार के निकट के लक्सर जंक्शन से अवध रेलवे खंड रेलवे, की लाइन ३ ओर गई है । इसके तीसरे दर्जे का महसूल प्रति मील २१ पाई है ।

(१) लक्सर से पूर्व-दक्षिण—

मील, प्रसिद्ध स्टेशन ।

२५ नजीबाबाद ।

३९ नगीना ।

४९ धामपुर ।

८७ मुरादाबाद ।

९९ चंदौसी जंक्शन ।

१४३ वरैली जंक्शन ।

१८७ शाजहांपुर ।

२२५ हरदोई ।

२५८ संडिला ।

२८९ लखनऊ जंक्शन ।

३०६ वाराणसी जंक्शन ।

३६८ फैजाबाद जंक्शन ।

३७२ अयोध्या ।

४५२ जौनपुर ।

४८८ बनारस छावनी ।

४९१ बनारस राजघाट ।

४९८ मुगलसराय जंक्शन ।

चंदौसी जंक्शन से दक्षिण

पश्चिम ३१ मील राजघाट और

६१ मील अलीगढ़ जंक्शन ।

वरैली जंक्शन से उत्तर १२

मील भोजपुरा जंक्शन ६२

मील हलद्वानी और ६६ मील

काठगोदाम ।

लखनऊ जंक्शन से दक्षि-

ण-पूर्व ४९ मील रायवरैली

उत्तर कुल पश्चिम रेलवे खंड

कमाऊं रेलवे पर ५५ मील

सीतापुर, ८० मील खेरी,

१६३ मील पीलीभीत १८७

मील भोजपुरा जंक्शन और

२४१ मील काठगोदाम और

लखनऊ से दक्षिण-पश्चिम

३४ मील उन्नाव और ४६

मील कानपुर जंक्शन ।

वाराणसी जंक्शन से २१

मील पूर्वोत्तर वहरामघाट।

फैजाबाद जंक्शन से ६ मील

पूर्वोत्तर अयोध्या का राम-

घाट स्टेशन।

(२) लखनऊ से पश्चिमोत्तर—

मील, प्रसिद्ध स्टेशन।

७ लंधोरा।

१२ रुड़की।

२३ सहारनपुर अवध रुहेलखंड
और नार्थ वेस्टर्न रेलवे का जंक्शन।

८३ अंबाला जंक्शन।

८८ अंबाला शहर।

१०० राजपुर जंक्शन।

१२४ लुधियाना।

१६२ फिल्लौर।

१८६ जलंधर छावनी।

१८९ जलंधर शहर।

२१२ व्यास।

२३८ अमृतसर जंक्शन।

२७० लाहौर जंक्शन।

३१२ गुजरावाला।

३३२ बजीराबाद जंक्शन।

३४० गुजरात।

३४५ लालामूसा जंक्शन।

३७३ झेलम।

४४८ रावलपिंडी।

५२६ नवशहरा।

५५० पेशावर शहर।

५५३ पेशावर छावनी।

सहारणपुर जंक्शन से दक्षिण

१६ मील मुजफ्फर नगर, ६८

मील मेरठ छावनी ७१ मील

मेरठ शहर और ९९ मील

गाजियाबाद जंक्शन।

अंबाला जंक्शन से दक्षिण

कुल पूर्व २६ मील थानेसर,

४७ मील कर्ना, ६८ मील

पानीपत और १२३ मील दिल्ली

जंक्शन और ३९ मील पूर्वो-

त्तर कालका।

राजपुर जंक्शन से पश्चिम

थोड़ा दक्षिण १६ मील पटि-

याला, ३२ मील नाभा, ६८

मील बर्नाला और १०८ मील

भतिंडा जंक्शन।

अमृतसर जंक्शन से पूर्वो-

त्तर २४ मील बटाला, ४४ मील

गुरदासपुर, ५१ मील नान-

गर और ६६ मील ग्रथानकोट।

लाहौर जंक्शन से दक्षिण

पश्चिम २४ मील रायचंद जं-

क्शन, २०७ मील मुलतान

कशन, २७२ मील बहावल- पुर ५५० मील रुक जंक्शन ३११ मील हैदराबाद, और ८१९ मील कराची शहर । बजीराबाद जंक्शन से पूर्वो- त्तर २६ मील स्यालकोट और ५१ मील जंबू के पास तावी । लालामूसा जं० से पश्चिम कुल दक्षिण ५२ मील मलिक-	वाल जंक्शन, ६४ मील पिंड- दादनखाँ, और १६४ मील कुंडियान जंक्शन । गुलरा जं० से ७० मील प- श्चिम खुसालगढ़ । (३) लक्सर जंक्शन से पूर्वोत्तर— मील प्रसिद्ध प्पेनशन । १४ ज्वालापुर । १६ हरिद्वार ।
---	--

हरिद्वार—पश्चिमोत्तर देश के सहारन पुर जिले में शिवालिक पहाड़ के सिलसिले के दक्षिण की नैव के पास (२९ अन्श, ५७ कला ३० विकला उत्तर अक्षांश और ७८, अन्श १२ कला, ५२ विकला पूर्व देशांतर में) गंगा के दहिने किनारे पर हरिद्वार तीर्थ है । इसका वृत्तांत भारत भ्रमण के दूसरे खंड के आठवें अध्याय में देखो ।

मैं रेलवे स्टेशन से १ मील दूर हरिद्वार में जाकर सूर्यमल की धर्मशाले में टिका । मेरा बदरीनाथ का पंडा, जिसका गृह देवप्रयाग में था, वह हरि- की रही में मिल गया । मैंने कई दिनों तक हरिद्वार में स्नान और देव दर्शन करके हृषीकेश का राह लिया ।

गढ़वाल जिला—केदारनाथ और बदरीनाथ के मंदिर हिमालय पर्वत पर पश्चिमोत्तर देश के कमाऊँ विभाग के गढ़वाल जिले में है । इस लिये गढ़वाल जिले का विवरण पहले से जान लेना आवश्यक है । कमाऊँ विभाग के पश्चिमोत्तर में गढ़वाल जिला, जिसका क्षेत्रफल प्रायः ५५०० वर्ग मील है, इसके उत्तर तिब्बत देश, पूर्व कमाऊँ जिला, दक्षिण विजनोर जिला और पश्चिम टिहरी का राज्य और देहरादून जिला है । इस जिले का सदर स्थान श्रीनगर से ८ मील दूर पौड़ी है, किंतु श्रीनगर तो जिले का प्रधान कसबा

घाटियां, जो एक शृङ्ग से दूसरे को पृथक् करती हैं देखने में आती हैं। इनमें से श्रीनगर का सिलसिला जो सब से चौड़ा और समुद्र के जल से १८२० फीट ऊपर है, लगभग १ मील चौड़ा है। इस जिले में पहाड़ियों के दक्षिणी नेव से रुहेल खंड की नीची भूमि के बीच लगभग दो या तीन मील चौड़ी केवल इतनीही समतल भूमि है। जिले के भीतर की प्रधान चोटियों की ऊँचाई यह है;—२५६६१ फीट नंदादेवी, २५४१३ कामेट, २३३८२ फीट त्रिशूल, २३१८१ फीट दूनागिरि, २२९०१ फीट बदरीनाथ और २२८५३ फीट केदारनाथ है। सरस्वती और धवली की घाटियों से चीन के राज्य में जाने का राह है। सरस्वती की घाटी को नानापास और धवली घाटी को नीतिपास कहते हैं। अलकनंदा नदी, जो गंगा की प्रधान सहायक नदियों में से एक है, नीची घाटियों में बहती है। संपूर्ण जिले का पानी झरने और नदियों के द्वारा उसी में गिरता है। अलकनंदा और दूसरी नदियों के संगम के पवित्र स्थानों में देवप्रयाग, रुद्रप्रयाग, कर्णप्रयाग, नंदप्रयाग और विष्णुप्रयाग ये पांच मुख्य हैं। देवप्रयाग के समीप अलकनंदा गंगाजी में मिल गई है। केवल रामगंगा नदी, जो लोहवा के समीप निकली है, गढ़वाल जिले में गंगा से नहीं मिली है। वह कमाऊँ जिले और रुहेल खंड के मैदान में बहने के पश्चात् फरुखाबाद जिले में गंगा से मिलती है। गढ़वाल जिले के संपूर्ण नदियों में तेज धारा होने के कारण नाव नहीं चल सकती है। जिले में प्रतिवर्ष जंगली भूमि में खेतों बढ़ते जाती है।

इस जिले में सन् १८९१ की जन-संख्या के समय ४०६६३५ जन थे; अर्थात् १९९७४३ पुरुष और २०६८९२ स्त्री और सन् १८८१ में ३४५६२९ थे; अर्थात् ३४३१८६ हिंदू, २०७७ मुसलमान, २४२ कृस्तान, ६९ जैन और ५५ बौद्ध थे। जातियों के खाने में २०४५१९ राजपूत, ७७९६० ब्राह्मण, ५२०६० डोम, ३६५७ वनिया और २६२० गोसाईं थे। बर्फदार सिल सिले के भीतर एक दूसरे प्रकार की जाति मुड़िया, जिनकी संख्या कम है, बसते हैं। इनका स्वभाव बड़ा मैला है। गढ़वाल के निवासियों में एक से अधिक विवाह करने की चाल है। प्रत्येक मनुष्य अपने सामर्थ्य के अनुसार स्त्री रख सकता है।

जिले में ५००० से अधिक मनुष्यों की कोई वस्ती नहीं है । सब से बड़ा गांव श्रीनगर है । जिसमें सन् १८८१ में केवल २१०० मनुष्य थे । दूसरे केवल ९ गांवों में ५०० से अधिक और १००० से कम मनुष्य बसते हैं ।

सन् १८८१ में जिले के ५५०० वर्गमील क्षेत्रफल में केवल १७३ वर्गमील में खेती होती थी । इस जिले में बड़े परिश्रम से खेती का काम होता है । कई एक खेतों की चौड़ाई केवल ३ ही गज होती है । गेहूँ, धान और महुआ यहां की प्रधान फसिल है । नीचे दरजे के लोगों का मुख्य भोजन महुआ है । जिले के खर्च से पैदावार अधिक होता है ।

सन् १४०० ई० से पहिले अलकनंदा की घाटी में अनेक छोटे २ प्रधान लोग अपना २ स्वाधीन गढ़ रखते थे, इसी लिये इस देश का नाम गढ़वाल पड़ा । उसके पश्चात् चांदपुर के हुकूमत करने वाला अजयपाल सब छोटे राजाओं को अपने आधीन लाया और वही गढ़वाल राज्य को नियत करने वाला हुआ । उसने श्रीनगर को राजधानी बना कर उसमें एक महल बनवाया, जिसकी निशानियां अब तक विद्यमान हैं । अजयपाल के वंश के राजा गण, चांद घराने के नाम से प्रसिद्ध हैं, उन्नीसवीं सदी के आरंभ तक गढ़वाल और पास के टिहरी राज्य में राज्य करते रहे । गोरखा लोग सन् १८०३ ई० में चांद घराने के राजा मानशाह को भगा कर अन्याय से आप हुकूमत करने लगे । उस समय गांव उजड़ने लगे और वहां के निवासी वनों में भाग गए । जब वे लोग हिमालय के कदम के पास आक्रमण करने लगे तब तो सन् १८१४ में अंगरेजी सरकार से उनको लड़ाई हुई । सरकार ने सन् १८१५ में गोरखों को परास्त कर के मानशाह के पुत्र सुदर्शन शाह को राजा बनाया, जिनके पर पौत्र महाराज कीर्तिशाह टिहरी के वर्तमान नरेश हैं, किंतु अलकनंदा की घाटी गढ़वाल का १ अङ्गरेजी जिला बनाया गया । अङ्गरेजी अधिकार में होने पर अङ्गरेजी गढ़वाल जिले की बड़ी उन्नति हुई है । अन्न और चाह दोनों की खेती शीघ्र बहुत बढ़ गई है ।

हरिद्वार से काठगोदास तक के पहाड़ी देशों का, जो केदारनाथ और बदरोनाथ की यात्रा में मिलते हैं, संक्षिप्त

चूतांतः—हरिद्वार तक रेल है । हरिद्वार से केदारनाथ और बदरीनाथ की यात्रा आरंभ होती है । कुछ लोग नजीबाबाद से भी जाते हैं । हरिद्वार से हृषीकेश तक १२ मील वैलगाड़ी और एक्के की सड़क है । हृषीकेश से ४०३ मील काठगोदाम के पास के रानीबाग तक हिमालय पहाड़ की चढ़ाई उतराई है सवारी के अंपान या कंड़ी और असबाब लेजाने के लिये कंड़ों या कूलों का बंदोबस्त हरिद्वार से करना चाहिये । जो हरिद्वार में बन्दोबस्त नहीं करता उसको हृषीकेश में भी उपरोक्तचौजें मिलती हैं । यात्रियों को अङ्गरखा, कंबल, लोई या दोलाई, छतरी, जूता, पायजामा, चढ़ाई उतराई के समय सहाये के लिये लाठी या छड़ी, पूजा चढ़ाने के लिये मेवों की पुड़िया और चने की दाल, रोग से बचने के लिये पाचक, कुनैन आदि औषधि अपने साथ लेजाना चाहिए । ये सब सामान हरिद्वार में तैयार रहते हैं । खाने के लिये कोई जिन्श साथ लेजाने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि रास्ते की संपूर्ण चट्टियों पर सब सामान मिलते हैं मामूली वर्तन भी दुकानदार देते हैं ।

हरिद्वार से केदारनाथ और बदरीनाथ होकर रेलवे का स्टेशन काठगोदाम ४१७ मील पर मिलता है । लक्ष्मण झूला से मील चौरी तक गढ़वाल जिला और मील चौरी से आगे कमाऊं जिला है । गढ़वाल जिले का डिप्टी कमिश्नर श्रीनगर से ८ मील पौड़ी और कमाऊं जिले का अल्मोड़े में रहते हैं । पहाड़ में जंगल और माल के दो महकमें अलग अलग हैं । जंगल का प्रबंध और फौजदारी का विचार खुद डिप्टीकमिश्नर करते हैं और माल के बंदोबस्त के वास्ते पटवारी लोग मुकर्रर हैं । यही लोग मालगुजारी तहसील और धाकयातों की रिपोर्ट भी करते हैं । बड़ी बड़ी वस्तियों में पुलिस को चौकी है ।

पहाड़ी मनुष्य—पहाड़ी मनुष्यों में क्षत्री और ब्राह्मण ही अधिक हैं । इनका निर्वाह एक पेशे से नहीं हो सकता, कारण इनमें से बहुत लोग कूली के काम भी करते हैं । इस वेश में लोहार-बढ़ई, कुम्हार, तेली, दरजी, और नट बहुत नीच समझे जाते हैं । लोहार बदरीनाथ और केदारनाथ के कंकण, अंगूठी और बदरीनाथ का पट और बढ़ई—कठौते, कठारी, कलसी और प्याले बनाकर यात्रियों के हाथ बेचते हैं । नट लोग यात्रियों के आगे नटी को

नचाकर पैसे मंगाने हैं, और ये पहाड़ी लोगों के विवाहादि उत्सव में जाते हैं। चमार ढोल बजाते, कपड़ा सीते जूता बनाते और चौकीदार के काम करते हैं। लोहार आदि कई जाति मुर्गी पालते हैं। डोम के अतिरिक्त कोई आदमी जूठा नहीं खाता। अहिर, गंडेरी और कुर्मी भी कुछकुछ होते हैं। पहाड़ में मुसलमान बहुत कम हैं। मजखली चट्टी से इंधर व्यापारी मुसलमान देख पड़ते हैं। पहाड़ी लोग छोटी जाति के आदमी से साधारण काम करवाना अनुचित समझते हैं और बड़ी जाति के आदमी छोटे काम करने में लज्जा नहीं मानते। झम्पान और कंडो ढोनेवालों में क्षत्रीयों अधिक हैं। अब तो ब्राह्मण झम्पान ढोते नहीं देख पड़ते; परन्तु कंडी तो ढोते हैं। मोदी का काम ब्राह्मण क्षत्री तथा पण्डे लोग अधिक करते हैं। स्त्री दूकानों पर नहीं बैठती; परन्तु श्रीनगर आदि बड़ी बड़ी चट्टियों पर देख पड़ती हैं। और पशु पालन का काम छोटे बड़े सब जाति के लोग करते हैं पर अधिकांश राजपूतही खेती करते हैं। पहाड़ी लोग जोते बोये हुये खेतों में किसी को मल त्याग नहीं करने देते।

(मनुस्मृति के चौथे अध्याय और गौतम स्मृति के नवें ९ अध्याय में लिखा है कि खेत में मल मूत्र का त्याग न करो) किसीकिसी स्थान पर एक जगह कई चिगहे खेत नीची ऊंची जमीन पर देख पड़ते हैं। नहीं तो सर्वत्र पर्वतों के कमर पर जहां मट्टी है सीढ़ियों के समान नीचे से ऊपर तक पहाड़ी लोग खेत बनाए हैं। पहाड़ी मवेशियां जिनमें काले रंग की बहुत हैं छोटीछोटी और मोटी ताजी होती हैं। भेड़ और बकरे बड़ेबड़े और मजबूत भी होते हैं। पहाड़ी लोग अपना चौका किसी को छूने नहीं देते पर इनमें शौच आचार बहुत कम है। यहां ब्राह्मण अशक्त होने पर क्षत्री का बनाया हुआ कच्ची रसाईं खालेते हैं। ठंडा मुलुक होने से नित्य स्नान करने की रीति यहाँ नहीं है। पहाड़ी लोग बड़े सच्चे होते हैं। वे किसी जिन्श में नकली चीज नहीं मिलते एक बोली और एक भाव से जिन्श आदि समान बेचते हैं और चोरी नहीं करते। किसी का असबाब किसी जगह पड़ा रहे कोई नहीं उठाता। इस देश के पहाड़ी लोग दूसरे देशों के पहाड़ियों के समान गंवार

और कुलूप नहीं । इनका स्वभाव नम्र और दीन है । ये बड़े साहसी होते हैं और झगड़े के समय किसी से नहीं दबते पर किसी यात्री से एक टोपी दो चार हाथ तागा या एक सूई के लिए दुकानदार खेतिहर तथा भिक्षुक सब लोग हाथ पसार कर दौड़ते हैं । बहुतेरे यात्री टोपी बटुए सूई तागा और बिन्दी हरिद्वार से ले आते हैं और उनको वांटते हैं । पहाड़ी लोगों ने हिन्दु-स्तान को दो हिस्सों में विभक्त किया है अर्थात् एक देश और दूसरा पहाड़ । हिमालय पहाड़ से दक्षिण के देशों को वे देश, और इनके निवासियों को देशी कहते हैं । कोई पहाड़ी आदमी पश्चिमोत्तर, पंजाब, बंगाल, राजपुताना आदि हिमालय से नीचे के देशों में गया हो, तो वे उसको कहते हैं कि वह देश गया है । उपरोक्त प्रदेशों के यात्रियों को ये लोग कहते हैं कि देशी हैं और देश से आये हैं । इससे अनुमान हो सकता है कि इन लोगों का देश किसी समय हिमालय से दक्षिण ही होगा । पहाड़ी लोग अपने घर से उत्तर के देश को ऊपर और दक्षिण को नीचे कहते हैं । पहाड़ी पुरुषों का पहिरावा लुंगी, कम्बल का कोट, अंगा, चोगा, गोल टोपी और पायजामा हैं और कम्बल ओढ़ते हैं । जिस जगह अधिक जाड़ा है वहां के लोग दिन-रात पायजामा पहिने रहते हैं । एक प्रकार के सहोन और चिकना कम्बल पहाड़ में वनता है । इसी को अंगा पायजामा आदि वनता है । देवप्रयाग, श्रीनगर आदि प्रसिद्ध वस्तियों के लोग कपड़े का अंगा, कर्ता और पगड़ी पहिनते हैं । उनमें टोपी पहिनने की बड़ी रीति है । सिर खुला कोई नहीं देख पड़ता । कोई कोई अपने हाथों में चान्दी का कड़ा पहिनते हैं । पहाड़ में संक्रांति पास और हिन्दी अक्षर प्रचलित हैं । सरकारी काम देवनागरी में होता है । पहाड़ी भाषा एक दूसरी ही है, पर जैसे पंजाब, पश्चिमोत्तर देश, बंगाल, राजपुताना और बम्बे के लोग एक दूसरे देशवालों से बातचीत करछेते हैं वैसेही पहाड़ी लोगों के साथ भी देशी लोगों की बातचीत होती है । पहाड़ी लोग नदी को गाड़, गांव को सौंड, पुल को सांगा, पौसरा को प्याऊ कहते हैं और वे लोग केवल २००० गज को १ कोस मानते हैं, जैसा कि पुराणों में १००० धनुष याने ४००० हाथ का १ कोस लिखा है । पहाड़ी स्त्रियां कम्बल की सारी, कपड़े

के कोट या चोली पहिनती हैं; समय समय पर सिर पर अंगोछा बांध लेती हैं और गले में चान्दी की कई किस्म की अनेक सिकड़ियाँ और नाक में छोटी नथ पहनती हैं । बहुतेरी स्त्रियों में विशेष कर पहाड़ के दक्षिण हिस्से की रहने वालियों में कपड़े की सारी पहिनने की चाल है । पंजाबी स्त्रियों के समान ये पर्दे में नहीं रहती । पहाड़ी लोग गाय, बैल, भैंस, घोड़े, भेड़ और बकरे आदि पालते हैं । इन पशुओं को जन्मही से दौड़ने फान्दने को समतल भूमि नहीं मिलती, इससे सब का स्वभाव शुद्ध होता है परन्तु जिनसे से लड़े हुये भेड़ बकरे तेजी से पांव उठा कर पहाड़ों पर चलते हैं । साधारण भेड़ बकरों पर १० सेर, १२ सेर, किसी किसी पर १५ सेर, किसी पर तो २० सेर जिनसे लादा जाता है । पहाड़ी दुल्हों के चढ़ने को झम्पान ही के समान पालकी होती है । मोलचौरी से दक्षिण के पर्वतीय मनुष्यों की चाल कुछ बदली है । इधर कम्बल के कपड़े पहिने हुये कोई नहीं देख पड़ते ।

पहाड़—लक्ष्मण झूला से काटगोदाम के पास रानीवाग तक सर्वत्र पहाड़ मिलता है । दो चार मोल की लान्बी चौड़ी समतल भूमि किसी जगह नहीं देख पड़ती । पर्वत के ऊँचे शिखर पर चढ़ने से ढेरियों के समान चारो ओर छोटी बड़ी हिमालय की चोटियाँ देख पड़ती हैं । केदारनाथ और बदरीनाथ ऊँचे पहाड़ पर हैं । वहाँ से भी चारो ओर के ऊँचे ऊँचे शिखर दिखलाई देते हैं । रुद्रप्रयाग से केदारनाथ तक और केदारनाथ से लौटने पर चमोली तक, तथा गुलाव कोटि से बदरीनाथ तक छोटे बड़े गुफे और बड़े बड़े पत्थरों के ढोंके देख पड़ते हैं । किसी किसी गुफे में दोही एक आदमी और किसी में पचीसों आदमी वर्षा के पानी से बच सकते हैं । विरही और अलकनन्दा के संगम से कर्णप्रयाग तक अलकनन्दा के किनारों के पहाड़ों में पत्थर के गोलाकार टुकड़े और मिट्टी बहुत है । चमोली से कर्णप्रयाग तक कई जगह हवा से किनारे के पर्वत के हिस्से गिरे हुए और गिरते हुए देख पड़े । नदियों में जगह जगह नील, पीत, शुक्ल, रक्त; हरित, सबही रंग के पत्थर के टुकड़े पड़े, पर शुद्ध रंगकले कामिल नहीं हैं ।

जंगल - पहाड़ी जंगल के चीड़, रामूला (जो चीड़ से भी ऊँचे हैं) तून, सिरिस, सीसो, गहड़, हल्दु, गेहूँ, सानन, धवड़ा, साल, कंढार, जामुन, आदि वृक्षों की लकड़ियाँ मकानों के काम में आती हैं। चीड़ और रामूल को पेड़ बहुत ऊँचे और सीधे ताड़ के समान होते हैं। पीपल, वट, आम, गूलर, सहिजन, कचनार, निम्ब, अखरोट हड़ा, तेजवल पद्म काठ, करौना को वृक्ष भी कहीं-कहीं मिलते हैं। मन्दाकिनी नदी के दोनों किनारे पहाड़ी पौधों की झाड़ियों से हरे भरे हैं। वृक्षों पर तरह-तरह के पौधों और फूलों के बेल विचित्र तरह से लपटे हैं। जंगल का मनोहर दृश्य देख कर मनुष्य चकित होजाते हैं कर्णप्रयाग से इधर रानीवाग तक जगह जगह पर हरित और घने जंगल हैं। मन्दाकिनी के किनारे पर और चमोली से उत्तर आम के वृक्ष नहीं देख पड़े। जंगलीवृक्षों में कायफल, महोल और तोतल आदि कई वृक्षों में खाने के योग्य मीठे फल होते हैं, पर ये ऐसे फल नहीं हैं कि इनको मनुष्य खाकर सन्तुष्ट होजाय। पर्वती और जंगली वृक्ष अगर आम, कटहल, अमरूत, महुये आदि फल वाले वृक्षों के समान फल देते, तो हिन्दुस्तान के लोगों के अहार का यह एक बड़ा वसीला होजाता। जंगल में बुरांश, गुलचीनी आदि बहुत फूल फुलते हैं पर इनमें सुगन्ध नहीं होता। अवश्य करना अर्थात् करौने का जंगल जहाँ है वहाँ समय समय बड़ा सुगन्ध फैलता है। बदरीनाथ और केदारनाथ के अतिरिक्त सर्वत्र लकड़ी सस्ती है। भागीरथी के किनारे पर जंगल में सूखी लकड़ी बहुत मिलती है। पहाड़ी लोग जब चाहते हैं पर्वत के जंगलों में आग लगा देते हैं। कई दिनों तक वह जला करता है। रात को दूर से देखने में अच्छा मालूम पड़ता है। आग लगने से जगह साफ होजाती है या पुराने सूखे हुये वृक्ष जल कर नये हरित वृक्ष उत्पन्न होते हैं। कमांऊँ जिले के रानी खेत और नैनीताल के आसपास के जंगल में बनडादा लगाने की रोक़ावट है। कण्डाली नामक एक किस्म का पौधा जंगल में और जगह जगह सड़कों के पास होता है, जिसके छू जाने से बिच्छू काटने के समान एक दिन तक आदमी के शरीर में छन छनाहट रहती है।

नदी—पहाड़ी नदियों का पानी घाटियों की पत्थरैली भूमि पर बेग से गिरता है । ऊँचे पर्वत के बीच में संकीर्ण प्रवाह से नदी बहती है । हरिद्वार से कादगोदाम के पास रानीबाग तक नदियों में किसी जगह नाव नहीं चलती है और न पुलों के नीचे नदियों के बीच में पाये बने हैं । सर्वत्र दोनों किनारों पर पाया बनाकर लोहा या रस्से और लकड़ी के लटकाऊं पुल, जिनको झूला कहते हैं बने हैं, छोटी नदियों पर इस किनारे से उस किनारे तक लकड़ी के शहतीर डाल कर लकड़ी के पुल बने हैं । थोड़ा पानी में हल कर भी कोई नदी के पार नहीं जा सकता । यात्रियों के जाने वाली सड़क के पास की नदियों पर काठ और लोहे के लटकाऊं पुल बनाये गये हैं । बस्ती वालों ने किसी किसी जगह अपनी बस्ती के पास नदी उतरने के लिये लकड़ी और रस्सों से झूल बनाये हैं । छोटी नदियों में बड़े झरने के समान पानी की धार, जो वर्षा काल में चौड़ी होजाती है, देखने में आती है । अनेक स्थानों में बड़े बड़े ढोकों पर नदियों का पानी ठोकर खाकर आगे जाता है । वर्ष मय पहाड़ों के पास का पानी भट्टा के समान श्वेत और दूसरी जगहों का हरित देख पड़ता है ।

झरना—वर्षा का पानी पहाड़ के दरारों में या किसी निम्न जगह में रुक कर पहाड़ के भीतर से या उसके ऊपर से निकल कर किसी नदी अथवा घाटी में गिरता है । जान नहीं पड़ता कि किस रास्ते से पानी आता है । दिन रात एक तरह से पानी गिरा करता है । किसी जगह सींक के समान पतली और किसी जगह मनुष्य के बहा ले जाने के योग्य झरने की मोटी धार गिरती है । झरने ही के पानी से नदी बन जातो है ।

पहाड़ सड़क—प्रायः सब सड़क अंगरेजी राज्य में नदी अथवा पहाड़ की घाटी के किनारे हैं । किसी जगह नदी के पानी से बहुत ऊपर और किसी जगह थोड़ेही ऊपर दो फीट से दस बारह फीट तक चौड़ी चढ़ाई उतराई की सड़क बनी है । सड़कों के एक ओर पहाड़ और दूसरी ओर नीचे नदी का पानी या घाटी है । बीच में पर्वत के कमर पर सड़क निकाली गई है । जिस जगह केवल पत्थर का पहाड़ है उस जगह की सड़क संकरी होती

है। यात्रियों को गिरने का भय नहीं है; केवल चढ़ाई उतराई का लेशही है। रुद्रप्रयाग से केदारनाथ तक और केदारनाथ से बदरीनाथ तक अधिकांश स्थलों की सड़क ठोकर वाली है। सर्वत की सड़क बाएँ दहिने चौरस और आगे पीछे नीची ऊँची है। बिजनी, त्रियुगी नारायण, केदारनाथ, तुंगनाथ आदि जगहों की चढ़ाई कठिन है। पहाड़ी वस्तियों की पगडण्डी शहें पर्वत के शिरो भाग से नीचे की ओर बनी हैं। सुगमराह और उत्तराई की सड़क पर एकघंटे में करीब $1\frac{1}{2}$ मील और कड़ी चढ़ाई की सड़क पर एक घंटे में $1\frac{1}{4}$ मील के हिसाब से यात्री लोग चलते हैं।

चट्टी और वस्ती—पहाड़ में लम्बे चौड़े और सीधे छप्पर वाले मकान होते हैं। यहां पत्थर और लकड़ी के लिये बहुत खरच करना या इनको दूर से ले आना नहीं पड़ता। चौड़ आदि कई तरहके वृक्ष गूढ़ी हुई लारही के समान सीधे होते हैं। पहाड़ी लोग पत्थर के शुद्ध दिवार बना कर दोनों पालाओं पर लारही के समान दश बारह लकड़ी देकर तख्तों से पाटते हैं और तख्तों के ऊपर पट्टियों से या पहाड़ी खर से छा लेते हैं पट्टिया तो १ हाथ या इससे कम वैसी लम्बी तथा चौड़ी और एक अंगुल मोटी होती है। सरकारी धर्मशाले आदि कितने मकान केवल लरही के समान लकड़ियों से पाटकर छाए गए हैं। चट्टियों के कितने मकान दश बारह हाथ चौड़े और बड़े बड़े लम्बे और कितने दो मंजिले हैं। वस्तियों के छोटे बड़े मकान भी इसी तरह से बनते हैं। इनके अतिरिक्त बनलकड़ी की ढाल पात और नरकट तथा टिंगाल पर खर से भी मकान छाए जाते हैं और पत्थर के अनगढ़े टुकड़ों से भी दिवार बनाई जाती है। छोटी छोटी कई चट्टियों पर जंगली लकड़ी के खंभे और ढाल पात और खरे से बने हुए मकान बने हैं प्रायः सब पहाड़ी मकानों में आंगन नहीं होता, क्योंकि वे पहाड़ के कमर पर बनते हैं। साधारण खरचे से इस देश के मकान बंगलों के समान हो जाते हैं। पहाड़ पर जिस वस्ती में ३० या ४० कमान हैं, वह बड़ी वस्ती कहलाती है। पहाड़ों के कमर पर और उनके ऊपर जगह जगह २-४-१०-१५ घर की

वस्तियां देख पड़ती हैं। पहले कई चट्टियों पर अहल्याबाई की धर्मशालायें थीं। अब बड़ी बड़ी प्रायः सब चट्टियों पर सरकार अंगरेज ने एक एक धर्मशाला बनवा दिया है।

जिन्स—आटा, नया और मोटा चावल, उड़द की दाल, निमक, घी, चने का चवैना और गुड़ सब चट्टियों पर; महीन और पुराना चावल अरहर, मसूर और मूँग की दाल और तम्बाकू बहुतेरी चट्टियों पर; चने की दाल, वेसन, पूरी, पेड़ें, गरी, छोहाड़ा, बादाम, किसमिश, सौंफ आदि मसालें, चीनी, तेल, दूध त्रिरले चट्टियों पर; आलू, कच्चे केले, कोंहड़ा, पिंडालू (अरुई) अदवरी किसी किसी चट्टी पर; कोटू, कांदल्या, लिंगड़े और मरसे के साग ऊंचे पहाड़ों के किसी किसी चट्टी पर; आम नीचे के पहाड़ों पर; कपड़े वरतन, कागज, पेन्सिल दियासलाई आदि देवप्रयाग, श्रीनगर, रुद्र-प्रयाग, ऊखीमठ, चमोली, पीपलकोटी कुम्हारचट्टी जोशीमठ बदरीनाथ नन्द-प्रयाग और कर्णप्रयाग में; और नास्पाती, आडू, अनार, धोवीघाट चट्टी से नीचे मिलते हैं।

सूचना - केदारनाथ और बदरीनाथ के मार्ग पहले से अब बहुत सुगम होगये हैं प्रति दिन सैकड़ों आदमी स्त्री, पुरुष, बूढ़े, जवान, लड़के और लड़कियां झम्पान और कण्डियों में तथा पैदल जाती हैं। ६ मास के लड़के भी अपनी मा की गोदी में झम्पान पर और दो चार वर्ष के लड़के और लड़कियां कण्डियों में और कूलियों के कन्धे पर जाते हुए देख पड़ते हैं। झम्पान और कण्डी का भाड़ा हरिद्वार और हृषीकेश में होता है। इनके अतिरिक्त रास्ते में किसी जगह झम्पान और बहुतेरी जगह कण्डी मिल जाती हैं। जो आदमी रास्ते में थक जाता है, अथवा बीमार पड़ जाता है, वह रास्ते में कंडी का भाड़ा करके उस पर चढ़ लेता है; पर मोटे ताजे आदमी को कण्डी नहीं मिलती। पर्वत में रहने वाली स्त्री झम्पान पर पर्वत लगा सकती हैं। एक या कई आदमी मिलकर कण्डी का भाड़ा करके उसमें अपना असबाब लेजाते हैं। मिलचौरो से उत्तर सवारी के लिये टट्टू मिलते हैं। श्रीनगर में धोवी और देवप्रयाग और श्रीनगर में नाई मिलते हैं। जो आदमी मोदी का जिन्स

लेता है उसको वह टिकने का मकान और यथा साध्य वस्त्रन बेता है । सब घट्टियों पर और सब मोदियों की दुकानों में एक बोली एक दर से जिनस टिकती है । केदारनाथ जाने वाला यात्री नाला चट्टी से आगे और बदरी-नाथ जाने वाला चमोली से आगे किसी चट्टी पर किसी दुकानदार के पास अपने जरूरी काम से अधिक असबाब रख देते और लौटने पर ले लेते हैं । पहाड़ में पान नहीं होता और अच्छी तम्बाकू नहीं मिलती । सब घट्टियों पर भाजी नहीं विकती । तेल कम होता है और किसी किसी जगह बहुत महंगा मिलता है । यात्री लोग लकड़ी जलाकर अथवा घी से रोशनी करलेते हैं । रास्ते में कई जगह चमार जूते बेचते हैं । थोड़ी थोड़ी दूर पर चट्टी बनी हैं, जिनमें टिकने का सुवीता है । श्रीनगर आदि बड़ी बड़ी चट्टियों की दुकानों पर नोट विक जाते हैं । राजा महाराजों को जिनके साथ बहुत छोम हों ननीताल में साहेब कमिश्नर बहादुर के पास अथवा पौड़ी में डिपुटीकमिश्नर के पास दरखास्त करने से रसद आदि की पूरी मदद मिल सकती है । रास्ते में किसी जगह हिंसक जन्तु का भय नहीं है । रुद्रप्रयाग से आगे केदारनाथ के रास्ते में और उखीमठ से आगे बदरीनाथ की ओर एक प्रकार की बकखो आदमी को काटती है । काटने के समय जान नहीं पड़ता; परन्तु पीछे घाव होकर बहुत दिनों तक खजुलाता और धकता जाता है । कर्णप्रयाग और मीलचौरी के बीच की आवहवा खराब है । इस देश में झरनों का पानी बहुत मीठा और स्वास्थ कर है । हरिद्वार से काठगोदाम तक अंगरेजी सरकार ने जगह जगह डाक खाना, शफाखाना और पुखीस की चौकी नियत कर दी है । अधिकांश यात्री प्रति दिन सबेरे चार पांच बजे उठते हैं और ग्यारह बारह बजे चट्टी पर टिक जाते हैं । कुछ लोग खा पीकर शाम को भी थोड़ा चलते हैं । हरिद्वार से चलकर ४१७ मील काठगोदाम के रेलवे स्टेशन पर चालीस पैंतालीस दिन में आराम से आदमी पहुंच जाते हैं । जब तक केदारनाथ और बदरीनाथ के पट खुले रहते हैं, तब तक यात्रा जारी रहती है; परन्तु श्रावण तक यात्रियों की भीड़ भाड़ बहुत रहती है । वर्षा काल में पर्वत, नदी और जंगल

अधिक रस्य और मनोहर होजाते हैं । केदारनाथ और बदरीनाथ के पहाड़ों पर वैशाख और जेठ में भी वरफ जमा रहता है । वरसात में वरफ गल जाने पर बहुतेरी जगहों में सुन्दर पौधे निकल आते हैं । अब यात्रियों को इस मार्ग में दो बात का क्लेश रहगया है जिन से वे लोग घबड़ा कर पहाड़ से जल्दी बाहर होने की इच्छा करते हैं । एक तो पहाड़ की चढ़ाई उतराई और दूसरी जगहों की संकीर्णता परन्तु ये दोनों काम असाध्य हैं । आटा हृषीकेश में डेढ़ आने सेर, बदरीनाथ में ४ आने सेर और केदारनाथ में ६ आने सेर विकता है ।

केदारनाथ और बदरीनाथ, की यात्रा में हरिद्वार से काठ गोदाम तक नीचे लिखे हुए क्रमसे चट्टियां मिलती हैं ।

(१) हरिद्वार से उत्तर धोड़ा पूर्व रुद्रप्रयाग तक, हरिद्वार से फासिला—	४१ ^१ कण्ठी की बड़ीचट्टी ।
बील, चट्टियोंका नाम ।	४५ ^१ व्यासचट्टी ।
६ सत्यनारायण ।	४८ ^१ छालूरी चट्टी ।
१२ हृषी केश ।	५० ^१ उमरामूचट्टी ।
१४ लक्ष्मणझूला ।	५४ ^१ वैवमयाग ।
१७ ^१ फुलवाड़ीचट्टी ।	६२ रानीबागचट्टी ।
१९ ^१ सैमलचट्टी ।	६४ ^१ रामपुरचट्टी ।
२० ^१ गूलरचट्टी ।	६७ ^१ भगवानचट्टी ।
२२ ^१ मोहनचट्टी ।	७२ ^१ श्रीनगर ।
२५ ^१ विजनीचट्टी ।	८१ ^१ भठीमेराचट्टी ।
२८ ^१ कुण्डचट्टी ।	८२ ^१ छान्तीखालचट्टी ।
३१ ^१ वन्दरचट्टी ।	८४ ^१ खांकराचट्टी ।
३४ ^१ महादेवचट्टी ।	८७ ^१ नरकोटाचट्टी ।
३८ ^१ सैमालोचट्टी ।	९० गुलावरायचट्टी ।
४० ^१ कण्ठी की छोटीचट्टी ।	९१ ^१ रुद्रप्रयाग ।
	(२) रुद्रप्रयाग से उत्तर कुछ पूर्व केदार-

नाथ तक रुद्रप्रयाग से फासिला ।
 मील, चट्टीयों का नाम—
 ४१ छितौली वा तिलवड़ा ।
 ७ रामपुरचट्टी ।
 १०१ अगस्तचट्टी ।
 १३१ महादेवचट्टी वा सौंड़ीचट्टी ।
 १५ चन्द्रापुरीचट्टी ।
 १८ भीरीचट्टी ।
 २११ कुण्डचट्टी ।
 २४ गुप्तकाशी ।
 २४१ नालागांव ।
 २६ भीतगांव ।
 २७१ व्युंगगढ़चट्टी ।
 ३१ फट्टाचट्टी ।
 ३४ शेरसीचट्टी ।
 ३५१ रामपुरचट्टी ।
 ४०१ त्रिगुमी नारायण ।
 ४३ सोनप्रयाग ।
 ४६ गौरीकुण्ड ।
 ५०१ रामवाड़ाचट्टी ।
 ५५ केदारनाथ ।
 (३) केदारनाथ से दक्षिण थोड़ा पूर्व
 चमोली तक केदारनाथ से फासिला
 मील, चट्टीयों का नाम ।
 २५१ केदारनाथ से नालागांव चट्टी
 पूरे कथनानुसार सोनप्रयाग से सीधा
 रास्ता त्रिगुमी नारायण छोड़कर ।

२८१ ऊखीमठ ।
 ३१ गणेशचट्टी ।
 ३२१ दुर्गाचट्टी बड़ी ।
 ३३१ दुर्गाचट्टी छोटी ।
 ३५१ पाथीनासाचट्टी ।
 ३७१ कुन्दनचट्टी ।
 ३८१ चौपत्ताचट्टी ।
 ४४ तुंगनाथ होकर भीमचट्टी ।
 ४५ जंगलचट्टी ।
 ४५१ पांगरचट्टी ।
 ४९ मण्डलचट्टी ।
 ५३१ बोरभद्रचट्टी ।
 ५५ गोपेश्वर ।
 ५७ चमोली ।
 (४) चमोली से उत्तर की ओर बदरीनाथ
 तक चमोली से फासिला—
 मील, चट्टीयों का नाम ।
 २१ मठचट्टी ।
 ४ बालानी चट्टी ।
 ७ हाटचट्टी ।
 ९ पीपल कोटी ।
 १३ गरुड़गंगा चट्टी ।
 १४१ देवदारु चट्टी ।
 १६१ पीतालगंगा ।
 १८१ गुलाबकोठी ।
 २० कुमार चट्टी छोटी ।
 २०१ कुमार चट्टी बड़ी ।

२३ पैनीचट्टी ।

२६ छोटीचट्टी ।

२७ जोसीमठ ।

२८ विष्णुप्रयाग ।

३३ घाटचट्टी ।

३५ पाण्डुकेडवर ।

३७ लाभवगढचट्टी ।

४१ हनुमानचट्टी ।

४५ वदरीनाथ ।

(५) लवटती वदरीनाथ से दक्षिण थोड़ा पश्चिम कर्णप्रयागतक, वदरीनाथ से फासिला—

मील, चट्टीयों का नाम ।

४४ चमोली पूर्व कथनानुसार जोसी मठ छोड़ कर विष्णुप्रयाग और छोटी चट्टी होकर ।

४६ कुबेलचट्टी ।

४८ छोटी चट्टी ।

५१ नन्दप्रयाग ।

५४ सुरला चट्टी ।

५७ टिंगासू चट्टी ।

६३ कर्णप्रयाग ।

(६) कर्णप्रयाग से पश्चिम रुद्रप्रयाग तक कर्णप्रयाग से फासिला—

मील, चट्टीयों का नाम ।

५ चटवा पीपल चट्टी ।

१० वगडासू ।

१३ शिवानन्दी ।

२१ रुद्रप्रयाग ।

रुद्रप्रयाग से पूर्व कथनानुसार हरिद्वार ९१ मील पर है। हरिद्वार होकर अपने घर जाने वाले यात्री कर्णप्रयाग से रुद्रप्रयाग होकर जाते हैं ।

(७) कर्णप्रयाग से दक्षिण-पूर्व काठगोदास रेलवे स्टेशन तक कर्णप्रयाग से फासिला मील चट्टियों का नाम !

३९ सेमलचट्टी ।

६ सिरौलीचट्टी ।

७॥ वटोलीचट्टी ।

११ आदिवदरी ।

१६ जोकापानीचट्टी ।

१९ कालीमाटी चट्टी ।

२० सिंहकोटीचट्टी ।

२१ गोहरचट्टी ।

२३ धोवीघाट ।

२६ छोटीचट्टी ।

२९ मीलचौरी ।

३१ सिमालखेतचट्टी ।

३२ नारायणचट्टी ।

३५ वृषभूचट्टी ।

३६ छोटीचट्टी ।

३७ चौखुटिया या गनाई ।

४१ महाकालचट्टी ।

४२ शाहपुरचट्टी ।

४३½ धराटचट्टी ।
 ४६ अमीरचट्टी ।
 ४७½ द्वारहाट ।
 ६१½ मनरगों की झूकान ।
 ६२½ वगवालीपोखर ।
 ६३½ वांसुरी सेरा ।
 ६६ मलयनदी चट्टी ।
 ६७ रेवनीगांव चट्टी ।
 ६८½ मजखलीचट्टी ।
 ६९½ मजखली-धर्मशाला ।
 ६८½ सीताचट्टी या जंगलचट्टी ।
 ७४ कांकरी घाट चट्टी ।
 ७५½ पहड़िया चट्टी ।
 ७८ चमड़िया चट्टी ।
 ८०½ तैरना ।
 ८१ गरमपानो चट्टी ।
 ८२½ रामगढ़ चट्टी ।
 ८४½ एकचट्टी ।
 ८७½ कैचीचट्टी ।
 ८९½ निंगलाटचट्टी ।
 ९२½ भिमौली चट्टी ।
 ९३½ परसवली चट्टी ।
 ९६½ भीमताल ।
 १०१½ नवचण्डी चट्टी ।

१०२½ रानीवाग ।
 १०४½ काठगोदाम ।
 हरिद्वार से काठगोदाम तक का जोड़
 मील वृत्तान्त
 ९१½ हरिद्वार से उत्तर थोड़ा पूर्व
 रुद्रप्रयाग ।
 ६६ रुद्रप्रयाग से उत्तर कुछ पूर्व
 कैदारनाथ ।
 ६७ कैदारनाथ से दक्षिण थोड़ा पूर्व
 चमोली ।
 ४६½ चमोली से उत्तरकी ओर बदरीनाथ
 ६३½ बदरीनाथ से दक्षिण की ओर
 कर्णप्रयाग ।
 ३१२½ जोड़ कर्णप्रयाग तक ।
 १०४½ कर्णप्रयाग से दक्षिण-पूर्व काठ-
 गोदाम ।
 ४१७ जोड़ काठगोदाम तक
 हरिद्वार से कैदारनाथ और बदरी-
 नाथ होकर हरिद्वार लौटने का मार्ग ।
 मील वृत्तान्त
 ३१२½ हरिद्वार से कर्णप्रयाग तक पूर्व
 लेख के अनुसार ।
 २१ कर्णप्रयाग से रुद्रप्रयाग ।
 ९१½ रुद्रप्रयाग से हरिद्वार ।
 ४२६½ संपूर्ण जोड़ ।

पहाड़ी यात्रा आरंभ—वैशाख शुक्ल तृतीया (सन्वत् १९६३—सन्
 १८९६ ई०) को मैंने हरिद्वार छोड़ा । हरिद्वार की हरिपैरी से १ मील उत्तर
 गंगा के दहिने किनारे पर भीमगोड़ा नामक स्थान है । यहां पहाड़ी के नीचे भीम-

कुण्ड नामक आठपहला पक्का एक कुण्ड है, जिसके पास भीमेश्वर शिवलिंग और पहाड़ी के कमर पर एक छोटे मन्दिर में भीम, गंगा और भगीरथ की मूर्ति हैं । उससे आगे जगह जगह कतरा मूँज लगी हुई जमीन, जगहजगह बड़े बड़े वृक्षों का घना जंगल और स्थानस्थान पर दीपक के टीले देख पड़े । गरना(करौन्धा)आदि वृक्षों के फूलों की सुगन्धी से मन प्रसन्न होगया । हरिद्वार से २ मील आगे गंगा छूट जाती है । ३ मील आगे मोतीचूर नदी में ठेहुन से नीचे जल बहता है । ४॥ मील आगे रावलगांव के पास पूरी मिठाई और मोदियों की कई दुकानें हैं । ५१ मील आगे सुसूआ नदी में ठेहुन से नीचे जल लांघना होता है, पर वर्षा काल में इस नदी की धारा बड़ी तेज और इसकी चौड़ाई भी बहुत होजाती है । उसी समय किराये के हाथी पर चढ़ कर या तुमड़ियों के बैड़े पर लोग पार होते हैं । हरिद्वार से ६ मील आगे सत्यनारायण का नया मंदिर है ।

सत्यनारायण का मन्दिर—यहां एक छोटे मन्दिर में सत्यनारायण, लक्ष्मी और महावीर की मूर्ति २ दलान और ४ कोठारियों की एकधर्मशाला कई छपरों की बस्ती; उत्तम पानी का एक कुआं और मोदियों की कई दुकानें हैं ।

सत्यनारायण के पासही उत्तर सौक नदी पर काठ का पुल बना है । वर्षा काल में तुम्हे का वेड़ा या हाथी पर लोग पार उतरते हैं । उस से आगे १ मील के भीतर दो जगह इसी नदी के दो नाले, जिनमें ठेहुन से नीचे पानी बहता है और उससे आगे जगहजगह गेहूँ का खेत और जगहजगह जंगल में वनडाढ़ा लगा हुआ, जिसको जंगल साफ करने के लिये लोग लगाए थे, देख पड़े सत्यनारायण से २१ मील पर एक कूप ३१ मील पर बहुत छोटा नाला ५ मील पर पथरूवा नदी, जिसमें ठेहुने से नीचे जल है; ५१ मील पर गंगा और सत्यनारायण से ५ मील (हरिद्वार से १२ मील) आगे देहरा दून के जिले में हृषीकेश हैं ।

हृषीकेश—हृषीकेश में गंगा के दहिने किनारे पर रामजानकी का मन्दिर है । मन्दिर के आगे गंगा की ओर कुब्जावर नामक एक पक्का कुण्ड है । हरिना

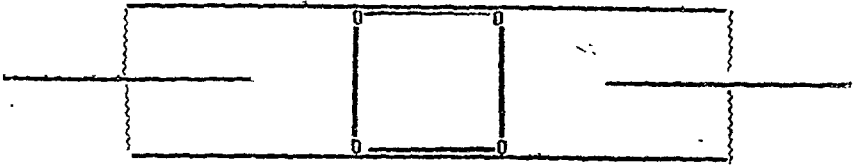
का पानी कुण्ड में होकर गंगा में जाता है । मन्दिर से थोड़ी दूर पर वाराहजी का छोटा मन्दिर और एक दूसरा शिखरदार मन्दिर है । इनके अतिरिक्त हृषीकेश में कई छोटे छोटे मन्दिर हैं ।

भरतजी का शिखरदार मन्दिर हृषीकेश के मन्दिरों में प्रधान है, यह हृषीकेश के उत्तर भाग में पूर्व मुख से स्थित है, मन्दिर दो डेवड़ी का है । भीतर के डेवड़ी में स्यामल चतुर्भुज शंख, चक्र, गदा, पद्म लिए हुए शरीर पर सुन्दर वस्त्र, सिर पर मुकुट धारण किए हुए भरतजी खड़े हैं । मन्दिर के आगे जगमोहन और चारो ओर दीवार और कुछ मकान हैं । मन्दिर प्राचीन है । लोग कहते हैं कि भरतजी मूर्ति को (सन् ई० के ९ वीं शदी में) शंकराचार्य ने स्थापित किया । ५०—६० वर्ष पहिले यहां भरतजी के मन्दिर के अतिरिक्त कोई पक्का मकान न था, केवल विरक्तों का निवास था ।

हृषीकेश में जगाद्री वाले की, नजीबाबाद वाले की, कलकत्ते वालों की और अन्य कई धर्मशालाएं और सदावर्त हैं । गंगा के किनारे सन्यासी, वैरागी, आदि साधु कुट्टी बना कर बसे हैं । कलकत्ते वालों की धर्मशाले में रोटी दाल नित्य साधुओं को दी जाती है (पराशरस्मृति के पहले अध्याय में लिखा है कि यति और ब्रह्मचारी दोनों पक्के अन्न के अधिकारी हैं,) ऋषीकेश से दक्षिण कई मीलों पर्यन्त और उत्तर शत्रुघ्नजी के मन्दिर तक लग भग १०० कोड़ी मढ़ी बांध कर बसे हैं और यात्रियों से पैसा भांगते हैं । ऋषीकेश में ढाकघर और पुलिस की चौकी है । बाजार में खाने का सब सामान तय्यार रहता है और वहां से पहाड़ में जाता है । हरिद्वार से यहां तक बराबर जमीन है, और एक्के और वैलगाड़ी आती हैं । हरिद्वार के समान यहां भी शम्पान और कण्डीवाले कूली मुकरर होते हैं ।

पहाड़ी सवारी—झम्पान, वरैलीदण्डी, दरीदण्डी और कण्डी पहाड़ी सवारी हैं ।

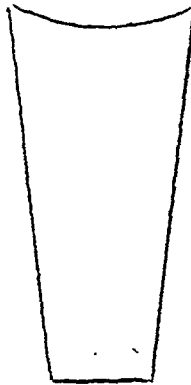
झम्पान ।



दरीदण्डी ।



कण्डी ।



झम्पान, जिसमें एक आदमी पलथी मारकर आराम से बैठता है एक डलटी हुई मचिया के समान, जिसकी पाटी २ फीट लंबी होती है, इसके दोनों वगलों में $८\frac{१}{२}$ फीट लम्बे दो बांस बान्धे जाते हैं इनके छोरों पर दोनों तरफ और रस्सियों से ढोले बान्धे रहते हैं। रस्सियों के बीच में एक झंपान के आगे और एक पीछे चार चार फीट लम्बी दो लकड़ियां या बांस लगा कर ४ कुली अपने कन्धों पर उठाकर लेचलते हैं । पर्वों में रहने वाली स्त्रियाँ झम्पान के ऊपर बांस की बत्तियों बान्ध कर पर्वों लगासक्ती है । हृषीकेश अथवा हरिद्वार से मील चौरी तक झम्पान और कण्डी का किराया तै होता है क्योंकि झम्पान या कण्डी के कुली उससे आगे नहीं जाते हैं । मीलचौरी में दूसरे झम्पान का किराया किया जाता है झम्पान का किराया हृषीकेश से मीलचौरी तक का साधारण आदमी के लिये ७०) रुपये से ८०) रुपये तक और मोटे आदमी के लिये इस से दस बीस रुपया अधिक लगता है इसके अतिरिक्त जगह जगह रास्ते में करीब १०) रुपये झम्पान के कुलियों को मामूली इनाम देना पड़ता है मैं १००) रुपये पर हृषी केश में एक झम्पान किराये पर किया ।

वरैलीदण्डी झम्पान की तरह की होती है । वह बड़े आराम की सवारी उस पर कुर्सी के समान पैर लटका कर बैठने की जगह रहती है; उसके लिये कुछ चौड़ी सड़क की जरूरत है इससे वह इस मार्ग में मील चौरी से इधर नहीं चलती है ।

दरीदण्डी एक बांस या लकड़ी के दोनों छोरों के पास एक छोटी दरी बान्ध दी जाती है । उसी पर झूले की तरह एक वगल में पैर लटका कर यात्री बैठता है । दोनों ओर दो कुली लगते हैं । दरीदण्डी में कोई विरलही चढ़ता है ।

कण्डी एक गोली गहरी गावदुम टोकड़ी है । उसको एक कूली अपने पीठ पर खुले हुए मुह को ऊपर करके उसमें रस्सियां बान्ध कर कन्धे में लगाता है और उसमें नीचे कपड़े आदि भर देता है, जिस से बैठने वाला आराम से बैठजाय पाँव लटकाने के लिये एक ओर से उसका किनारा कटा होता है इसमें बूढ़े लड़के या गरीब स्त्रियां बहुधा चढ़ती हैं । धनी लोग असवाब लेजाने के लिये कण्डी किराये करते हैं । कण्डो का किराया हृषीकेश

या हरिद्वार से मीलचौरी तक का एकमन असबाब लेजाने के लिये करीब २५) रुपया और सवारी के लिये लगभग ३६) रुपया लगता है ।

संक्षिप्त प्राचीन कथा—स्कंद पुराण (केदार खंड, दूसरा भाग १६ वां अध्याय) । विष्णु भगवान ने १७ वें मन्वन्तर में मधु और कैटभ दोनों दैत्यों को मार कर उनकी मेढ़ से पृथ्वी को बनाया । उसके उपरांत वे पृथ्वी तल के सैकड़ों क्षेत्रों में भ्रमण करते हुए गंगाद्वार में गए । वहां बड़े तेजस्वी रैभ्य मुनि बहुत काल से तप कर रहे थे । विष्णुभगवान ने आश्र वृक्ष में प्राप्त होकर रैभ्य मुनि को, जो कुब्ज अर्थात् कुबड़े हो गए थे, दर्शन दिया । मुनि भगवान को देख कर बार बार वंदवत करके स्तुति करने लगा । भगवान बोले कि हे मुनीश्वर, मैं प्रसन्न हूं तुम इच्छित वर मांगो । मुनि बोले कि हे भगवान ! यदि आप प्रसन्न हैं तो आप इस स्थल पर नित्य निवास करो । सदा तुम्हारे और हमारे नाम से यह स्थान प्रसिद्ध रहे । भगवान ने कहा कि ऐसाही होगा । कुब्ज रूप तुम ने आश्र वृक्ष में प्राप्त मुझ को देखा इस कारण से इस स्थान का कुब्जाश्रक नाम होगा । इस तीर्थ में स्नान दान, जप आदि करने वालों मनुष्यों को कोटि कोटि फल लाभ होगा । जो यहां निवास करेगा उसको परम धाम प्राप्त होगा । यहां विंदु मात्र जल देने से पितरों का उद्धार हो जावेगा । मैं लक्ष्मी के सहित इस तीर्थ में सदा निवास करूंगा । हृषीक अर्थात् इंद्रियों को जीत कर तुम ने मेरे दर्शन के लिये तप किया अथवा मैं, जो हृषीकेश हूं, यहां प्राप्त हुआ इस कारण से इस तीर्थ का दूसरा नाम हृषीकेश होगा । त्रेतायुग में राजा दशरथ के पुत्र भरत, जो हमारे चतुर्थांश भाग हैं, हमको यहां स्थापित करेंगे । वही मूर्ति कलियुग में भरत नाम से प्रसिद्ध होगी । जो प्राणी सतयुग में वाराह रूप से, त्रेता में कार्त्यवीर्य रूप से, द्वापर में वामन रूप से और कलियुग में भरत रूप से स्थित मुझको यहां नमस्कार करेगा उसको निःसंदेह मुक्ति मिलेगी । ऐसा कह विष्णु भगवान अन्तरध्यान हो गए । (१७ वां अध्याय) सुन्दरी से लेकर हेमवती नदी तक कुब्जाश्रक क्षेत्र है ।

(यह कथा वाराह पुराण के १२२ वें अध्याय में है; किन्तु उसमें लिखा

है कि विष्णु भगवान ने रैभ्य मुनि के निकट के आम्र वृक्ष पर बैठ कर उनको दर्शन दिया । भगवान के भार से वह वृक्ष नम्र होकर कुबड़ा होगया इस कारण से उस तीर्थ का नाम कुब्जाग्रक करके प्रसिद्ध होगया ।

वामनपुराण—(७९ अध्याय) प्रह्लादजी कुब्जाग्रक तीर्थ में गए । वह उस पवित्र तीर्थ में स्नान और हृषीकेश भगवान की पूजा करके वहां से घदरीकाश्रम चले गए ।

कूर्मपुराण—(उपरि भाग ३४ वां अध्याय) कुब्जाग्रक नामक विष्णु का एक तीर्थ है । वहां विष्णु की पूजा करने से श्वेत द्वीप में निवास होता है जिस समय भगवान शंकर ने दक्षप्रजापति का यज्ञ विध्वंस किया उसी समय चारो ओर १ योजन विस्तार का वह क्षेत्र होगया और उसी समय से पुरुषोत्तम भगवान वहां निवास करते हैं ।

नरसिंहपुराण—(६५ वां अध्याय) कुब्जागार में हरि भगवान का नाम हृषीकेश है ।

गंगोली ।

हृषीकेश से उत्तर और पहाड़ी राह से करीब १५६ मील पर गंगोली है । हृषीकेश से देहरा दून होकर करीब ६० मील टिहरी है टिहरी से ४२ मील “ उत्तरकाशी ” टिहरी-राज्य में एक पहाड़ी कसबा है । वहाँ विश्वनाथ, केदारनाथ, भैरव, अन्नपूर्णा, के चार मन्दिर; और पांच छः धर्मशाले; महाराजा इन्दौर और रायसूर्यमल का सदावर्त और मोदियों की दुकानें हैं । उत्तरकाशी से १७ मील पर भटवारी वस्ती में शिवमन्दिर और मोदियों की दुकानें हैं । भटवारी से ३७ मील, अर्थात् टिहरी से ९६ मील और हृषीकेश से १५६ मील उत्तर समुद्र के जल से १४००० फीट से कुछ कम उत्तर गंगोली है, टिहरी से राह गंगा के दहिने किनारे जाती है । गंगोली से कई मील पहले राह गंगा के बाएँ किनारे होगयी है टिहरी से आगे राह सुगम है । यात्रा के दिनों में बीच बीच में भी दुकान बैठजाती हैं । गंगोली में रायसूर्यमल का सदावर्त कई धर्मशाले और मोदियों की दुकानें हैं । वहां ३ मन्दिर हैं जिनमें से एक शिखरदार बड़े मन्दिर में गंगा, यमुना, नरनारायण, कुबेर जी और अन्नपूर्णा; दूसरे में भैरव

और तीसरे में महावीर जो हैं । वहां गोमुख से गंगा की धारा गिरती है, जिस का जल यात्री लोग ले आते हैं । उस स्थान से ११ मील और आगे लग भग ३०० फीट ऊंचे एक बर्फ के ढेर से लग भग २५ फीट चौड़ी और दो तीन फीट गहरी गंगा निकली है और लग भग १५००० मील बहने के पश्चात् १० मील चौड़ी धारा से समुद्र में गिरती है ।

गंगोत्री के बहुतेरे यात्री टिहरी लौट कर वहां से श्री नगर होकर केदारनाथ और बदरीनाथ जाते हैं और बहुतेरे गंगोत्री से कई मील दक्षिण आकर वहां से सीधा पूर्व एक दूसरे राह से केदारनाथ से १५ मील फासिले पर त्रि-युगीनारायण पहुँच कर केदारनाथ जाते हैं; परंतु यह राह पगदण्डी है और राह में सब जगह दुकान नहीं है । श्रीनगर से टिहरी होकर गंगोत्री तक मार्ग अच्छा है । खाने पीने का सामान सर्वत्र मिलता है ।

मानसरोवर ।

गंगोत्री से मुचकुन्द कुण्ड होते हुए साधु लोग मानसरोवर जाते हैं । राह में दुकानें नहीं हैं न किसी वस्ती में दाम देकर खाने का सामान मिलता है । साधु लोग वस्ती में भोजन का सामान मांग कर खा लेते हैं ।

संक्षिप्त प्राचीन कथा महाभारत—(अनुशासन पर्व—२५ वां अध्याय) उत्तर मानस में जाने से मनुष्य पाप से मुक्त होता है ।

कूर्मपुराण—(उपरिभाग, ३६ वां अध्याय) मानसरोवर में स्नान करने से इन्द्र का अर्द्धांश मिलता है ।

—*0*—

दूसरा अध्याय ।

(गढ़वाल जिले में) देवप्रयाग, भिल्लेश्वर,
श्रीनगर, पौड़ी, टिहरी और रुद्रप्रयाग ।

देवप्रयाग ।

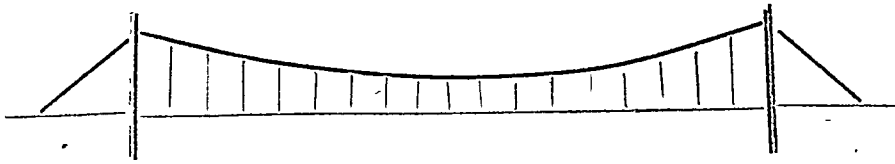
लक्ष्मणझूला—हृषीकेश से १ मील उत्तर गंगा के दहिने किनारे पहाड़ी के

पास मौनी की स्ती में शत्रुघ्न जी का छोटा मन्दिर है । शत्रुघ्न जी की मूर्ति के बाएँ बदरीनारायण की चतुर्भुजी मूर्ति है । वहाँ टिहरी के राजा के कर्म-चारी झम्पान और कंडी के कूलियों से प्रति झम्पान और प्रति कंडी ४) रुपये महसूल लेकर झम्पान के सवार और कूलियों के नाम अपनी वही में लिख लेते हैं ।

शत्रुघ्न जी के मन्दिर से लक्ष्मण जी के मन्दिर तक १ मील सुगम चढ़ाई उतराई की राह गंगा के किनारे किनारे गई है । यहाँ शिखरदार मन्दिर में २ हाथ ऊँची गौराङ्ग लक्ष्मण जी की मूर्ति है । मन्दिर के जगमोहन में एक ओर बदरीनाथ की एक प्राचीन मूर्ति; फर्श के नीचे एक गुम्बजदार मन्दिर में लक्ष्मणेश्वर महादेव और उनकी चारों ओर दश दूसरे शिवलिंग हैं । यहाँ एक छोटी धर्मशाला और चार पाँच दुकानें हैं ।

मन्दिर से करीब १ मील आगे गंगा जी पर लक्ष्मणझूला नामक लोहा का लटकाल पुल है ।

लक्ष्मणझूला ।



गंगा के दोनों किनारों पर पोखते दोदो पाये वने हैं जिन के सिरों पर इस किनारे से उस किनारे तक लोहे के मोटे मोटे कई एक रस्से (वरहे) लगे हैं, जो पुल से बाहर जाकर दोनों ओर नीचे मुख करके जमीन पर खूंटों में बंधे हैं । दोनों ओर के वरहों के नीचे भी इस किनारे से उस किनारे तक लोहे के रस्से हैं । ऊपर और नीचे के रस्सों के बीच में लोहे के खड़े छड़ लगे हैं, जो नीचे के वरहों को थाँभ रखते हैं । नीचे के दोनों ओर के वरहों पर तख्ते पाट कर उस पर सुखी बिछा दी गई है । जिस पर से झम्पान कण्डी, मनुष्य, घोड़े, भेड़ आदि सब पार होते हैं । सम्पूर्ण पुल का बोझ ऊपर वाले रस्सों पर रहता है । यह पुल २२५ फीट लम्बा है इस को ३२०००)

रूपये के खर्च से झुंझुनुवाले राय सूर्यमल ने बनवाया । सन १८९४ ई० में गोहना झील के टूट जाने पर गंगा की बाढ़ से, जब २० फीट से अधिक ऊंचा पानी इस पर होगया था, और यह पुल टूट गया ; परन्तु अब मरम्मत होने के कारण ज्यों का त्यों होगया है । पुल के पास, जहां ध्रुवकुंड गंगा जी में गुप्त है वहां ध्रुव जी की एक प्रतिमा है ।

संक्षिप्त प्राचीन कथा—स्कंद पुराण—(कैदार खंड दूसरा भाग २१ वां अध्याय) कुब्जाम्रक तीर्थ के उत्तर ऋषि पर्वत के निकट गंगा के पश्चिम तट पर मुनियों का तपोवन है । उस स्थान के नीचे के भाग की एक गुहा में शेष जी स्वयं निवास करते हैं ।

श्रीरामचन्द्र जी रावण को मार कर सीता जी और लक्ष्मण जी के सहित अयोध्यापुरी में आए और अपने पिता के राज सिंहासन पर विराजे । उस के पश्चात् लक्ष्मण जी को राजयक्ष्मा रोग हुआ । श्री रामचन्द्र के पूछने पर महर्षि वशिष्ठ ने कहा कि लक्ष्मण ने रावण के पुत्र इन्द्रजीत की, जो ब्राह्मण था और युद्ध से भाग कर तप करने गयाथा उसको मारा उसी दोष से इनको यह रोग हुआ है । यह कुब्जाम्रक तीर्थ में जाकर तप करें तब रोग से विमुक्त हो जायेंगे और तुम भी रावण वध के पाप से छूटने के लिये तप का प्रयत्न वहाँ करो ।

(२३ वां अध्याय) कुब्जाम्रक से डेढ़ कोस उत्तर गंगा के तट में अब तक शेष जी विद्यमान हैं । श्री लक्ष्मण जी ने वहाँ जाकर १२ वर्ष निराहार रह शिव का तप किया । उसके पश्चात् वह १०० वर्ष वायु भोजन करके और १०० वर्ष पल्लफल खाकर एक चरण से खड़े हो तप करते रहे । तब शंकर भगवान् प्रकट होकर उनसे बोले कि हे लक्ष्मण हमारे प्रसाद से तुम्हारा सब पाप टूट गया । इस स्थान में एक बार स्नान करने से मनुष्य ३ किरोड़ ब्रह्महत्या से विमुक्त हो जायगा तुम तो मुनिहंता पापी राक्षस की मारा है । तुम्हारा रोग अब छूट गया । अब से यह स्थान तुम्हारे नाम से प्रसिद्ध होगा और हम लक्ष्मणेश्वर नाम से यहाँ स्थित रहेंगे । मेरे दर्शन से पापियों का भी मोक्ष हो जायगा । शिव जी के अंतर्धान होजाने पर लक्ष्मण जी अपने पूर्णअंश से

वहाँ स्थित हुए और उनके बायें भाग में लक्ष्मणेश्वर शिव विराजमान हैं, जिन के दर्शन करने से संपूर्ण पाप छूट जाता है । गंगा के पश्चिम तीर पर लक्ष्मण कुंड है । वहाँ स्नान और जप करने से अनंत फल लाभ होता है ।

शिव पुराण (८ वां खण्ड—१५ वां अध्याय) में लिखा है कि कुब्जाम्रक तीर्थ और पूर्णतीर्थ के पास गंगा के बीच सोमेश्वर महादेव हैं । गंगा के पश्चिमी तट पर तपोवन है यहीं लक्ष्मण जी ने बड़ा तप किया था और शिव जी को कृपा से पवित्र होगये ।

वन से आने पर लक्ष्मण जी को क्षयी का रोग हुआ क्योंकि उन्होंने ने मेघनाद ब्राह्मण को मारा था । वशिष्ठ जी के उपदेश से लक्ष्मण जी तपोवन में गए और शिव जी के तप करके उनके वरदान से रोग से विमुक्त हुए । शिव जी लिंग रूप से वहाँ रह गए और लक्ष्मणेश्वर नाम से विख्यात हुए । लक्ष्मण भी शेष का शरीर धारण कर उसी स्थान पर स्थित हुए हैं ।

फुलवाड़ी चट्टी लक्ष्मण झूला से गंगा पार होकर बाएँ किनारे से चलना पड़ता है । गंगा के दहिने दिहरी के राजा का राज्य और बाएँ अंगरेजी राज्य है । झूला के १ मील आगे केदारनाथ और बदरीनाथ तक मील सूचक पत्थर गड़े हैं ।

लक्ष्मण झूला से ११ मील पर एक जलका झरना और २१ मील पर दूसरे झरने पर पनचक्की का मकान है ।

पन चक्की साधारण चक्कियों (जांताओं) से बड़ी होती है और पानी के चलाने से चलती है । चक्की के नीचे नदी या झरने के पानी की धार जोर जोर से गिरती है । चक्की से नीचे पानी की धार तक गोलाकार एक लकड़ी लगी रहती है, जिस के ऊपर के सिरे पर लोहे का एक कील रहता है, जो चक्की का तखटा छेद कर उपरवटा में लगा रहता है । लकड़ी के नीचे के छोर पर चारों ओर कई खड़े तख्ते लगे रहते हैं, जिन में पानी काट कर लगने से लकड़ी घूमती है, जिसके साथ चक्की का उपरवटा घूमता है । चक्की के उपर जिन्स की गावदुम टोकड़ी रहती है, जिस से धीरे-धीरे जिन्स चक्की में गिरती है । चक्की के ऊपर सुन्दर मकान बना रहता है । पनचक्की से १ मील-

ल और लक्ष्मणझूला से ३½ मील गंगा के बाएँ पानी के पास फुलवाड़ी चट्टी है। झूला से वहाँ तक मार्ग सुगम चढ़ाव उतार का है। वहाँ गंगा के किनारे कुछ मैदान है। सन १८९४ की वाढ़ में वहाँ को दुकानें बह गईं अब टट्टी और फूस के छप्परोँ से बहुतेरे मकान बने हैं।

फुलवाड़ीचट्टी से गंगा बाएँ ओर छुट जाती है। हिडल नदी के बाएँ किनारे से चलना होता है। फुलवाड़ी से २½ मील आगे सेमलचट्टी पर टट्टी की कई दुकानें और एक पानो का बड़ा झरना और ३½ मील आगे गूलरचट्टी पर गूलर के कई वृक्ष और टट्टी की कई दुकानें हैं। वहाँ से हिडल नदी पार कर उसके दहिने किनारे से चलना होता है। फुलवाड़ी चट्टी से ५ मील आगे एक झरना; नदी के उस पार वैरागड़ागाँव और एक पनचक्की; ५½ मील आगे कई छप्परोँ की मोहनचट्टी; ५½ मील पर एक झरना; ६½ मील पर एक दूसरा झरना और ८ मील पर विजनी चट्टी है। मोहनचट्टी के एक मील पहले से विजनीचट्टी तक नदी के दोनो ओर खड़े पहाड़ के बगलों पर खेतों की भूमि के असंख्य टुकड़े और जगह जगह पत्थर और टट्टी के मकान देख पड़ते हैं। मोहनचट्टी से विजनी की कड़ी चढ़ाई आरंभ होती है।

विजनी चट्टी विजनीचट्टी पर मोदियों के चार पांच बड़े बड़े मकान जिनमें पत्थर और लकड़ी की दुमंजिली दुकानें हैं, एक पक्की सरकारी धर्म-शाला दो झरने और आम के बड़े बड़े ५ पेड़ हैं और पहाड़ के ऊपर विजनी-गाँव बसा हुआ है।

विजनीचट्टी से आगे २½ मील कुण्डचट्टी, ४½ मील के सामने नीचे नंद गाँव, में ५½ मील एक छोटा झरना और ६ मील बन्दरचट्टी है।

विजनीचट्टी से २ मील आगे सुगम चढ़ाई से हिडल नदी और गंगा के बीच की चोटी पर आदमी पहुँचते हैं। ऊपर से गंगा की धार नाला के समान देख पड़ती है हिडल नदी, जो फुलवाड़ीचट्टी से मिलती है, १० मील के पीछे वहाँ छुट जाती है। वहाँ से गंगा के बाएँ किनारे चलना होता है। कुण्डचट्टी गहरी जमीन पर है चट्टी पर एक मोदी, टट्टी के दो तीन मकान और एक छोटा झरना है।

बंदीचट्टी कुण्डचट्टी के १ मील पहले से घुमाव राह को कठिन उतराई है । वन्दरचट्टी गंगा के किनारे उसके पानी के पास है वहां २ पुरानी पक्की धर्मशालायें और नन्दगांव के मोदियों की चट्टी और छप्पर की बड़ी २ कई दुकानें हैं । सन १८९४ को बाढ़ से पहली दुकानें बह गईं और एक धर्मशाला का आसारा टूट गया चट्टी के पास झरना नहीं है सब लोग गंगा का पानी पीते हैं ।

वन्दर चट्टी से आगे थोड़ी दूर पर छोटी वन्दर चट्टी और एक छोटी झरना, २ १/४ मील पर एक झरना, २ १/४ मील पर एक छोटा झरना और ३ १/४ मील पर महादेव चट्टी है ।

वन्दर चट्टी से १ १/४ मील आगे एक कड़ी चढ़ाई के उपरान्त पर्वत की चोटी पर पहुंचते हैं । उससे आधा मील आगे खड़ी उतराई है ।

महादेवचट्टी—महादेवचट्टी पर मोदियों की तीन चार दुकानें और पांच सात छप्पर हैं । ८० सीढ़ियों के ऊपर पत्थर के टुकड़ों से छाई हुई एक कोठरी में शिव लिंग है । वहां गंगा का पानी मिलता है और किनारे पर मैदान है ।

महादेव चट्टी से आगे १ १/४ मील पर एक बहुत बड़ा झरना; १ १/४ मील पर एक कोठरी में गरुड़ की छोटी मूर्ति पानी का एक छोटा हौज और दो गुफे; ४ मील पर सेमालो चट्टी; ५ १/४ मील पर कण्डी की छोटी चट्टी, एक झरना, एक कोठरी में सीताजी की मूर्ति और आम के कई वृक्ष; कुछ आगे २ झरने; ६ १/४ मील पर एक छोटा झरना और ६ १/४ मील पर कण्डी की बड़ी चट्टी है । सड़क से नीचे सेमालो चट्टी और सड़क के ऊपर एक झरना है । झरने का पानी लकड़ी के कई नालों से होकर चट्टी के पास जाता है ।

कण्डीचट्टी—कण्डी की बड़ी चट्टी पर मोदियों के बड़े बड़े कई मकान; चट्टी के पास केले और आम के बहुतेरे वृक्ष और एक बड़ा झरना चट्टी के नीचे एक और झरना है, जिसका पानी गांववाले लेजाते हैं और चट्टी से थोड़ी दूर एक टीले पर कण्डी गांव है । गांव में पत्थर के १५—२० मकान बने हुए हैं ।

कण्डीचट्टी से आगे १ १/४ मील पर एक झरना, ४ मील पर व्यास गंगा और

४½ मील पर व्यास चट्टी है कण्ठी चट्टी के दो मील आगे से १½ मील की कठिन चढ़ाई के बाद पहाड़ की चोटी पर पहुँचते हैं । उससे आगे १ मील कठिन उतराई के बाद व्यास गंगा का पुल मिलता है ।

व्यास गंगा का पुल लक्ष्मणझूला के ढाँचे का १८० फीट लंबा है वहाँ से व्यासगंगा के पास जाने का राह नहीं है । पुल से ½ मील उत्तर जाकर व्यासगंगा भागीरथी गंगा में मिल गई है । पुल के पास से एक सड़क दक्षिण ओर व्यासगंगा के दहिने किनारे होकर बांगघाट होती हुई, जो वहाँ से १८ मील पर है, नजीबाबाद को गई है ।

व्यासचट्टी गंगा के बाएँ व्यासचट्टी पर एक सरकारी पक्की धर्मशाला एक सरकारी मोदी की दुकान, लकड़ी और खर से बने हुए मोदियों के बहुतेरे मकान और खेत का थोड़ा मैदान भी है वहाँ गंगा का जल मिलता है । सन् १८९४ की बाढ़ से वहाँ की पहली चट्टी और धर्मशालाएं बह गईं उस समय वहाँ ३३ फीट ऊँचा पानी चढ़ा था । पहाड़ के ऊपर नवगांव नामक वस्ती है चट्टी से थोड़ी दूर पर एक झरना और १ मील पर व्यास मंदिर है । वहाँ आगे पीछे २ कोठरी हैं । भीतर की कोठरी में व्यास और शुकदेव की छोटी मूर्ति है मन्दिर के पास एक दूसरी कोठरी और एक छोटा झरना है ।

व्यास मंदिर से १८ मील पूर्व गढ़वालजिले का सदर स्थान और पौड़ी को एक पहाड़ी सड़क गई है । व्यास मंदिर से आगे देव प्रयाग तक अधिकांश जगहों पर पहली सड़क के ऊपर नई सड़क बनी है ।

व्यासचट्टी से आगे १ मील व्यास मंदिर; १ मील एक झरना; २½ मील पर छालूडी चट्टी; ५ मील उमरासू या अमरकोट चट्टी ६ मील एक नदी पर ५६ फीट लम्बा काठ का पुल ७ मील अनन्तराम पण्डा का मंदिर धर्मशाला, एक झरना और पन्त नामक वस्ती और व्यासचट्टी से ९ मील, हृषीकेश से ४२½ मील और हरिद्वार से ५४½ मील देवप्रयाग है ।

छालूडी नामक छोटी चट्टी के पास एक झरना है । उमरासू गांव के पास उमरासू नामक बड़ी चट्टी पर छप्पर की दुकानों के अतिरिक्त तीन चार

घड़े वड़े पक्के मकान, २ झरने और बहुतेरे आम के पेड़ हैं । व्यासमन्दिर से देवप्रयाग तक गंगा के दहिने पर्वत के कमर और शृङ्गों पर जगह जगह छ सात वस्तियां देख पड़ती हैं । कई वस्तियों में पक्के मकान बने हुए हैं ।

देव प्रयाग—देव प्रयाग के पास गंगा उत्तर से आइ है और अलकनन्दा पूर्वोत्तर से आकर गंगा (भागीरथी) में मिल गई है । अलकनन्दा के दहिने टिहरी के राजा का राज्य और बाएँ अंगरेजी राज्य है । देव प्रयाग के पास अलकनन्दा पर लोहे का लटकड़ा पुल है । वह पुल दोनों किनारों के पायों के भीतर २५० फीट लम्बा और भीतरी २४½ फीट चौड़ा है । अलकनन्दा के बाएँ किनारे पर अंगरेजी राज्य में सरकारी धर्मशाला और चालिस पचास घर की बाजार बनी थी, जिस में सब तरह के दुकानदार रहते थे । वे सब दुकानें सन् १८९४ की बाढ़ से बह गईं । अब वहाँ दो चार मकान बने हैं और एक डाक खाना भी है ।

अलकनन्दा के दहिने और गंगा के बाएँ संगम के पास समुद्र के जल से २२६६ फीट ऊपर टिहरी के राजा के राज्य में पहाड़ के बगल पर देवप्रयाग बसा है । पुलके पश्चिम चौरस फर्स के बीचमें रघुनाथजी का बड़ा मन्दिर है । मन्दिर के शिखरपर सुन्दर कलश और छत्र लगे हैं और भीतर रघुनाथ जी की स्याम रङ्ग की विशाल मूर्ति खड़ी है । उनके दोनों चरणों और हाथों पर चांदी की जड़ाव, सिरपर मुनहला मुकुट, हाथों में धनुष बाण और कमर में ढाल तलवार है । रघुनाथजी के बाएँ एक सिंहासन में श्री जानकीजी और दहिने राम और लक्ष्मण की चल मूर्ति हैं, जो रामनवमी और वसन्तपंचमी आदि उत्सवों में बाहर के पत्थर के सिंहासन पर बैठाई जाती हैं । मन्दिर के आगे जगमोहन से बाहर पीतल की बनी हुई गरुड़ की बड़ी मूर्ति है । मन्दिर के दहिने बदरीनाथ, महादेव और कालभैरव; पीले महावीरजी और बाएँ महादेव हैं । लोग कहते हैं कि रघुनाथजी की मूर्ति शंकराचार्य की स्थापित है । वहाँ का पुजारी महाराष्ट्र ब्राह्मण है । मन्दिर का चोबदार सवेरे के दर्शन के समय एक पैसा लेकर यात्री को मन्दिर में जाने देता है ।

रघुनाथजी के मन्दिर से १०० सीढ़ी से अधिक नीचे भागोरथी और अलकनन्दा का संगम है। इस संगम पर अलकनन्दा के निकट वशिष्ठकुण्ड और गंगा के समीप ब्रह्मकुण्ड चट्टान में थे, जो सन् १८९४ की बाढ़ के समय जल के नीचे पड़ गए ; अब इन में कोई स्नान नहीं कर सकता है। अब उस स्थान के ऊपर मुंडन और स्नान होता है और जब के पिसान की १६ गोलियां बनाकर पितरों को पिंडदान दिया जाता है। वहां एक छोटी और एक बड़ी गुफा है। छोटी गुफा में महादेव स्थित हैं।

सन् १८९४ ई० की बाढ़ के समय रघुनाथजी के मन्दिर के नीचे की बस्ती, बाजार, धर्मशाला और कई देवस्थान बह गए और ऊपर के सब बच गए। उस समय ७० फीट ऊंचा पानी बढ़ा था। देवप्रयाग से पूर्व ऊंची जमीन पर नई बस्ती बस रही है। रघुनाथजी के मन्दिर के उत्तर एक छोटी धर्मशाला और मन्दिर से करीब २०० सीढ़ी के ऊपर पर्वत पर क्षेत्रपाल का मन्दिर है। देवप्रयाग में इन्दौर के महाराज और रायबहादुर सूर्यमल के सदावर्त लगे हैं। बदरीनाथ के पण्डे देवप्रयाग ही में रहते हैं। वहां पण्डा ही लोगों के अधिक मकान हैं। पण्डे लोग वहां से या हरिद्वारही से धनी यात्रियों के साथ बदरीनाथ जाते हैं। देवप्रयाग गढ़वाल जिले के पांच प्रयागों में से एक है। दूसरे रुद्रप्रयाग, कर्णप्रयाग, नन्दप्रयाग और विष्णुप्रयाग उससे आगे मिलते हैं।

संगम से उत्तर स्थान स्थान पर गंगा के किनारों पर वाराहशिला, वैतालशिला, पौष्पमालतीर्थ, इंद्रचुम्न, विल्वतीर्थ, सूर्यतीर्थ और भरतजी का मन्दिर है। बहुतेरे यात्री वैतालशिला पर पिंडदान करते हैं। एक स्थान में गंगा पर रस्सों का झूला बना हुआ है।

गंगोत्री के यात्री देवप्रयाग से गंगा के किनारे किनारे टिहरी होकर गंगोत्री जाते हैं। देवप्रयाग से लगभग २४ मील टिहरी और टिहरी से ९६ मील गंगोत्री है। यात्रीलोग लौटती समय श्रीनगर वा त्रियुगीनारायण होकर केदारनाथ और बदरीनाथ जाते हैं। (हपीकेश का वृत्तान्त देखो)

केदार नाथ और बदरीनाथ के यात्रियों को देवप्रयाग से गंगा छूट जाती है; उनको वहां से अलकनन्दा के बाएं किनारे चलना होता है। वे लोग लक्ष्मण-

झूला से देवप्रयाग तक ३० मील गंगा के किनारे किनारे आते हैं; किन्तु लक्ष्मण-झूला, फुलवाड़ीचट्टी, वन्दरचट्टी, महादेवचट्टी, व्यासचट्टी और देवप्रयाग केवल इन्हीं ६ स्थानों में स्नान और जलपान के लिये गंगाजल मिलता है। शेष स्थानों में ऊपर से गंगा देख पड़ती हैं।

संक्षिप्त प्राचीन कथा—स्कंदपुराण—(केदारखंड तीसरा भाग पहला अध्याय) गंगाद्वार के पूर्व भाग में गंगा और अलकनंदा के संगम के निकट देवप्रयाग उत्तम तीर्थ है, जिसके दर्शन और स्मरण मात्र से ब्रह्महत्या के समान पाप नष्ट हो जाता है; उस तीर्थ में किए हुए कर्मों का फल अक्षय होता है। जो मनुष्य देवप्रयाग में पिण्डदान करता है, उस को फिर पितरकार्य करने की आवश्यकता नहीं रहती है। जिस स्थान पर गंगा और अलकनंदा का संगम है और साक्षात् श्रीरामचन्द्र सीता और लक्ष्मण जी के सहित निवास करते हैं उस तीर्थ का महात्म्य कौन वर्णन कर सकता है।

देवप्रयाग में जिस स्थान पर ब्रह्माजी ने तप किया, वह ब्रह्मकुंड प्रसिद्ध हो गया। गंगा के उत्तर तट में शिव तीर्थ है, जिसमें स्नान करने से कीट भी शिव रूप हो जाता है। गंगा के निकट बैताल की शिला के पास बैतालकुंड है, जिसमें ५ दिन स्नान करने से मनुष्य शुद्ध हो जाता है; उससे थोड़ी दूर पर सूर्यकुंड है, जिसमें स्नान करने से मनुष्य सब पापों से छूट जाता है। ये सब तीर्थ गंगा के उत्तर तट पर हैं। गंगा के दक्षिण भाग में ब्रह्मकुण्ड से ऊपर ४ हाथ प्रमाण का वशिष्ठकुण्ड है, जिस के सेवन करने से मोक्ष मिलता है। वशिष्ठ तीर्थ से ऊपर ८० हाथ के प्रमाण पर वाराह तीर्थ है। गंगा के मध्य में वाराही शिला है, जिसके स्पर्श करने से मुक्तिलाभ होती है और दर्शनकरने से पितर लोग अक्षय लोक प्राप्त करते हैं। उससे ४ दंड दूर सूर्यकुण्ड है, जिसमें स्नान करने से महापातकी मनुष्य भी मुक्ति पाता है। उससे एक वाण के अंतर पर पौष्पमाल तीर्थ है। उससे ६ दंड आगे इन्द्रद्युम्न का तप स्थान इन्द्रद्युम्न तीर्थ है। उसके आधे कोस की दूरी पर विल्वतीर्थ स्थित है, जहां महादेव जी सर्वदा निवास करते हैं। उस स्थान पर गंगा में स्नान करके १० दिन निवास करने से सिद्धि प्राप्त होती है। ये तीर्थ गंगा के उपरि भाग में हैं।

(दूसरा अध्याय) सतयुग में देवशर्मा नामक प्रसिद्ध मुनि हुआ; वह देव-प्रयाग में जा कर विष्णुभगवान का तीव्रतप करने लगा । जब मुनि ने १० सहस्र वर्ष तक पत्ता खाकर और एक हजार वर्ष एक पाद से खड़ा रह कर उग्र तप किया, तब लक्ष्मीजी सहित विष्णु भगवान प्रकट हुए और बोले कि हे तपो-धन; मैं प्रसन्न हूँ तुम इच्छित वर मांगो । देवशर्मा बोला कि हे प्रभो ! हमारी निश्चल प्रीति तुम्हारे चरणों में रहे; यह पवित्र क्षेत्र कलियुग में संपूर्ण पापों का नाश करनेवाला होय; तुम सर्वदा इस क्षेत्र में निवास करो और जो पुरुष इस क्षेत्र में तुम्हारा पूजन और मंगम में स्नान करें उनको परम गति मिले । भगवान ने कहा कि हे मुनि ! ऐसा ही होगा । मैं त्रेता युगमें राजा दशरथ के पुत्र राम नाम से विख्यात होकर रावणादिक दैत्यों को मारूंगा और कुछ दिनों तक अयोध्या का राज्य भोग कर के इस स्थान पर आऊंगा; तब तक तुम इसी स्थान पर निवास करो; फिर हमारा दर्शन पा कर तुम परम गति पाओगे, तब से इस तीर्थ का नाम तुम्हारे नाम के अनुसार देव-प्रयाग होगा । विष्णु भगवान के चलेजाने पर देवशर्मा उस स्थान में रहने लगा । विष्णु त्रेता युग में राजा दशरथ के गृह जन्म ले कर राम नाम से विख्यात हुए । उन्हो ने रावण बध करने के पश्चात् आकर देवशर्मा को दर्शन दिया और कहा कि हे मुनीश्वर ! अब से यह तीर्थ लोक में प्रसिद्ध होगा । तुम को सायुज्य मुक्ति मिलेगी । ऐसा कह रामचंद्रजी ने सीता और लक्ष्मण के सहित उस स्थान पर रह गये ।

(तीसरा अध्याय) ब्रह्माजी ने सृष्टि के आरंभ में दस सहस्र और दस सौ वर्ष समाधि निष्ठ हो कर कठिन तप किया । तब विष्णु भगवान उस स्थान में प्रकट हुए और बोले कि हे ब्रह्मन् ! वर मांगो । ब्रह्माजी ने कहा कि हे प्रभो ! मुझ को जगत की सृष्टि करने की सामर्थ्य होय और यह स्थान पवित्र तीर्थ हो जाय । भगवान बोले कि तुम सृष्टि करने में समर्थ होगे; यद्यपि यह तीर्थ पवित्र है तिस पर भी २८ वें मन्वन्तर में जब राजा भगीरथ इस मार्ग से गंगाजी को ले जायगो तब से यह तीर्थ अति पवित्र हो जावेगा और इस स्थान का नाम ब्रह्मतीर्थ होगा ।

(चौथा अध्याय) ब्रह्मतीर्थ के निकट महामति वशिष्ठजी ने निवास किया । जो मनुष्य वहां एक बार भी स्नान करता है वह किसी स्थान में मरे अवश्य ब्रह्म में लीन होगा ।

(५ वां अध्याय) गंगा और शांता नदी के संगम के पास, जिसकी उत्पत्ति दशरथाचल से हुई है, शिव तीर्थ है, जहां श्रीरामचंद्रजी ने अनेक शिव लिंग स्थापन किये हैं । (६ वां अध्याय) शिव तीर्थ के ऊपर के मार्ग में वैतालकुंड के समीप वैताल की शिला है । वैतालकुंड में स्नान और शिला का स्पर्श कर के नारायण का ध्यान करने से सर्व यज्ञ, तीर्थ और दान करने का फल प्राप्त होता है । उस कुंड के प्रभाव से बड़े बड़े वैताल परमगति को पाए हैं । उस कुंड और शिलापर स्नान, दान और पितरों के पिंड दान करने से कोटि गुणा फल लाभ होता है ।

(७ वां अध्याय) वैतालतीर्थ से ऊपर एक वाण की दूरी पर सूर्यतीर्थ है, जहां स्नान करने से मनुष्य कुष्ठ रोग से विमुक्त हो जाता है । पूर्व काल में मेधातिथि नामक ब्राह्मण ने देवप्रयाग में जा कर सूर्य भगवान का तप किया था । सूर्य भगवान प्रगट हो कर उससे कहा कि वर मांगों । मेधातिथि बोले कि हे भगवान ! तुम्हारे चरण में सदा मेरी भक्ति होय; तुम हमारे साथ यहां निवास करो; यह पवित्र कुंड हो और यह तीर्थ तीनोलोक में विख्यात हो जाय । सूर्य भगवान ने कहा कि ऐसाही होगा । तब से यह तीर्थ पवित्र और प्रसिद्ध हुआ । माघसुदी सप्तमी के दिन सूर्यकुंड में स्नान करनेवाला मनुष्य बहुत काल तक सूर्यलोक में निवास करके ब्राह्मण के गृह जन्म ले कर वेद वेदांग पारग होता है ।

(८ वां अध्याय) वशिष्ठतीर्थ से ८० हाथ ऊपर वाराहतीर्थ है । सत-युग में सर्वबंधु नामक ब्राह्मण वाराह भगवान का बड़ा भक्त था । उसने देव-प्रयाग में जा कर वाराह रूप विष्णु का बहुत काल तक तप किया । वाराहजी प्रकट हुए । सर्वबंधु ने यह वर मांगा कि हे भगवान ! तुम नित्य हमारे साथ यहां निवास करो । भगवान बोले कि मैं सर्वदा इसतीर्थ में वास करता हूं । इस तीर्थ का नाम अबसे वाराहतीर्थ होगा । मैं गंगा में

शिला रूप से निवास करूंगा । जो मनुष्य इस कुंड में स्नान करेगा उसको सायुज्य मुक्ति मिलेगी । जो तृप्ति पितरोंको सहस्र वर्ष श्राद्ध करनेसे होती है वह तृप्ति केवल इस तीर्थ में तर्पण करने से होगी । ऐसा कह भगवान् शिला रूप से गंगामें स्थित हुए । उन्होंने ने अपने दोनों वगलोंमें शिवजी को स्थापित किया ।

(१० वां अध्याय) महर्षि विश्वामित्र हिमवान् पर्वत पर मानसरोवर के समीप उग्र तप करने लगे । इंद्रादिक देवताओं ने उनके तप से व्याकुल हो कर ब्रह्माजी के आदेशानुसार तप में विघ्न डालने के लिये पुष्पमाला नामक किन्नरी को भेजा । वह अप्सराओं के साथ विश्वामित्र के निकट जा घीणा वजा कर गान करने लगी । कामदेव अपने कुसुम बाण को विश्वामित्र पर छोड़ा । विश्वामित्र का ध्यान छूट गया । उसने अपने आगे खड़ी पुष्पमाला को देखा । ऋषि के पूछने पर उसने अपने आनेका सब वृत्तान्त कह सुनाया । मुनि ने शाप दिया कि तुम मकरी अर्थात् घड़ियाल की स्त्री हो जाओ । जब पुष्पमाला प्रार्थना करने लगी तब विश्वामित्रने कहा कि तुम देवप्रयाग में जाकर वहां कुछ काल निवास कर । जब त्रेतायुग में लक्ष्मण के सहित रामचंद्र वहां आवेंगे तब उनके दर्शन करने से तुम्हारे शाप का अंत होगा । पुष्पमाला देवप्रयाग में आकर गंगाजी में मकरी रूप से रहने लगी । त्रेतायुग में लक्ष्मण के सहित श्रीरामचंद्र आए । जब स्नान के लिये गंगा में प्रवेश करने पर मकरी उनको निगलने लगी तब उन्होंने उसका सिर काट डाला । उसी समय मकरी अपना शरीर छोड़ कर सुंदर स्त्री हो रामचंद्रजी की स्तुति करने लगी । भगवान् बोले कि हे किन्नरी ! तुम हमारे धाम में जाओ; आज से यह तीर्थ पौष्पमाल नाम से प्रसिद्ध होगा । यहां स्नान, दान, जप होम करने वालों पर मैं प्रसन्न हूंगा । इस स्थान पर पितरों के तर्पण करने से पितर लोग असंख्य वर्ष पर्यन्त स्वर्ग में निवास करेंगे । उसी समय वह किन्नरी शाप से विमुक्त हो कर विष्णुधाम की चली गई ।

(११ वां अध्याय) जिस समय वामनजीने अपने चरण से भूमंडल को नापा था उसी समय उनके चरण की अंगुली के नख से जल की धारा निकली । वह ध्रुव के मंडल तथा सप्तर्षि मंडल में होती हुई मेरु के शृङ्ग पर

ब्रह्मलोक में गिरी । वहां से वह धारा ४ भागों में विभक्त होकर पृथ्वी में आई और क्षार समुद्र में मिली । उनमें सीता नामक धारा गंधमादन के शिखर पर गिरी; भद्रा पूर्व दिशा में भद्राश्ववर्ष में गई; चक्षुनाम धारा मालयवान के शिखर से पश्चिम दिशा में केतु माल पर्वत पर गई और अलक नंदा नामक धारा दक्षिण को बहती हुई हिमालय पर आई । यहां शिवजी ने उसको अपनी जटा में रखलिया । कुछ दिनों के उपरान्त राजा भगीरथ ने शिवजी को प्रसन्न करके अपने पितरों के उद्धार के लिये उनसे उस गंगा को मांगा । शिवजी ने गंगा को दे दिया । गंगा हिमालय से नीचे के शृंग पर गिरी । उन के प्रवल वेग से शृंग दो भाग हो गया । इस कारण गंगा दो धारा हो कर भारतवर्ष में आई । उनमें से एक धारा अलकापुरी हो कर आई इसलिये उसका नाम अलकनंदा पड़ा । देवप्रयाग में आकर दोनों धारा फिर एक में मिल गईं । संगम से बाणजा नदी तक देव प्रयाग क्षेत्र है ।

संगम के पूर्व भाग में गंगा के दक्षिण तट पर तुण्डीश्वर महादेव हैं । अलकनन्दा के किनारे एक पवित्र कुण्ड है, जिसके निकट तुण्डीभील ने बहुत काल तक शिव का तप किया था, जिससे शिवजी वहां तुण्डीश्वर नाम से स्थित होगए ।

श्रीरामचन्द्र ने देवप्रयाग में जाकर विश्वेश्वर शिव की स्थापना की । उस से ऊपर क्षेत्रराज भैरव हैं । जो मनुष्य विश्वेश्वर के बिना दर्शन किए हुए तीर्थ यात्रा करते हैं उसका संपूर्ण फल निष्फल होजाता है । क्षेत्रपाल भैरव का यथा विधि पूजन करके तब रामचन्द्र का दर्शन करना चाहिए ।

रानीबागचट्टी

देवप्रयाग से आगे १ मील झरने का पुल और एक बहुत छोटा सा मन्दिर; १ १/२ मील बड़ा झरना का पुल; २ १/२ मील गोविन्दकोठी; ३ १/२ मील अलकनन्दा के दहिने पर्वत के ऊपर दो वस्ती; ४ १/२ मील बड़े झरने का पुल; ५ १/२ मील पिहड़ी का झूला; ६ १/२ मील एक छोटा झरना और एक साधु की झोपड़ी और ७ १/२ मील पर रानीबाग चट्टी है ।

गोविन्दकोटी स्थान पर एक छोटे मन्दिर में गोविन्द जी की मूर्ति; मन्दिर के आगे पीतल की गरुड़ की प्रतिमा; मन्दिर के पास २ कोठरियाँ और एक झरना है ।

गोविन्दकोटी से २½ मील आगे उस पार की ओर पाँच सात छप्परोँ का एक छोटा गाँव है । गाँव वालों ने पार जानें के लिये रस्ती में पिहड़ी का झूला बनाया है । एक किनारे से दूसरे किनारे तक चार पाँच रस्से लगे रहते हैं; उसमें मचिये के समान एक पिहड़ी लटकी रहती है । उस पर एक आदमी बैठ जाता है । वह एक रस्से को खींचता हुआ और दूसरे को छोड़ता हुआ पार हो जाता है । और कोई चीज पिहड़ी पर रख कर रस्से से एक किनारे से दूसरे किनारे तक लोग उसे खींच लेते हैं । इस झूले को उधर के लोग डीलू या डीला कहते हैं । उससे एक मील आगे तक अलकनन्दा के बाएँ नीचा ऊँचा मैदान और दहिने खेती की जमीन और एक वस्ती है ।

रानीवागचट्टी पर अच्छी अच्छी दुकानें, एक धर्मशाला और एक बाग था, जो सन् ९४ की बाढ़ में बह गये । अब लकड़ी की बल्ली और फूस से दुकानें बनी हैं । वहाँ अलकनन्दा और झरना का पानी मिलता है और ठंडी और मनोहर झाड़ियाँ हैं, जिनमें मुछाली नामक एक छोटी वस्ती देखने में आती है ।

रानीवागचट्टी से आगे १½ मील पर एक झरना, अलकनन्दा के किनारे थोड़ा खेती का मैदान, पानी के पास जाने की राह और पर्वत पर बहुतेरे लंगूर वन्दर दिखलाई देते हैं उससे आगे एक झरना, उससे आगे छोटे झरने का पुल, २ मील पर पिहड़ी का झूला और २½ मील पर रामपुर चट्टी है ।

रामपुर चट्टी पर लकड़ी और फूस की बहुतसी दुकानें, थोड़ा जंगल का मैदान और एक खुला हुआ झरना और चट्टी के पास रामपुर वस्ती है ।

रामपुर चट्टी से आगे ३ मील भगवानचट्टी और ४½ मील भिल्लेश्वर महा-देव का मन्दिर है ।

भगवानचट्टी पर अनेक दुकानदारों के मकान और झरने हैं । रामपुरचट्टी से भिल्लेश्वर तक अलकनन्दा के किनारों पर जगह जगह खेती का मैदान है । और नदी के किनारों पर तथा पर्वत के बगलों में बहुत पहाड़ी वस्तियाँ देखने में आती हैं ।

भीलेश्वर ।

भीलेश्वर के मन्दिर मिलने से पहले ५२ फीट लम्बा काठ का पुल, जो खांडव नदी पर बना है, लांघना होता है। वहां खांडव नदी अलकनन्दा से मिल गई है। अलकनन्दा के बाएँ किनारे पर गुम्फजदार छोटे मन्दिर में अनगढ़ भीलेश्वर शिव लिंग हैं। उन का ताम्बे का अर्धा और चांदी का छत बना है। पहला मन्दिर सन १८९४ की वाढ़ से बह गया अब नया मन्दिर बना है; शिवलिंग वही है। मन्दिर के निकट २ छोटी कोठरियाँ हैं। इसी स्थान पर भीलरूप धारी सदाशिव और अर्जुन का परस्पर युद्ध हुआ था।

हुँहम् नामक एक छोटी नदी उस पार अर्थात् अलकनन्दा के दहिने भाँकर उसी में मिली है, जिस पर एकही मेहरावी का पुल है। पुराणों में उस संगम का नाम हुँहप्रयाग और उसके पास के पर्वत का नाम इन्द्रकील पर्वत लिखा है। उस स्थान पर एक नया शिव मन्दिर बना है।

संक्षिप्त प्राचीन कथा— महाभारत— (वनपर्व— ३७ वां अध्याय) अर्जुन तपस्वियों से सेवित अनेक पर्वतों को देखते हुए हिमाचल पर्वत के इन्द्रकील नाम स्थान पर पहुँचे। उस स्थान पर तपस्वी के रूप में इन्द्र ने अर्जुन को दर्शन दिया और कहा कि हे तात। जब तुम शूलधारी, भूतों के स्वामी शिव का दर्शन करोगे तब हम तुमको सब शस्त्र देंगे। अब तुम परमेश्वर शिव के दर्शन का यत्न करो। उनके दर्शन होने से सिद्ध होकर स्वर्ग में जाओगे। इन्द्र के जाने पर अर्जुन वहीं बैठ कर योग करने लगे (३८वां अध्याय) अर्जुन का उग्र तप देख कर मुनीश्वरों ने महादेव के पास जाकर अर्जुन के तप की प्रशंसा की। (३९वां अध्याय) तपस्वियों के जाने पर सदा शिव किरात का भेष धारण करके महा मेघ की शिखा के समान शरीर बना कर धनुष बाण लिये हुये अपने समान भेष वाली पार्वती और अनेक भूतों के सहित किरात वेष धारिणी अनेक स्त्रियों को संग ले उस वन में जा पहुँचे।

उसी समय दलुका पुत्र मूक नामक राक्षस सूकर का भेष बना कर मारने की इच्छा से अर्जुन को बेखर रहा था। तब अर्जुन ने गांडीव धनुष लेकर उस

राक्षस से कहा कि मैं अभी तुम को यम के घर पहुँचाता हूँ । उस समय किरात रूपी महादेव ने अर्जुन से कहा कि पहले मैंने इसको मारने की इच्छा की है, तुम इस को मत मारो, परन्तु अर्जुन ने उनका निरादर कर सूअर पर बाण चलाया । उसी समय किरात भी सूअर को लक्ष कर के उसपर बाण चलाया । जब वह मर गया तबतो यह कह कर कि मेरे ही बाण से यह सूअर मरा है अर्जुन और किरात दोनों परस्पर वाद विवाद करने लगे । अनन्तर अर्जुन को महा क्रोध हुआ; वे बाणों से किरात को मारने लगे । किरात अर्जुन के बाणों को सहने लगा । उस के पश्चात् वे दोनों परस्पर एक दूसरे को बाणों से विद्ध करने लगे । तब अर्जुन ने किरात पर बाणों की वर्षा की । किरात रूप धारी शिव प्रसन्न चित्त से बाणों की वर्षा को सहते हुए पर्वत के समान अचल हो खड़े रहे । उन के शरीर में कुछ भी घाव न लगा । यह देख अर्जुन को सन्देह हुआ कि यह शिव या कोई यक्ष, राक्षस अथवा देवता तो नहीं है । फिर कहा कि यदि यह शिव को छोड़ कर देवता या कोई यक्ष होगा तो अब मैं इस को कठिन बाणों से मार कर यम के घर पहुँचाऊँगा । ऐसा कह कर अर्जुन बाणों की वर्षा करने लगा । शिव उन बाणों को सहने लगे । जब क्षण भर में अर्जुन के बाण चुक गए तब उन्होंने ने धनुष से किरात का गला फाँस कर वज्र के समान मुँकों से किरात को बहुत मारा । जब पर्वत के समान किरात ने इन के धनुष को भी ग्रास कर लिया, तबतो अर्जुन खड्ग से किरात के सिर में मारा, परन्तु उस के सिर में लगने से वह उत्तम खड्ग भी टूट गया । तब अर्जुन शिला और दृष्टों से मारने लगा; परन्तु किरात उनको भी सहने लगे । तब दोनों का परस्पर मुक्के का युद्ध होने लगा । अनन्तर महादेव जी ने अर्जुन के शरीर को पीड़ा दी और अपने तेज से उनका तेज खींच कर उनके चित्त को मोहित कर दिया । तब अर्जुन निश्चेष्ट होकर पृथ्वी में गिर पड़ा; स्वांस भी बन्द होगया, परन्तु क्षण मात्र के पीछे वह चैतन्य होकर उठा और शरण देने वाले भगवान् शिव की शरण में गया । उस समय अर्जुन ने शिव की मूर्ती बना कर उस पर माला चढ़ाई । जब अर्जुन ने वही माला किरात के सिर पर डेखा, तब वह किरात के चरणों पर गिर पड़ा । शिव अर्जुन के असाधारण

बीरता से प्रसन्न होकर पार्वती के सहित प्रकट हुए। अर्जुन ने शिव की वढ़ो स्तुति की।

(४० वां अध्याय) शिव बोले हे अर्जुन ! पूर्व जन्म में तुम नर नामक ऋषि थे। नारायण तुम्हारे साथी थे। बदरिकाश्रम में हजारों वर्ष तुम ने तपस्या की थी। तुम्हीं दोनों से जगत स्थित है। पीछे शिव अर्जुन को पाशुपत अस्त्र और स्वर्ग जाने की आज्ञा देकर अन्तर्ध्यान हो गए। (यह कथा शिव पुराण में ज्ञानसंहिता के ६४ वें अध्याय से ६७ वें अध्याय तक है)।

स्कन्दपुराण—(केदार खंड उत्तर भाग ५ वां अध्याय) खांडव और गंगा अर्थात् अलकनन्दा के संगम के समीप शिव प्रयाग है। उसी स्थान पर महर्षिखांडव ने सदा शिव का तप किया था। उस स्थान पर भक्ति पूर्वक स्नान करने वालों को ब्रह्म सायुज्य मिलता है। संगम में स्नान करके महादेव जी की आराधना करने से मनुष्य तीनों लोक में श्रेष्ठ होजाता है। उसी स्थान पर महादेव जी ने इन्द्र पुत्र अर्जुन को दर्शन दिया था।

युधिष्ठिर आदि पांडवगण दुर्योधन से घूत में हार कर १२ वर्ष के लिये वन में गए। सब लोग शोचने लगे कि हम लोग दुर्योधन को किस प्रकार से जीतेंगे। अर्जुन ने कहा कि यदि पाशुपत अस्त्र मिले तब हम लोग कौरवों पर विजय लाभ कर सकते हैं। इस के उपरांत वह वहां से अकेले चलकर हिमालय के एक देश में जाकर शिव का तप करने लगा। कुछ काल के पश्चात् शिवजी प्रसन्न होकर भीलरूप धारण कर हाथ में धनुष लिए हुए अनेक भीलों के साथ अर्जुन के निकट आए। उन्होंने ने एक माया का मृग बना कर उसकी पीठ में वाण मारा। वाणो से वेधा हुआ मृग दूसरे वन में भाग चला। तब अर्जुन ने हंस कर अपने गांडीव धनुष पर वाण चढ़ा कर उससे मृग को मार डाला। भीलराज और अर्जुन दोनों मृग के निकट जाकर परस्पर विवाद करने लगे। भीलराज कहते थे कि मेरे वाण से मृग मरा है; इसको मैं लूंगा और अर्जुन कहते थे कि मेरे वाण से मरा है यह हमारा है। अर्जुन ने भीलराज पर वाण छोड़ा। वह उन के शरीर में लग कर चूर हो भूमि पर गिर पड़ा। तब वह शिव के

साथ के दूसरे किरातों को अपने वाणों से मारने लगे । उस समय पर्वत से अस्त्रंख्य किरात आकर पापाण, लाठी और अनेक प्रकार के शस्त्रों से अर्जुन को मारने लगे । अर्जुन ने अपने वाणों से सैकड़ों भीलों को पृथ्वी पर गिरा दिया । बहुतेरे भील पर्वत पर भाग गए । तब वह भीलराज पर वाण वृष्टि करने लगे; किंतु उनके संपूर्ण वाण भीलराज के शरीर में लग कर चूर चूर हो पृथ्वी में गिर पड़े । उस के पश्चात् अर्जुन ने धनुष से भीलराज के मस्तक में मारा । उससे भी भीलराज की चोट नहीं लगी । वह अर्जुन को देख कर बार बार हंसने लगे । तब अर्जुन लज्जित हो युद्ध परित्याग करके मुनियों के तपस्थल में जाकर भीलराज को परास्त करने के लिये सदाशिव की आराधना करने लगे । उस समय इन्द्रकील पर्वत के कटि भाग में किरातों का बड़ा किलकिला शब्द सुन पड़ा । तभी से उस स्थान पर किलकिलेश्वर महादेव प्रसिद्ध हो गए । भीलराज भीलों को साथ लिये हुए अर्जुन के तपस्थल में पहुंचे । भीलराज और अर्जुन का रोम हर्षणयुद्ध होने लगा । भीलराज ने अर्जुन को पछाड़ दिया । तब अर्जुन दुःखित हो शिव शिव कहने लगे । जब उन्होंने ने अपनी चढ़ाई हुई पूजा की सब सामग्री भीलराज के मस्तक पर देखी; तब उनको शिव जान कर स्तुति करने लगे । सदाशिव बोले कि हे वत्स ! मैं तुझ पर प्रसन्न हूँ तुम इच्छित वर मांगो । अर्जुन ने कहा कि तुम अपना अस्त्र दो जिससे मैं अपने शत्रुओं को जीतूँ । महादेव जी ने अर्जुन को मंत्र के सहित पाशुपत अस्त्र दिया और कहा कि हे धनंजय ! तुम इस से शत्रुओं को जीतो गे; यह स्थान तुम्हारे तप से पवित्र होगया । जो प्राणी सात रात्रि इस स्थान में मेरा पूजन करेगा उसको परम सिद्धि प्राप्त होगी । ऐसा कह महादेव जी अंतर्ध्यान होगए । उसी समय से वहां भीलेश्वर महादेव प्रख्यात हुए, जिन का दर्शन, ध्यान तथा नामोच्चारण करने से महापातकी जीव भी सद्यः शुद्ध हो जाता है । अर्जुन शिव जी से पाशुपत अस्त्र पाकर वहां से चले गए ।

(६ वां अध्याय) गंगा और खांडव नदी के संगम से आधे कोस पर कालिका नदी का संगम है, जिस में स्नान करने से १०० यज्ञ करने का फल मिलता है । उससे १ कोस दूर करि पर्वतपर करि नामक भैरव हैं । उससे

आधे कोस पर वत्सजानामक नदी खांडव में मिली है । संगम से ऊपर सिर स्कूट स्थान पर नारायणी नदी का संगम और नारायणी के संगम से २ कोस दूर राजिका नदी का संगम है ।

गंगा के उत्तर तीर पर दुंढ प्रयाग तीर्थ है । पूर्व काल में दुंढी ने ५ हजार ५ सौ वर्ष तक पचा भोजन करके तप किया था ; तभी से वह स्थान दुंढप्रयाग करके प्रसिद्ध हो गया । जो मनुष्य सोमवती अमावस को उस तीर्थ में स्नान करता है, उस को सब पुण्य और संपूर्ण यज्ञ करने का फल लाभ होता है । वहां सूर्य और चंद्रग्रहण में स्नान करने से मनुष्य लोक में धन्य हो जाता है । शिवप्रयाग से पूर्व गंगाके दक्षिण तट पर एक वाण के अंतर में शिव कुंड तीर्थ है, जहां शिव जी जल में निवास करते हैं ।

(१४ वां अध्याय) राजराजेश्वरी पीठ से कोस के अष्टांश भाग पर मनोहरी नामक पवित्र नदी है । उस से ४ वाण ऊपर देववती नदी, देववती से ५ वाण ऊपर मधुमती नदी, मधुमती से ४ वाण ऊपर मनोन्मती नदी, मनोन्मती से २ वाण ऊपर किलकिलेश्वर महादेव और किलकिलेश्वर से ऊपर जीवन्ती नामक नदी है । जीवन्ती नदी के ऊपर उत्तर दिशा में सब कामना को देने वाला इन्द्र कील पर्वत है । पूर्व काल में उस स्थान पर दुष्ट दैत्योंके द्वारा इन्द्रकीले गएथे, (अर्थात् दैत्यों के भय से वहां छिप कर रहें) इस लिये उस पर्वत का नाम इन्द्रकील होगया । (श्रीनगर की प्राचीन कथा देखो) पर्वत के शृंग पर कपिल नामक शिव लिंग है ।

श्रीनगर ।

भीलेश्वर से १ मील आगे अलकनन्दा पर लोहे का लटकाल पुल है । अलकनन्दा के दहिने किनारे पर पुल के निकट टिहरी के वर्तमान नरेश महाराज कीर्तिशाह की बसाई हुई नई बाजार और नई बस्ती है । उस पुल के पास से एक रास्ता पश्चिमोत्तर टिहरी को, दूसरा रास्ता पूर्व-दक्षिण पौड़ी को और तीसरा मार्ग पश्चिम-दक्षिण टिहरी के राज्य में अलकनन्दा के दहिने किनारे होकर देवप्रयाग को गया है ।

भीलेश्वर के मन्दिर के १ मील आगे से अलकनन्दा और पर्वत के बीच में १ मील लंबा वालू का मैदान हो गया है। अलकनन्दा के किनारे पक्का घाट कई धर्मशाले, टिहरी के राजा का पुराना मकान, काठ और पत्थर से बना हुआ श्रीनगर का बाजार और बहुतेरे देवमन्दिर थे, जिन में से बहुतेरे सन १८९४ की बाढ़ से बह गए और बहुतेरे वालू में दब गए। टूटे हुए अथवा वालू में गड़े हुए कई मन्दिर देख पड़ते हैं। उस समय श्रीनगर में ४२ फीट ऊंचा पानी बढ़ा था। अलकनन्दा में अर्जुनशिला नामक एक चट्टान और उस के किनारों पर अनेक पवित्र स्थान और वालू के मैदान के दोनों तरफ पर्वत पर अनेक वास्तियां हैं।

वालू के मैदान के बाद कमलेश्वर महादेव का मन्दिर मिलता है। १२ खंभो की गुम्फजदार बारहदरी के भीतर ६ पहल वाला गुम्फजदार एक छोटा मन्दिर है। प्रत्येक पहल में एक जालीदार किवाड़ लगी है, जिस के भीतर कमलेश्वर महादेव का खण्डित लिंग है। मन्दिर के आगे पीतल से जड़ा हुआ बड़ा नन्दी, चारो ओर मकान और एक कोने पर ऊंचा घंटा घर है। यह मन्दिर ऊंची जमीन पर है इस लिये बाढ़ के समय बहने से बच गया। कार्तिक शुक्ल १४ को यहां मेला होता है। बहुतेरे लोग रात भर दीपक जलाते हैं। कमलेश्वर के अलावे श्रीनगर में किलकेश्वर, नागेश्वर और अष्टावक्र महादेव तथा राजराजेश्वरी भगवती के मन्दिर हैं।

कमलेश्वर के मन्दिर से १ मील से अधिक पूर्वोत्तर देवप्रयाग से १८ मील, हृषीकेश से ६० मील और हरिद्वार से ७२ मील दूर अलकनन्दा के किनारे ऊंची जमीन पर नया श्रीनगर बसा है। वहां अलकनन्दा और पर्वत के बीच में चौरस मैदान है, जिस के बीच में चौड़ी सड़क के बगलों पर दो घंजिले पक्के मकान बने हुए हैं और अब भी बन रहे हैं। वहां कपड़े, चर्तन, कम्बल, जूते, घेवे, विसाती की चीजें, गोमयत्ती, छाता, कस्तूरी आदि पर्वती चीजें, मसाले आदि सब वस्तु मिलती हैं। नोट बाजार में बिक सकता है नाई और धोबी भी वहां रहते हैं। वहां एक बड़ा अस्पताल, जिसमें गरीब रोगियों को सरकार से खाना और उसमें रहने की जगह मिलती है; पुलिस

की चौकी; एक धर्मशाला और डाकखाना है। वहां तक तार भी बन गया है। वहां आम के बहुत वृक्ष देखने में आते हैं और बैल गाड़ी भी चलती हैं। श्रीनगर की नई बस्ती के पास अलकनन्दा के करारे के नीचे एक झरना है। पानी अलकनन्दा और झरना का मिलता है। श्रीनगर गढ़वाल जिले में अलकनन्दा के बाएँ किनारे पर उस जिले में सब से बड़ा कसबा है। सन १८८१ की जन-संख्या के समय उस में २१०० मनुष्य थे। वह एक समय गढ़वाल के राजाओं की राजधानी था। नजीबाबाद से श्रीनगर में माल और जिन्स भेड़, बकरे और खच्चरों पर लाद कर जाते हैं।

बहुत लोग श्रीनगर से टिहरी होकर, जो वहां से २८ मील है, गंगोत्तरी जाते हैं। टिहरी से ९६ मील गंगोत्तरी है (हृषीकेश के वृतांत में देखो)।

श्रीनगर से एक मांग पौड़ी होकर नजीबाबाद को ओर दूसरा टिहरी राजधानी होकर सहारनपुर को गया है। उन दोनों का वृतांत नीचे है।

श्रीनगर से पौड़ी होकर नजीबाबाद का मार्ग। श्रीनगर से फासिला;— मील, टिकने का स्थान।

७ पौड़ी।

१७ अधवानी।

२९ बागघाट।

४१ डाडा मण्डी।

५३ कोटद्वार।

६८ नजीबाबाद (रेलवे स्टेशन)।

इन सब जगहों में धर्मशालाएं बनी हैं और दुकानों पर सब चीजें मिल सकती हैं। पौड़ी और कोटद्वार में तार घर है। कोटद्वार में पुलिस का थाना और अस्पताल है। कोटद्वार से नजीबाबाद

तक बैल गाड़ी की सड़क है। कुछ यात्री नजीबाबाद से श्रीनगर आकर के कदारनाथ और बदरीनाथ जाते हैं।

श्रीनगर से टिहरी होकर सहारनपुर का मार्ग। श्रीनगर से फासिला;— मील, टिकने का स्थान।

५ मलेथा।

७ हांगचौरा।

११ तिलोकी।

१४ ढालंगी।

१८ पौ।

२८ टिहरी।

३७ कौड़िया।

४१ कानाताल।

४४ कदू खाल ।

४९ धनौल्टी ।

६१ लधौरा ।

६७ राजपुर ।

७३ मंसूरी ।

७९ देहरादून ।

८६ असरोरी ।

९३ मोहन ।

१०६ फतेहपुर ।

१२१ सहारनपुर (रेलवे स्टेशन) ।

इन सब जगहों में धनियों की दुकानें और पानी मिलता है । डांगचौरा, पौ, टिहरो, कौड़िया, धनौल्टी, लन्धौरा, राजपुर, मंसूरी और देहरादून में ढाक बंगले हैं । देहरादून से सहारनपुर तक शिकरम जाती है ।

संक्षिप्त प्राचीन कथा—स्कंद पुराण—(केदारखंड, उत्तर भाग, पहला अध्याय) श्रीक्षेत्र (अर्थात् श्रीनगर) का स्थूल रूप कोलोत्तमांग से कोल कलेवर तक चार योजन लंबा और तीन योजन चौड़ा ; सूक्ष्म रूप जीवनेंद्रपुर से वरसवता नदी तक और अति सूक्ष्म रूप खांडव नदी से शितिपुर तक है । श्रीक्षेत्र में देवता लोग सर्वदा निवास करते हैं । वहां मृत्यु होने से जन्म मरण का बंधन छूट जाता है । वहां भगवान शंकर शिवा के सहित सर्वदा विद्यमान रहते हैं । पूर्वकाल में तारकासुर ने इन्द्रादिक देवताओं को स्वर्ग से निकाल दिया था, तब वे लोग संपूर्ण पृथ्वी में भ्रमण करके केदारेश्वर क्षेत्र में, जहां तारकासुर का भय नहीं था, आए । इन्द्र ने इन्द्रकील पर्वत पर निवास किया । उसके दक्षिण भाग में कीनाश पर्वत पर यमराज ने अपना गृह बनाया । इसी प्रकार से संपूर्ण देवता उसके आस पास अपना अपना निवासस्थान बना कर रहने लगे । कितने युगों के उपरांत वे लोग शिव की आराधना करके स्वामकार्तिक को पाकर फिर स्वर्ग में आए और स्वामकार्तिक को सेनापति बनाकर असुरों को परास्त करके अपने अपने स्थानों को फिर पा गए ।

(दूसरा अध्याय) राजा धर्मनेत्र ने उत्कालक मुनि से पूछा कि श्रीक्षेत्र की उत्पत्ति किस भांति हुई । मुनि कहने लगे कि सत्ययुग में सत्यकेतु नामक प्रतापी राजा हुआ । वह बहुत काल राज्य करने के उपरांत अपने पुत्र सत्यसंध को राज्य देकर इन्द्रकील पर्वत पर गया और गुहा में समाधि लगा कर

होकर तप करने लगा । उसके पश्चात् राजा का शत्रु कोलासुर आया । राजा सत्यसंध घोड़े पर सवार हो नगर से बाहर निकला । गंगा के उत्तर तीर एक योजन की दूरी पर कुबेर पर्वत के दक्षिण भाग में राजा सत्यसंध और कोलासुर का रोमहर्षण युद्ध होने लगा । बहुत काल तक युद्ध होने के उपरांत आकाश वाणी हुई कि हे सत्यसंध ! तुम उत्फालक क्षेत्र के ऊपर के भाग में २. बाण के दूर पर गंगा के दक्षिण तीर में भगवती की आराधना करो; उनके प्रसाद से तुम कोलासुर को मार सकोगे । ऐसा सुन राजा सत्यसंध उस स्थान पर गया और एक शिला पर भगवती का यंत्र लिख कर पूजा करने लगा । एकसौ वर्ष राजा के तप करने के उपरांत भगवती ने राजा को दर्शन दिया । राजा ने वंदन करके जगदम्बा की स्तुति की । भगवती बोली कि हे राजन् ! मैं प्रसन्न हूँ तुम मुझ से इच्छित वर मांगो । सत्यसंध ने कहा कि हे जगदम्बा ! कोलासुर हमारे हाथ से मारा जाय; इस पवित्र क्षेत्र को तुम कभी न त्याग करो और इस क्षेत्र में जो कुछ कर्म किया जाय उसका फल कोटिगुणा होवे । भगवती बोली कि हे सत्यसंध ! तुम्हारे हाथ से कोलासुर का वध होगा; यह क्षेत्र श्रीक्षेत्र के नाम से प्रसिद्ध होगा; यह क्षेत्र संपूर्ण पापों का नाश करने वाला और यहां मृत्यु होने वालों की मुक्ति देने वाला होगा । जो मनुष्य इस क्षेत्र में हमारा पूजन करेगा वह थोड़े ही दिनों में हमारे समान समर्थ होजायगा । मैं शिवजी के इस क्षेत्र में सर्वदा निवास करती हूँ । इस स्थान से आधे कोस की दूर पर गंगा के उत्तर तीर में मैं राजराजेश्वरी के नाम से प्रसिद्ध हूँ । पूर्व समय में राजराज (कुबेर) ने वहां मेरी आराधना की थी तब से मैं वहां निवास करती हूँ । जब कुबेर मेरी आराधना करके संपूर्ण संपत्ति का स्वामी होगया तब उसने ३० करोड़ संयुक्त की देदी बनाकर उसपर मुझे स्थापित किया; तभी से मेरा नाम राजराजेश्वरी करके प्रख्यात हुआ । ऐसा कहकर देवी अंतर्ध्यान होगई । राजा सत्यसंध रण-भूमि में जाकर फिर कोलासुर से युद्ध करने लगा । उसने बड़ा युद्ध होने के उपरांत कोलासुर का सिर काट डाला और उसके सिर और रुण्ड को अलग अलग फेंक दिया । नैऋत्य दिशा में १ योजन पर कोलासुर का सिर और पूर्व भाग में

३ योजन पर उसका रुण्ड जागिरा । यही ४ योजन लम्बा और ३ योजन चौड़ा श्रीक्षेत्र (अर्थात् श्रीनगर) का प्रमाण हुआ । अबतक भी उसके सिर का स्थान कोलसिर करके प्रसिद्ध है और उसके रुण्ड के देश में कोल नामक पर्वत है । इनके मध्य में जो प्राणी शरीर त्याग करता है, उसको शिव लोक प्राप्त होता है ।

(तीसरा अध्याय) कोलासुर के सिर के भाग में मेनका नदी के समीप मैनकेश्वर महादेव हैं । नदी में स्नान करके शिव की पूजा करने से संपूर्ण मनोरथ सुफल होता है । उससे १ कोस दूर देवतीर्थ में भुवकुटेश्वर महादेव स्थित हैं । उस स्थान पर सूर्य, चंद्र और अग्नि नामक ३ धारा बहने में आती हैं । गंगा के उत्तर तीर पर श्यामलानदी बहती है । संगम के निकट शिव-तीर्थ में शिवप्रयाग प्रसिद्ध है, जिसमें स्नान करने से बहुत फल लाभ होता है । उससे १ कोस दूर गजवतीधारा; गजवती से आधे कोस पर गंगा के दक्षिण तट पर पुष्पवंतिका नदी और पुष्पवंतिका से एक वाण दूर गंगा के निकट भानुमती शिला है, जिसके स्पर्श करने से सौन्दर्य प्राप्त होता है । अलकनंदा के समीप इन्द्रप्रयाग है । उसी स्थान पर राज्य भ्रष्ट इन्द्र ने तप करके फिर अपना राज्य पाया । उस स्थान से २ वाण पर वृषद्वती नदी, वृषद्वती से आधे कोस पर अहिर्कंडिका नदी, उससे २ कोस दूर पर्वत के ऊपर कंडिकादेवी हैं । गंगा के उत्तर किनारे पर शक्तिजा नदी के तट में गणेश्वर महादेव; गणेश्वर से आधे कोस पर श्मशान वासिनीदेवी; उससे १ कोस दूर शंखवती और शक्तिजा का संगम और उस स्थान से उत्तर शक्तिजा के पश्चिम के तीर से आधे कोस पर महादेव का मंदिर है । उसी स्थान में सोमवंशीय राजा नहुष ने कठोर तप करके इन्द्र का राज्य पाया था । उससे ऊपर दो कोस प्रमाण का बेवीपीठ है । शक्तिजा के संगम के ऊपर गंगा के दक्षिण तट पर उपेंद्रा नदी का संगम है । उसके ऊपर ४ वाण पर इन्द्र का स्थापित किया हुआ कंडुकेश्वर भैरव हैं ।

(५ वां अध्याय) खाण्डव नदी और गंगा के संगम के निकट शिवप्रयाग है, (भीलेश्वर की कथा में देखो) (९ वां अध्याय) धनुष तीर्थ से २ वाण की दूर पर भैरवी तीर्थ में अनेक नाम की भैरवी रहती हैं । उसके दक्षिण

भाग में २५ धनुष पर भैरवी पीठ है । पूर्व काल में सत्यमंथ नामक राजा ने उस स्थान पर देवी का पूजन किया था, तब से वहाँ देवीजी स्थित होगई । गंगा के उत्तर तीर पर कौबेर कुण्ड है; उसी स्थान पर कुबेर ने देवी की अराधना की थी ।

(१० वां अध्याय) श्रोक्षेत्र में चामुण्डा पीठ, भैरवी पीठ, कांसमर्दिनी पीठ, गौरीपीठ, महिष मर्दिनीपीठ और राजराजेश्वरी पीठ सद्यः प्रभाव को देखलाने वाले हैं । राजराजेश्वरी पीठ और भैरवीपीठ तो मैं कह चुका अब चामुण्डा पीठ की उत्पत्ति की कथा सुनो ।

पूर्व काल में शुम्भ और निशुम्भ दैत्यों ने संपूर्ण देवताओं के अधिकार को छीन लिया था । तब देवताओं ने हिमवान पर्वत पर जाकर पार्वती जी की प्रार्थना की । भगवती पार्वती ने कहा कि तुम सब निर्भय होकर रहो मैं शुम्भ और निशुम्भ को मारूंगी । सब देवता जाकर अपने अपने स्थान में रहने लगे । उसके अनन्तर किसी काल में शुम्भ और निशुम्भ के कर्मचारी चंड और मुण्ड ने देवी को गंगा में स्नान करते हुए देख कर उनके रूप से मोहित हो शुम्भ और निशुम्भ के निकट जाकर उनके रूप का वर्णन किया । शुंभ निशुंभ ने सुग्रीव नामक दूत को देवी के पास भेजा । उसने हिमालय में जाकर भगवती से कहा कि शुम्भ और निशुम्भ दैत्यों का राजा है; यदि तू अपना कल्याण चाहती हो तो उसकी पत्नी बनो । ऐसा नहीं करो गी तो वह तुझ को बलात्कार से लेजायगा । भगवती बोली कि हे दूत ? तुम उससे कहो कि जो मुझ को संग्राम में जीते गा वही हमारा पाणिग्रहण करेगा । सुग्रीव ने शुंभ और निशुंभ के निकट आकर देवी का वचन कह सुनाया । (११ वां अध्याय) दैत्यराज की आज्ञा से धूम्रलोचन दैत्य चतुर्गिनी सेना लेकर हिमालय पर आ भगवती से बोला कि अब मैं तुझ को बांध कर ले जाऊंगा । देवी जी ने क्रोध कर के अपने हुंकारही से उसको भस्म कर दिया । शुम्भ ने धूम्रलोचन की मृत्यु सुन कर बड़ी भारी सेना के साथ चंड और मुण्ड दैत्यों को भेजा । दैत्य की भयंकर सेना देवी के पास आकर नाना प्रकार के अस्त्र शस्त्र चलाने लगी । उस समय इन्द्रादिक देवताओं की किरोड़ी सेना भगवती की सहायता के लिये यहां आकर उपस्थित हुई । देवता और राक्षसों का रोमहर्षण संग्राम

होने लगा । जब चंड और मुण्ड देवीजी के सन्मुख गए, तब क्रोध के मारे अंबिका का मुख इयास वर्ण हो गया । उस समय उनके ललाट से अपने हाथों में तुरन्त का कटा हुआ सिर, खड्ग, चर्म, भाला, शक्ति, पास, धनुष, बाण, इत्यादि अस्त्र शस्त्र लिए हुए शिवा प्रकट होगई । वह दैत्यों का मर्दन करने लगी । कितने दैत्य उनके महानाद से नष्ट होगए; कितने उनकी दृष्टि से मूर्छित हुए; कितनों को उन्होंने ने मार डाला । उसके पश्चात उन्होंने अपने खड्ग से चंड का सिर काट डाला और उसके उपरांत मुंड के कंठ को अपने चरण से दवा कर खड्ग से काट लिया । वह दोनों दैत्यों के सिर लेकर भगवती के समीप आईं । भगवती अति प्रसन्न हो बोली कि हे काली ! तुमने चंड और मुंड को मारा इस कारण से तुम अब से लोक में चामुंडा करके प्रसिद्ध होगी । उसके पश्चात चामुंडा ने दोनों दैत्यों के सिरों को फेंक दिया । श्रीक्षेत्र में ४ बाण की दूर पर गंगा के उत्तर तीर पर ब्रह्मकुण्ड के निकट मुण्ड का सिर और ४ बाण की दूरी पर गंगा के दक्षिण किनारे पर चंड का सिर जा गिरा । चामुंडा उसी क्षेत्र में निवास करने लगी ।

(१२ वाँ अध्याय) श्री क्षेत्र में माहेश्वरपीठ, कमलेश्वर-पीठ, नागेश्वरपीठ, कटकेश्वरपीठ, और कोटीश्वरपीठ संपूर्ण सिद्धि को देने वाले हैं । भैरवी तीर्थ से उर्द्ध्व भाग में २ बाण पर गंगा जी के दक्षिण तट में ब्रह्मा, विष्णु, और महेश्वर ये तीनों देवता शिलारूप से स्थित हैं । प्रत्येक शिलाओं के नीचे उन्हीं नामों से प्रसिद्ध एक एक कुंड है ।

कमलेश्वर की उत्पत्ति इस भांति हुई कि एक समय काशी के रहने वाले ब्रह्मदेव ब्राह्मण ने इस तीर्थ में आकर ५ सहस्र ५ सौ वर्ष पर्यन्त शिवजी का तप किया । तब भगवान् शंकर प्रसन्न हुए । उस समय वहाँ की पृथ्वी फट गई; उस के छिद्र से मणियों का समूह निकला । वह अर्द्धरात्रि का समय था; किंतु उनके प्रकाश से मध्यान्ह सा हो गया । उन मणियों में मरकतमणि का शिव लिंग देख पड़ा । उसी समय शिल्ह नामक मुनि वहाँ आ गए । वह बोले कि हे विप्र ! तुम धन्य हो कि तुम्हारे तप के प्रभाव से यह लिंग प्रकट हुआ । उस समय ब्रह्मदेव और शिल्ह मुनि ने बहुतेरे मुनियों को बुला कर उस

लिंग का अभिषेक करवाया। महादेव शिलहेश्वर नाम से प्रसिद्ध हुए। शिल्ह मुनि शिवलोक में गये। उस के पीछे किसी समय श्रीरामचन्द्रजी नित्य १०० कमलों से शिव की पूजा करते थे। तभी से वह लिंग कमलेश्वर नाम से प्रख्यात हो गया। वन्हिपर्वत के नीचे के भाग में ४ वाण पर कमलेश्वर महादेव हैं। उन से ऊपर एक वाण पर विष्णु तीर्थ और विष्णु तीर्थ से १ कोस की दूरी पर गंगा के दक्षिण तट में नागेश्वर महादेव हैं, जहाँ पूर्व काल में नागों ने शिव का तप किया था। कटकवती के संगम से आधे कोस पर कटकेश्वर महादेव हैं। शिवजी के साथ क्रीड़ा करते हुए पार्वतीजी का कटक अर्थात् कर्णभूषण गिर गया इस लिये शिव का नाम कटकेश्वर पड़ा।

(१३ वां अध्याय) कमलेश्वरपीठ से ऊपर दक्षिण दिशा में वन्हि पर्वत है, जहाँ अग्नि ने शिव जो का तप करके संपूर्ण इच्छित फल पाया था। तभी से वह सब देवताओं का मुख हो गया। वन्हि पर्वत के नीचे वन्हि धारा और वन्हिधारा के ऊपर वन्हि पर्वत के मध्य में अष्टानुक्रमुनि का पवित्र तपस्थल है।

(१५ वां अध्याय) कंस को मारने वाली देवी श्रीभेत्त में कंसमर्दिनी नाम से निवास करती है। गंगा के दक्षिण तीर पर श्रीशिला है। गंगा के १॥ कोस पर चैतवती नदी के पश्चिम भाग में चारो ओर एक एक कोस के गमण में पुण्यक्षेत्र गौरीपीठ है, जहाँ ब्रह्मादिक देवताओं ने परम सिद्धि पाई है। रत्नद्वीप के रहने वाले शशविन्दु के पुत्र राजा देवल ने इस स्थान में गौरी का स्थापन किया था; तभी से यह महापीठ हो गया। गौरी के निकट महिष-मर्दिनी देवी है, उसी स्थान में कालिका देवी का परम पावनपीठ है। प्रथम कालिका का पूजन करना चाहिए।

पौड़ी

श्रीनगर से ७ मील पूर्व-दक्षिण गढ़वाल जिले का सदर स्थान पौड़ी एक पहाड़ी बस्ती है। वह समुद्र के जल से लगभग ५००० फीट ऊपर स्थित है। वहाँ का जल वायु स्वास्थ्य कर है। वहाँ गढ़वाल जिले का प्रधान हाकिम डिपुटी कमिश्नर रहते हैं।

टिहरी

श्रीनगर से ३२ मील पश्चिमोत्तर गंगा के बाएँ किनारे पर पश्चिमोत्तर देश के गढ़वाल जिले में एक देशी राज्य की राजधानी टिहरी है। टिहरी से उत्तर एक रास्ता उत्तरकाशी और भटवारी होकर गंगोत्तरी को और दक्षिण दूसरा रास्ता राजपुर, मंसूरी, देहरादून और हृषीकेश होकर हरिद्वार को गई है। टिहरी राजधानी की आबादी सन् १८८१ की मनुष्य-गणना के समय लगभग १८००० थी। वर्तमान राजा की माता ने सन् १८४९ में भागीरथी की धारा के समीप बदरीनाथजी का सुन्दर मन्दिर बनवाया, जहाँ बड़ा उत्सव होता है।

टिहरी राज्य का क्षेत्रफल ४१८० वर्ग मील और इसकी आबादी सन् १८९१ के अनुसार २४०८८९ और मालगुजारी १४२००० रुपये हैं। यह राज्य अंगरेजी गढ़वाल जिले के पश्चिम हिमालय के दक्षिण ढालू भूमि पर है। इसमें ऊँचे पहाड़ों का एक बड़ा सिलसिला, जिसमें कई खादियाँ हैं, देख पड़ती हैं। अंगरेजी राज्य और टिहरी राज्य की सीमा पर गंगा अलकनन्दा और मंदाकिनी नदियाँ बहती हैं। राज्य का बड़ा हिस्सा कीमती जंगल से भरा हुआ है।

टिहरी के राजवंश क्षत्री है। चांदपुर के राजा अजयपाल ने छोटे छोटे राजाओं को अपने अधिकार में करके गढ़वाल राज्य को नियत किया और श्रीनगर को अपनी राजधानी बनाया। उसके वंश वाले, जो चांद घराने के नाम से प्रसिद्ध हैं, सन् ई० की उन्नीसवीं शदी के आरंभ तक मुगल बादशाहों को थोड़ा खिराज देकर संपूर्ण गढ़वाल में राज्य करते थे। गोरखे लोग सन् १८०३ ई० में चांद घराने के राजा मानशाह को जीत कर गढ़वाल पर राज्य करने लगे। सन् १८१५ ई० में अंगरेजी सरकार ने गोरखों को परास्त करके गढ़वाल के अलकनन्दा की घाटी का देश, जो अब अंगरेजी राज्य का गढ़वाल जिला बना है, अपने राज्य में मिला लिया और शेष राज्य राजा मानशाह के पुत्र राजा सुदर्शनशाह को दे दिया। सुदर्शनशाह के पुत्र राजा भगवानशाह, और भगवानशाह के पुत्र राजा प्रतापशाह हुए। राजा प्रतापशाह

के पुत्र टिहरी के वर्तमान नरेश १८—२० वर्ष की अवस्था के महाराज कीर्ति-शाह हैं । टिहरी राजवंश के साथ नेपाल राजवंश का विवाह होता है । बदरीनाथ के मंदिर का प्रबंध पहले टिहरी के राजा लोग करते थे और वे लोग श्रीनगर में रहते थे; उस समय यात्रीलोग उनका दर्शन करते थे । अब तो कई वर्षों से बदरीनाथ के मंदिर का प्रबंध अंगरेजी सरकार के अधीन है ।

रुद्रप्रयाग

भट्टीसेरा चट्टी—श्रीनगर से आगे २ मील पर श्रीकोट वस्ती; ३ मील पर झरना का पुल, और डाक ढोने वालों की कोठरी; अलकनन्दा के उस पार ४ मील पर एक वस्ती; ४½ मील पर एक ढोके में गुफा; ५ मील पर सुकृतीचट्टी में एक कोठरी, दूध की दुकान, एक झरना और एक गुफा; ६½ मील पर बड़े झरने का पुल; ७½ मील पर १ वस्ती और ८½ मील पर भट्टीसेराचट्टी है ।

भट्टीसेराचट्टी पर—खुला हुआ एक बड़ा झरना और आठ दस छप्पर के, मोदियों के नए मकानात हैं ।

श्रीनगर से यहाँ तक मार्ग सुगम है और जगह जगह खेत के मैदान देख पड़ते हैं । सुकृतीचट्टी के कुछ आगे से पुरानी सड़क, जिस पर कल्याणचट्टी थी, बाढ़ से वह गई है । उस के सामने नदी के पार द्रौपदी शिला है ।

भट्टीसेरा से आगे १½ मील पर छान्तीखाल नामक एक छोटी चट्टी और एक बहुत छोटा झरना, २½ मील पर एक गुफा और ३ मील पर खांकरा चट्टी है ।

खांकराचट्टी—यहाँ झरने के ऊपर बल्लों से पाटा हुआ १ पुल और झरने के दोनों ओर छप्पर के मकानात हैं । भट्टीसेरा से १½ मील की कठिन चढ़ाई पड़ती है ।

खांकराचट्टी से आगे ३ मील पर नरकोटा नामक एक छोटी चट्टी और एक बड़ा झरना और ५½ मील गुलावराय चट्टी है ।

गुलाबरायचट्टी—यहाँ पाँच छः पक्की दुकानें, एक झरना, थोड़ा सा मैदान और केलों की झाड़ हैं ।

खांकरा चट्टी से एक मील कड़ी चढ़ाई के पीछे एक शिखर से बहुत नीचे अलकनन्दा देख पड़ती हैं । नरकोटा चट्टी तक २ मील उतराई है । नरकोटा से आगे १ मील की चढ़ाई पर भेड़ बकरीयों का टिकान है । वहाँ से १ मील बराबर कठिन उतराई है ।

गुलाबराय चट्टी से १ मील आगे २ धर्मशाले, आम्र वृक्षों के नीचे टिकने की जगह और थोड़ासा मैदान है । वहाँ से रुद्रप्रयाग का शिव मन्दिर देख पड़ता है । उससे आगे एक छोटी नदी पर काठ का छोटा पुल और नदी में पनचक्की के ३ मकान हैं ।

रुद्रप्रयाग—गुलाबरायचट्टी से ११ मील, श्रीनगर से १९ मील, देव-प्रयाग से ३७ मील और हरिद्वार से ९१ मील पर अलकनन्दा के बाएँ किनारे पर अलकनन्दा और एक छोटी नदी के संगम के पास रुद्रप्रयाग का बाजार है । मैं हरिद्वार से चलने पर दसवें दिन रुद्रप्रयाग पहुँचा ।

यहाँ सन १८९४ की बाढ़ के समय अलकनन्दा का पानी १४० फीट ऊँचा चढ़ आया था । उस समय यहाँ की सम्पूर्ण बाजार बह गया और धर्मशालाएं लुप्त हो गईं । अब बाजार के स्थान से ऊपर पन्द्रह बीस बड़े बड़े मकान बने हैं । यहाँ जिन्स की दुकानों के सिवाय कपड़ा, वस्त्र और पूरी की भी एक एक दुकान है । खड़ी उतराई से उतर कर अलकनन्दा में स्नान होता है । पीने के लिये छोटी नदी से पानी आता है ।

रुद्रप्रयाग के बाजार के पास २०० फीट लम्बा और ६ फीट चौड़ा अलकनन्दा पर लोहे का एकलटकाल पुल (झूला) है । केदारनाथ को छोड़ कर बदरीनाथ जाने वाले यात्री विशेष कर आचारी लोग यहाँ से सीधा आगे अलकनन्दा के बाएँ किनारे कर्णप्रयाग, नन्दप्रयाग, चमोली होकर अलकनन्दा के किनारे किनारे बदरीनाथ जाते हैं और केदारनाथ के यात्री यहाँ से पुल पार होकर रुद्रनाथ के मन्दिर से आगे मन्दाकिनी नदी के किनारे किनारे

केदारनाथ पहुँचते हैं और केदारनाथ से नालागांव चट्टी पर लौट कर उखीमठ, गोपेश्वर और चमोली होकर बदरीनाथ को जाते हैं । रुद्रप्रयाग से २१ मील कर्णप्रयाग ३३॥ मील नन्दप्रयाग, ४०^१/_२ मील चमोली, जोशीमठ छोड़ कर के ६८^१/_२ मील विष्णु प्रयाग और ८४^१/_२ मील बदरीनाथ हैं और रुद्र-प्रयाग से दूसरी ओर मंदाकिनी के किनारे पर २४ मील गुप्तकाशी, ४०^१/_२ मील पर त्रियुगीनारायण, ४३ मील सोनप्रयाग, ४६ मील गौरीकुंड और ५५ मील पर केदारनाथ हैं ।

मैं लोहे का पुल पार होकर केदारनाथ को चला । पुल सै १^१/_२ मील आगे अल-कनन्दा और मन्दाकिनी नदी के संगम पर एक छोटे गुम्फजदार मन्दिर में रुद्र-नाथ शिव लिंग हैं । मन्दिर के आगे जगमोहन की जगह पर एक कोठरी है । एक कोठरी में नारदेश्वर शिव और दूसरी कोठरी में कामेश्वर शिव लिंग हैं । खड़ी सीढ़ियों में उतर कर संगम पर स्नान होता है । यहां जल का वेग तेज है । रुद्रनाथ के मन्दिर के पास एक डाक खाना और मन्दिर से थोड़ी दूर मन्दाकिनी नदी पर रस्सों का झूला है । लोहे के लटकाने पुल के समान इस ओर रस्सों का झूला होता है । यह चढ़ने से डोलता है, इस लिये इसको लोग झूला कहते हैं । इस में लोहे के बरहों की जगह पर रस्से के बरहे रहते हैं । झूले के दोनों बगलों पर लोहे की छड़ों की जगह ओरचन के समान रस्सियां लगाई जाती हैं और पाटन के तख्तों के स्थान पर जंगल की लकड़ों के टुकड़े बिछाए जाते हैं । ऐसे झूलों पर यात्री लोग बोझ लेकर नहीं चल सकते । पहाड़ी लोग इनकी वस्तुओं को दूसरे किनारे पहुँचा देते हैं ।

रुद्रप्रयाग, जो पंचप्रयागों में से एक है, देवप्रयाग के बाद मिलता है । रुद्रप्रयाग ही में श्रीमहादेवजी ने महर्षि नारदजी को संगीत विद्या की शिक्षा दी थी ।

संक्षिप्त प्राचीन कथा—स्कंदपुराण—(केदारखण्ड, प्रथम भाग, ६३ वां अध्याय) पूर्व काल में महामुनि नारदजी ने रुद्रप्रयाग में मंदाकिनी गंगा के तट पर, जहां शेषादिक नागों ने तप करके सदाशिवजी के भूषण वन गए थे, एक चरण से खड़े हो कर १०० वर्ष पर्यंत महादेवजी का कठिन तप कि-

या । तब भगवान् शिव श्रीपार्वतीजी के साथ नंदी पर चढ़े हुए प्रकट हुए और बोले कि हे नारद ! अब तुम्हारा तप पूर्ण होगया । उसी समय श्रीमहादेवजी ने ६ रागों को उत्पन्न किया । एक एक राग की पांच पांच रागिनियां (स्त्रियां) और आठ आठ पुत्र तथा आठ आठ पुत्र वधू हुईं । (६४ वां अध्याय) नारद ने सदाशिवजी के सहस्र नाम से स्तुति की । (६५ वां अध्याय) महादेवजी ने कहा कि हे नारद ! मैं प्रसन्न हूँ तुम इच्छित वर मांगो । नारदजी बोले हे वृषध्वज ! यदि आप प्रसन्न हैं तो मुझको संगीत विद्या प्रदान कीजिए; आप नाद रूप हो और नाद आप को परम प्रिय है इस लिये मैं उसको जानना चाहता हूँ; संगीत शास्त्र का सर्वस्व मुझको आप सिखलाइए; इसका जाननेवाला आप के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है । ऐसा नारद के वचन सुन कर शिवजी प्रसन्न होकर नाद के शास्त्र का संपूर्ण भेद उनसे कह दिया । (यहां नाद शास्त्र की कथा ६५ वें अध्याय से ७७ वें अध्याय तक है) । (७७ वां अध्याय) महर्षि नारद नादों का संपूर्ण भेद और आवरणों को और महादेवजी की दी हुई पवित्र वीणा को ग्रहण कर ब्रह्मलोक में गए । शिवजी वहांही अन्तर्धान हो गए । नारदजी ने अलङ्कनन्दा और मंदाकिनी के संगम के निकट रुद्रतीर्थ में स्नान करके परम सिद्धि को प्राप्त किया था इस लिये यह तीर्थ पृथ्वी में श्रेष्ठ है । उस प्रदेश में ३ लाख १० सहस्र तीर्थ विद्यमान हैं और नाग पर्वत स्वर्ग के समान है ।

(उत्तर भाग, १८ वां अध्याय) गंगा और मंदाकिनी के संगम के समीप रुद्रक्षेत्र और मंदाकिनी और लशनदी के संगम के निकट सूर्यप्रयाग है ।

बड़ा शिवपुराण, उर्दू अनुवाद—(८ वां खण्ड, १५ वां अध्याय) । वेद-प्रयाग के उत्तर रुद्रप्रयाग में रुद्रेश्वर शिवलिंग है, जिस की पूजा करने से संपूर्ण पाप दूर होजाता है ।

तीसरा अध्याय ।

(गढवाल के जिले में) शोणितपुर, गुप्तकाशी, नारा-
यणकोटी, धामाकोटी, शाकंभरी दुर्गा, त्रियुगी-
नारायण, मुण्डकटागणेश, गौरीकुण्ड,
चौरबासा भैरव और केदारनाथ ।

शोणितपुर

छितौलीचट्टो—अलकनन्दा और मन्दाकिनी के संगम से आगे मन्दाकिनी के बाएँ किनारे से चलना पड़ता है । मन्दाकिनी के दहिनी ओर टिहरी का राज्य और बाएँ ओर अंगरेजी राज्य है । रुद्रप्रयाग के मन्दिर से आगे १ मील पर पीपल के पेड़ के चारो ओर मैदान और एक छोटा झरना; १½ मील पर एक दूसरा छोटा झरना; २½ मील पर एक गुफा, एक छोटा झरना और मन्दाकिनी के दहिनी ओर एक वस्ती; बाद कई झरने और ४ मील पर तिलवाड़ा चट्टी है ।

वहाँ पत्थर से छाया हुआ बंगले के समान एक सरकारी धर्मशाला, फूस की टट्टी की कई दुकानें और एक झरना है ।

तिलवाड़ा चट्टी से आगे १ मील पर तिलवाड़ा वस्ती, केलों का झाड़, खेत की भूमि और मन्दाकिनी पर रस्सों का झूला; १ मील पर एक छोटा झरना, उस पार खेत और कई मकान; १½ मील के सामने उसपार मन्दाकिनी और एक छोटी नदी का संगम; १½ मील पर दो दुकानें और २½ मील पर रामपुरचट्टी है ।

रामपुरचट्टी—रुद्रप्रयाग से वहाँ तक रास्ता सुगम और जगह जगह ढोंकों की नीची ऊँची सीढ़ियाँ हैं । वहाँ कई एक पक्की और फूस की दुकानें हैं । मन्दाकिनी और झरनों का पानी मिलता है और किनारे पर बड़े बड़े पत्थर के ढोंके पड़े हैं ।

रामपुरचट्टी से आगे १ मील पर बड़े झरने का पुल; १½ मील पर खड़ी पहाड़ी से गिरता हुआ पानी का झरना; १½ मील पर एक छोटे मन्दिर में शिव लिंग और एक कोठरी, जहाँ से अनेक तरह के विचित्र लते और वृक्षों के सघनवन का दृश्य आरंभ होता है; २ मील पर एक झरना; २½ मील पर मन्दाकिनी नदी का घाट और मैदान; ३ मील एक नदी पर काठ का पुल और एक पन चक्की; और ३½ मील पर अगस्तचट्टी है ।

अगस्तचट्टी—यहाँ दुकानदारों के करीब १५ पक्के मकान, एक पक्की धर्मशाला, मन्दाकिनी का पानी और चट्टी के दोनों तरफ सुन्दर मैदान है ।

चारो तरफ के मकानों के बीच में अगस्त जी का मन्दिर है । अगस्त जी की ताम्रपयी बड़ी मूर्ति के बगल में कटार और उन के दोनों ओर दो शिष्यों की ताम्र की मूर्तियाँ और पासही नवग्रह हैं । मन्दिर के आगे जग-मोहन की जगह पर लम्बी कोठरी में गणेशजी की पुरानी मूर्ति और घंटा और मन्दिर के दहिनी ओर एक कोठरी में शिव लिंग है ।

मन्दिर के पास द्वादश वार्षिकी यज्ञ हो रहा था (जो १२ वर्ष पर होता है) । मन्दिर के आगे यज्ञशाले में अगस्तजी की पीतल की चल मूर्ति, जो उत्सव के समय में बाहर निकाली जाती है, रक्खी हुई थीं । यज्ञ कुण्ड और मट्टी की यज्ञ मूर्ति बनी थी । ऐसे यज्ञ पहले बहुत होते थे । महाभारत आदि पर्व के ४ थे अध्याय में है कि लोमहर्षण के पुत्र उग्रश्रवाजी नैमिषारण्य में शौनकजी के द्वादश वार्षिकी यज्ञ में गए थे ।

मन्दाकिनी के उस पार वहाँ से २ मील पर शिलेश्वर महादेव हैं । लोग कहते हैं कि अगस्त जी ने उसी स्थान पर तप किया था ।

अगस्तचट्टी से पूर्व की ओर चमोली तक एक पहाड़ी मार्ग गया है । बकरी भेड़ लादने वाले व्यापारी जिन्स लेकर उस मार्ग से आते जाते हैं । चट्टी से केदारनाथ की ओर हिम मण्डित पर्वत शिखर दृष्टिगोचर होता है ।

अगस्तचट्टी से आगे १ मील पर दो मंजिला धर्मशाला और मन्दाकिनी पर बरहे का झूला; १½ मील पर एक झरना, जिस के आगे छोटे छोटे ३ और झरने हैं और २½ मील पर महादेवचट्टी है ।

महादेवचट्टी—वहां २ कोठरियों में २ शिव लिंग, १ धर्मशाला, आठ दस पक्की दुकानें, दो झरनें, मन्दाकिनी का पानी और आस पास तमाकू के खेत हैं। चट्टी से थोड़ाही आगे एक छोटी नदी मिलती है।

महादेव चट्टी से आगे १ मील पर एक बड़े झरने के ऊपर काठ का पुल और मन्दाकिनी के उसपार एक बस्ती में एक छोटा मन्दिर; १ मील पर चार मकान की चन्द्रापुरी की छोटी चट्टी; आगे खड़े पहाड़ से गिरता हुआ झरना; और ११ मील चन्द्रापुरी है।

चन्द्रापुरी—चन्द्रापुरी में मोदियों की बड़ीबड़ी और पक्की ८ दुकानें हैं, जिन में बहुत से यात्री ठिक सकते हैं। कोठरी के समान छोटे मन्दिर में चन्द्रेश्वर नामक अनगढ़ शिवलिंग है। मन्दिर के जगमोहन की जगह पर एक कोठरी है। एक नदी आकर मन्दाकिनी से मिली है। ४ पनचक्की हैं। चट्टी के पास थोड़ा सा मैदान है। लोहे और ताँबे के कड़ा और अंगूठी बेचने वाला एक लोहार की दुकान है।

चन्द्रापुरी से १ मील आगे मन्दाकिनी पर रस्सों का झूला, उस पार की बस्ती में एक छोटा मन्दिर और केलों का झाड़; १ मील पर एक छोटा झरना ११ मील पर एक दूसरा झरना; २ मील पर अर्जुन का तीर अर्थात् जोते हुए खेत में टेढ़ा गड़ा हुआ पत्थर का कोरदार पतला खंभा; २१ मील पर एक झरना और उस पार मन्दाकिनी और डमार नदी का संगम; २१ मील पर कड़ा और अंगूठी बनाने वाले लोहार की एक दुकान और केलों के झाड़; और ३ मील पर भीरीचट्टी है।

भीरीचट्टी—वहां मन्दाकिनी के दोनों किनारों पर मोदियों के पांच सात मकान और पानी के झरने; बाएँ किनारे पर बंगला के समान सरकारी एक पक्की धर्मशाला, खेत का चौरस मैदान और कई पन चक्कियां हैं। धर्मशाले के दहिनी ओर एक कोठरी में २१ हाथ ऊंची भीम की मूर्ति हाथ में गदालिए हुये है। पासही दूसरी कोठरी में सत्य नारायण की सुन्दर चतुर्भुजी मूर्ति है, जिसके दोनों ओर ओर ऊपर ३ पत्थर में खुदी हुई लगभग छोटी ३६ मूर्तियां हैं।

मन्दाकिनी के ऊपर ७० फीट लम्बा और ५ फीट चौड़ा लोहे और काठ का लटकाऊ पुल है। पुल पर सन् १८८९ ई० लिखा है। वहाँ से मन्दाकिनी के बाएँ किनारे की सड़क उखी मठ को और दहिने की गुप्त काशी हो कर केदारनाथ को गई है। केदारनाथ के यात्री यहाँ से पुल पार होकर मन्दाकिनी के दहिने किनारे से चलते हैं। रामपुर चट्टी से यहाँ तक सुगम रास्ता है। जगह जगह थोड़ी चढ़ाई उतराई मिलती है। वहाँ से मन्दाकिनी के दहिनी ओर भी अंगरेजी राज्य है।

भीरीचट्टी से आगे १ मील पर बड़ा झरना; आगे एक कोठरी में एक देवता की मूर्ति, विचित्र चट्टान, खड़ा पर्वत और हरित जंगल; १ १/२ मील आगे एक बड़ा झरना और भिक्षु की कोठरी में सत्यनारायण की मूर्ति; १ १/२ मील कौनियादाना की उजाड़चट्टी और कड़ा और अंगूठी बेचनेवाले की दुकान; २ १/२ मील पर एक झरना; ३ १/२ मील पर कुण्ड चट्टी में फूस टट्टी की कई दुकानें और मन्दाकिनी का जल; ४ मील पर एक छोटी नदी; और ४ १/२ मील पर और एक भिक्षु की कोठरी में गरुड़ की मूर्ति है।

कौनियादानाचट्टी के १ मील आगे से रिगाल (नरकठ) का जंगल जगह जगह देख पड़ता है, जिस से तराय, डोलची, और टोकरी इत्यादि बनती हैं और वह मकान के छप्पर के काम में आता है और उसका कलम भी बनता है। कुण्ड चट्टी के १ मील आगे से चढ़ाई आरंभ होती है।

शोणितपुर—कुण्डचट्टी के एक मील आगे जहाँ भिक्षु की कोठरी है, पहाड़ के ऊपर शोणितपुर को ३ मील की एक पगदण्डी गई है। वहाँ वाणासुर के गढ़ की निशानी और वाणासुर, अनिरुद्र और पंचमुखी महादेव की मूर्तियाँ हैं केदारनाथ के पण्डे शोणितपुर ही में रहते हैं।

संक्षिप्त प्राचीन कथा—वामन पुराण—(९२ अध्याय) राजावलि के रसातल जाने के उपरान्त उसका पुत्र वाणासुर पृथ्वी में शोणिताख्यपुर रचकर दानवों के साथ रहने लगा।

श्रीमद्भागवत—(दशमस्कन्ध—६२ वां अध्याय) राजावलि के १०० पुत्र उत्पन्न हुए, जिनमें से उसका ज्येष्ठ पुत्र वाणासुर शोणिताख्यपुर में राज्य

करता था । शिवजी उसके तांडव गति के नृत्य से प्रसन्न हो, उसकी इच्छानुसार अपने कुल समेत उसके घर में स्थित हुए । एक समय वाणासुरने शिवजी से कहा कि आप के अतिरिक्त मुझसे युद्ध करनेवाला दूसरा कोई नहीं देख पड़ता । बिना युद्ध किये मेरी भुजायें खुजलाती हैं इस लिये कृपाकरके आप मुझसे युद्ध कीजिए । तबतो शिवजी क्रुद्ध होकर बोले कि मेरे समान बलवान से जब तेरा युद्ध होगा तब तेरा गर्व टूट जायगा ।

वाणासुर की ऊखा नामक एक कन्या थी । स्वप्नमें अनिरुद्ध के साथ उसका समागम हुआ । जागनेपर वह दे कान्त तुम कहाँ गए इस प्रकार पुकारती पुकारती सखियों के बीचमें गिर पड़ी । तब वाणासुर के मंत्री कुभाण्डक की पुत्री चित्ररेखा देवता मनुष्य सब के चित्र लिख कर उसको देखलाने लगी । अन्तमें अनिरुद्ध का चित्र देखकर ऊखाने कहा कि मेरा चित्त चोर तो यहो है । तब योग बलसे चित्ररेखा आकाश मार्ग से होकर द्वारिकापुरी में जा पहुँची । उस समय अनिरुद्ध पलंग पर सो रहथे उसे वह योग बलसे उठा कर शोणितपुर में ले आई । वे दोनों गुप्त भावसे घरमें रहने लगे । कुछ दिनों के पश्चात् वाणासुर ने पहरदारों के मुख से यह वृत्तान्त सुन कन्या के घरमें जाकर अनिरुद्ध को देखा और कुछ युद्ध होने के बाद अनिरुद्ध को नागफाँस से बान्ध लिया ।

(६३ अध्याय) वर्षाऋतु के ४ महीने बीत जाने पर नारदजी ने द्वारिका में आकर श्रीकृष्णचंद्र से अनिरुद्ध के कारागार का समाचार सुनाया । तब श्रीकृष्णचन्द्रने बड़ी भारी सेना के साथ जाकर वाणासुर के नगर को घेर-लिया । अपनी सेना लेकर वाणासुरभी पुर से बाहर निकला और उसकी सहायता के लिये महादेवजी भी अपने गणों के संग रणभूमि में सुशोभित हुए । भयानक युद्ध होने के बाद श्रीकृष्णचंद्रने जूँभण अस्त्र चलाया, जिस से शिवजी जँभाई लेने लगे । तब श्रीकृष्णजी ने असुर की सब सेना का विनाश करके वाणासुर की ४ भुजाओं को छोड़ शेष भुजाओं को काट डाला । उसके पश्चात् वाणासुर ने कृष्णचंद्र को प्रणाम करके ऊखा के सहित अनिरुद्ध को रथ में बैठा कर विदा कर दिया । श्रीकृष्णचन्द्र अपनी सेना के संग द्वारिका में आए । और वाणासुर शिवजीका मुख्य पार्षद हुआ ।

६४ भारत-भ्रमण, पांचवां खंड, तीसरा अध्याय ।

(यह कथा शिवपुराण-धर्मसंहिता के ७ वें अध्याय में और आदि ब्रह्म पुराण के ९४ वें अध्याय में भी है ।)

स्कंदपुराण—(केदारखंड, उत्तर भाग. २४ आं अध्याय) गुप्त काशी के पश्चिम दिशा में वाणासुर दैत्य ने अजेय वरदान पाने के लिये शिवजी का कठिन तप किया । वहां वाणेश्वर महादेव स्थित हो गए । वाणासुर ने उनके प्रसाद से संपूर्ण जगत को जीत लिया ।

गुप्त काशी ।

भिक्षुक की कोठरी से आगे १½ मील पर एक झरना और १½ मील पर गुप्त-काशी है । यहां दो चौगान हैं । उनमें से दक्षिण के चौगान में चारों ओर पक्के दो मंजिले दोहरे मकान, जिनमें यात्री ठिकते हैं और उत्तर के चौगान में ३ और पक्के दो मंजिले दोहरे मकान और धर्मशाले और पश्चिम ओर पहाड़ के नीचे विश्वनाथ शिवका पूर्वमुख का मंदिर हैं । मन्दिर साधारण ढौल का है । उस के शिखर पर छोटी वारादरी और सोने का कलश है । विश्वनाथ शिवलिंग, अनगढ़ हैं । शिवका अरघा, जलधरो का घड़ा और ऊपर का पर्दा (छत्र) चान्दी का है । शिवजी के पास चान्दी से बनी हुई उनकी वृंगार मूर्ति और ताव में चान्दीही से बनी हुई १½ हाथ ऊंची अन्नपूर्णा की चतुर्भुजी मूर्ति है । मन्दिर के आगे पत्थर के टुकड़ों से छाया हुआ एक द्वारवाला जगमोहन है जिसमें नन्दी की पीतल की छोटी मूर्ति और गणेशजी की एक मूर्ति बनी है । जगमोहन के द्वार के दोनों ओर ताव में दो द्वारपाळ खड़े हैं । पुजारी यात्री से द्वारपर एक पैसा लेकर भीतर जाने देता है । और शिवजी के पास एक थारी में रुपया, अठन्नीं चवन्नो इस इच्छा से रक्खी रहतो है कि यात्री लोग जाने कि यहां पैसानहीं चढ़ता है ।

शिवमन्दिर के आगे लगभग १५ हाथ लम्बा औ इतनाही चौड़ा मणिकर्णिका कुण्ड है । कुण्ड के पश्चिम की दीवार में १ पत्थरही का हाथी का मुख और दूसरा पीतल का गोमुख बना है । इन दोनों से झरने का जल कुंड में गिरता है और कुण्ड का जल बाहर निकला करता है । हाथी के मुख पर

शाका १६६४, सम्वत् १७९९ और गोमुख पर सम्वत् १९३२ और टेहरी के राजा रणवीरसिंह का नाम खुदा हुआ है। कुण्ड के पूर्व पुराना नन्दी रक्ता हुआ है और उसके चारो ओर पत्थर का फर्श है।

विश्वनाथजी के मन्दिर के पासही एक छोटा गुम्फजदार मन्दिर है। उसमें मार्बल पत्थर के वैल पर चढ़ो हुई गौरी शंकर की मूर्ति है। मूर्ति के दहिने भाग में पुरुष अर्थात् शिव के और वाम भाग में स्त्री याने पार्वती के चिन्ह देखने में आते हैं। उसके नीचे पत्थर पर सम्वत् १९३३ खुदा हुआ है। मन्दिर के सामने नन्दी की मूर्ति है।

चौगान के उत्तर के एक मकान में पाण्डवों की प्राचीन मूर्तियां हैं। दोनो चौगानों के बाहर चौरस भूमि नहीं है। दुकानदार लोग भी धर्मशालाही में रहते हैं। गुप्तकाशी का अधिकारी उखीमठ के रहने वाले केदारनाथ के रावल (पुजारी) हैं।

गुप्तकाशी से वर्ष की सदीं अरंभ होजाती है। वहां से ३१ मील दूर पहाड़ के ऊपर शोणितपुर और सामने मन्दाकिनी के उस पार उखीमठ है।

संक्षिप्त प्राचीन कथा—स्कंदपुराण—(केदारखंड, उत्तर भाग, २४ वां अध्याय) केदारेश्वर से ६ योजन दक्षिण काशी के तुल्य भुक्ति मुक्ति को देने वाला गुह्य वाराणसी क्षेत्र है। उस क्षेत्र का विस्तार २ योजन है। वह गुप्त स्थान है। उसको गुप्तकाशी कहते हैं। उसके स्मरण मात्र से सब आपत्तियां विनाश होजाती हैं। वहां महाराज शंकर सर्वदा वास करते हैं और गंगा और यमुना गुप्त रूप से रहती हैं। वहां स्नान करने वाला दुर्लभ मुक्ति पाता है। माघ मास में मकर राशि के सूर्य होने पर वहां स्नान करने से असंख्य फल लाभ होता है।

नालागांव—गुप्तकाशी से आगेजाने पर दुर्गा का छोटा मंदिर मिलता है। उस से आगे सेवती पुष्प के वृक्षों का जंगल देख पड़ता है। गुप्तकाशी से १ मील नालागांव के पास फूस टट्टी की चार पांच दुकानें, झरना, गरुड़ का एक बहुत छोटा मन्दिर और ललिता देवी का छोटा पुराना मन्दिर

है, जिसके सिर पर मुलमेदार दो हाथ ऊँचा ध्वज-दण्ड खड़ा है । ललिता की मूर्ति के दहिनी ओर शिवजी की मूर्ति है । मन्दिर के पास बहुत छोटेछोटे चार पाँच मन्दिर और लोगों के झूलने के लिये एक झूला है ।

यात्री लोग केदारनाथ से यहां लौट कर यहां से उखीमठ और चमोली होकर बदरीनाथ जाते हैं । कोई कोई अपना असवाव यहां किसी मोदी के पास रख देते हैं और केदारनाथ से लौट कर लेलेते हैं ।

नारायण कोटी ।

नाला गांव से आगे १ मील दहिने तरफ पगदण्डी के पास एक मन्दिर; १ मील पर एक झरना जिस से कुछ आगे दूसरा झरना और नाला गांव से ११ मील पर भेत गांव है । वहां मोदियों के १० मकान; दो झरने साधारण कद के एक मन्दिर में नारायण की मूर्ति, जिसके पास छोटीछोटी बहुत देव मूर्तियां हैं; और पासही बाएँ ओर ऐसेही मन्दिर में शिवलिंग हैं । इन मन्दिरों के पीछे छोटेछोटे दो मन्दिर हैं । उस स्थान से थोड़ी दूर पश्चिम साधारण ढोल के एक मन्दिर में गरुड़ के कंधे पर श्रीलक्ष्मीनारायण की सुन्दर मूर्ति है, जिनके पास पाँचों पाण्डवों और नवग्रहों की छोटी छोटी मूर्तियां हैं । मन्दिर के बाहर चारों कोनों के पास अत्यन्त छोटे छोटे ४ मन्दिर और दक्षिण और पश्चिम ऐसेही १४ मन्दिर हैं । छोटे मन्दिरों में बहुतेरे ऐसे हैं, जिनमें आदमी नहीं बैठ सक्ते और बहुतेरे खाली पड़े हैं । वहाँ एक छोटे कुण्ड में झरने का पानी गिरकर बाहर निकल रहा है । उसी स्थान पर वृकासुर, जिसको भस्मासुर भी कहते हैं, शिव की तप करके उनसे यह वर मांगा था कि जिसके मस्तक पर मैं हाथ धरूँ वह भस्म होजाय ।

संक्षिप्त प्राचीन कथा—ब्रह्मवैवर्त पुराण-(कृष्ण जन्मखण्ड—६३ वां अध्याय) वृक नामक दैत्य ने शिवजी की तप करके उनसे यह वर मांगा कि हम जिसके मस्तक पर हाथधरूँ वह भस्म होजावे । वर पाने पर दैत्य शिवजीहो के माथ पर हाथ देने को उनके पीछे लगा । शिवजी

भागे । अन्त में विष्णु ने दैत्य के हाथ को उसी के सिर पर रखवा कर उस को भस्म कर दिया ।

श्री मद्भागवत—(१० वां स्कन्ध—८८ वां अध्याय) शकुनी दैत्य का पुत्र वृकासुर केदार तीर्थ में जाकर अपने शरीर को छूरी से काट काट अग्नि में हवन करने लगा । जब सातवें दिन उसने अपने सिर को काट ले चाहा, तब शिव अग्नि कुण्ड से निकल कर उसका हाथ पकड़ लिया और प्रसन्न होकर उसे वर मांग ने को कहा । दैत्य बोला कि जिस के सिर पर मैं अपना हाथ रखदूँ वह उसी समय भस्म होजावे । शिवजी हँस कर उसको यह वरदान देही दिया । जब वृकासुर शिवजी के मस्तक पर हाथ रखने के लिये चला तब शिवजी वहाँ से भागे । दैत्य उनके पीछे दौड़ा । महादेवजी संपूर्ण देशों में भ्रमण करके जब वैकुण्ठ में विष्णु के सामने होकर भागे तब विष्णु ने ऋषिवेष होकर वृकासुर से पूछा कि तू इतना घबड़ा कर कहां जाता है । जब उसने उनसे सब वृत्तान्त कहा तब विष्णु ने कहा कि तू अज्ञान है कि वौरहे महादेव के वचन का विश्वास करता है । तू अपने सिर पर हाथ रख कर पहले उस वरदान की परीक्षा करलें । यह सुनतेही वृकासुर परमेश्वर की माया से उस वचन को सत्य मान कर जैसेही अपने सिर पर हाथ रखवा वैसेही वह भस्म होगया ।

धामाकोटी

नारायणकोटी से आगे १ मील पर छोटे छोटे २ झरने; ११ मील पर दो झरने; ११ मील पर व्युंगगढ़ चट्टी; ११ मील पर बड़ा झरना; २ मील पर ५ मकान की व्युंगगढ़ नामक छोटी वस्ती, एक छोटा झरना और साधु की कोठरी; और ३१ मील पर धामाकोटी वस्ती है ।

व्युंगगढ़चट्टी एक नदी के पास है । नदी पर काठ का पुल बना है । वहाँ मोदियों के टट्टी छप्पर से बने हुए बहुत मकान; एक पनचक्की; कड़ा और अंगुठी बनाने वाले लोहार; और झरने की कलसे काठ के प्याले, कटौते, कठारी, लोटे बनानेवाले बढ़ई हैं । गुप्तकाशी से वहाँ तक बहुत जगह उतराई है । व्युंगगढ़ वस्ती से १ मील तक कठिन चढ़ाई है ।

महिषमर्दिनी देवी—धामाकोटी वस्ती के पास एक छोटे मन्दिर में एक फीट ऊंची श्रेष्ठ धातु से बनी हुई महिषमर्दिनी देवी की अष्टभुजी मूर्ति है । उस के पास ताम्बा आदि धातुओं के पत्तियों पर बनी हुई देवियों की बहुतेरी मूर्तियां हैं । मन्दिर के बाहर, जिस पर चैत्र और आश्विन की अष्टमी की देवी की चल मूर्ति झूलेंपर झुलाई जाती है, बीस बीस हाथ के दो खंभे गड़े हैं; दोनों के सिरों पर एक लकड़ी है । मोटे मोटे दो जंजीर अलग अलग लकड़ों से नीचे लटके हैं । सोकड़ों में नीचे एक पीढ़ी लगी है । कोई कोई यात्री उस झूले में बैठकर झूलते हैं । धामाकोटी वस्ती में कड़े और अंगुठी बनाने वाला लोहार और प्याले कठारी इत्यादि काठ के वर्तन बनाने वाला बढ़ई हैं । ऐसा प्रसिद्ध है कि इसी स्थान पर महिषासुर को मारने वाली देवी जी निवास करती हैं ।

संक्षिप्त प्राचीन कथा—वाराहपुराण—(८८ वां अध्याय) ब्रह्मा जी कैलास में जाकर शिवजी से कहने लगे कि महिषासुर से पीड़ित होकर सम्पूर्ण देवता मेरे शरण आए हैं, इस की शान्ति का कोई उपाय आप विचारें । शिवजी ने विष्णु भगवान का ध्यान किया । उसी समय विष्णु भगवान प्रकट हुए, तब दोनों अन्तरध्यान होकर एक मूर्ति हो गए । उसी मूर्ति की दृष्टि से एक कुमारी दिव्य रूप से प्रकट हुई । तीनों देवों ने प्रसन्न होकर कुमारी को वर दिया कि तुम्हारा नाम त्रिकला है । तुम सब काल में विश्व की रक्षा करो । तुम्हारे देह के तीन वर्ण (रंग) हैं इस लिये तुम अपने शरीर को तीन भागों में विभक्त करो । यह सुन कुमारी तीन रूप से प्रकट भई । एक का शुक्ल वर्ण दूसरे का रक्त वर्ण और तीसरे का कृष्ण वर्ण हुआ । जो ब्राह्मी नामक देवी शुक्ल वर्णा थी वह प्रजा की उत्पत्ति करने में प्रवृत्त हुई; जो रक्त वर्णा कुमारी थी वह शंख, चक्र, गदा, पद्म निज कर कमलों में धर कर विष्णु के रूप से संसार की रक्षा करने लगी और जो नील वर्णा त्रिशूल धारण किए रौद्री शक्ति थी वह जगत के संहार करने में प्रवृत्त हुई ।

(९०वा अध्याय) त्रिशक्तियों में से वैष्णवी शक्ति कुमार व्रत धारण कर बदरिकाश्रम में अकेली तप करने लगी । तप करते करते बहुत काल व्यतीत

से उस शक्ति के मन में क्षोभ उत्पन्न हुआ, जिसके होते ही अनेक कुमारियाँ उत्तम उत्तम रूप धारण कर उत्पन्न हुईं, जो एक से एक मनोहर और उत्तम उत्तम वस्त्र भूषणों से भूषित थीं। इस प्रकार कुमारियों की उत्पत्ति देख कर प्रधान देवी ने निज माया से अति रमणीय एक नगर निर्माण किया। तब देवियों की गण उसमें निवास करने लगीं। प्रधान देवी देवीगणों से सेवित होकर राज सिंहासन में विराज मान हुई।

एक समय नारद मुनि महिषासुर दैत्य की पुरी में जाकर उस से बोले कि मैंने मन्दराचल में पहुँच कर वहाँ देखा था कि एक नगर अनेक पदार्थों से परिपूर्ण और उत्तमोत्तम कुमारियों से भूषित है। उन्हीं कुमारियों में से एक निज प्रभा से विश्व को प्रकाश करती हुई वहाँ निर्भय विराजमान है, इस लिये हम आप के पास आए हैं; सब रत्नों के स्वामी आप हैं, और वह स्त्री रत्न भी आप ही के योग्य है।

(९२ वां अध्याय) महिषासुर का भेजा हुआ विद्युत्प्रभ नामक दूत मायापुर में देवीजी के पास पहुँचा। वह प्रणाम कर के कहने लगा कि हे देवि! रेवा नदी के तट पर माहिष्मती नामक पुरी के समीप महिषासुर का जन्म हुआ। वह तप करके ब्रह्मा से वरदान पाकर देवों से अजेय असुरों का राजा हुआ है। वह नारदजी से तुम्हारा रूप और गुण सुन कर तुम पर मोहित है, इस लिये उन का मनोरथ सिद्ध करना तुम को उचित है। देवी ने इस का कुछ उत्तर नहीं दिया। दूत देवी की जया नाम की सखी की सखी वचन सुन कर चूपचाप चल दिया। अनन्तर देवी की आज्ञा से सब कुमारियों ने सौम्य स्वभाव और मनोहर रूप छोड़ कर नाना अस्त्रशस्त्र धारण कर संग्राम करने को तय्यार हुईं। उसी समय अगणित सेना संग लिये महिषासुर आ पहुँचा। पहुँचते ही देवी के गणों के साथ महिषासुर की सेना का संग्राम होने लगा। देवीजी के गणों ने महिषासुर के असंख्य सेना को क्षण मात ही में विध्वंस कर दिया। जो कुछ थोड़े से दैत्य बचे थे, उन्होंने महिषासुर के पास पहुँच सब वृतांत कह सुनाया। तब महिषासुर अति क्रोधित हो हाथ में गदा ले देवी के पास पहुँचा। श्री देवीजी ने अठारह भुजा धारण कर नाना भाँति के अस्त्रशस्त्रों को ले शिवलिंग

स्मरण किया। शिवजी के प्रकट होने पर देवी ने उनसे आज्ञा ले क्षण माल हो में सम्पूर्ण दैत्यों का संहार कर दिया। तब महिषासुर भाग कर अन्तरध्यान होगया। थोड़ी देर में फिर वह आकर युद्ध करने लगा। इसी प्रकार वह कभी भाग जाता था और कभी आकर युद्ध करता था। इसी भांति देवीजी को युद्ध में १००० वर्ष व्यतीत हुए। सारे ब्रह्माण्ड में घूम घूम कर महिषासुर युद्ध किया करता था। एक समय देवीजी ने शत शृंग नामक पर्वत पर सिंह से क्रुद्ध कर महिष पर सवार हो त्रिशूल से महिषासुर का कण्ठ छेद खंङ्ग से उसके सिर को दो खण्ड कर दिया। महिष निज प्राण को त्याग स्वर्ग को गया।

(मार्कण्डेयपुराण के ८२ और ८३ अध्याय में और देवी भागवत के ६ वें स्कंध के दूसरे अध्याय से २० वें अध्याय तक देवी की उत्पत्ति और महिषासुर के वध की कथा है।)

स्कन्धपुराण—(केदारखंड, उत्तर भाग, २५ वां अध्याय) केदार के दक्षिण भाग में महिषखंड स्थान है। पूर्व काल में श्रोदेवीजी ने महिषासुर को काट कर उस के देह का खंड उसी पर्वत पर फेंक दिया। उसी स्थान में महिषमर्दिनी देवी प्रकट हुई, जिसका दर्शन करने वाला मनुष्य शिव लोक में निवास करता है। वहां भगवतीश्वर नामक महादेव और पटुमती नदी है। उस के दक्षिण भाग में कुंभिका धारा है।

फटाचट्टी—धामाकोटी से आगे दो छोटे झरने और १ मील पर महि-
खण्डा वस्ती है। इसमें पक्के मकान बने हैं वस्ती से थोड़ा आगे दो झरने और एक जगह ईशानेश्वर शिवलिंग है, जिसके पास दो तीन पत्थरों पर छोटी छोटी बहुतसी मूर्तियां बनी हैं धामाकोटी से १ मील आगे एक झरना और ११ मील पर फटाचट्टी है। वहां मोदियों के टट्टे फूस से बने हुए बहुत मकान, एक पक्की सकारी धर्मशाला, लोहार और चमार की दुकानें, एक छोटी नदी, दो झरने, कई पनचक्कियां और देवदारु के बड़े बड़े दो वृक्ष हैं। ११ मील पहले से धामाकोटी तक मार्ग सुगम है। फटाचट्टी के आस पास कई मीलों तक रामदाना उत्पन्न होता है।

फटाचट्टी से १ मील पर एक छोटा झरना और एक छोटी गुफा; १ मील

पर एक झरना; १ मील आगे छोटी नदी पर शहतीरों का पुल; १½ मील आगे छोटी नदी पर शहतीरों का पुल; २½ मील पर एक वस्ती; २½ मील पर छप्पर को गोसाई-चट्टी; ३ मील पर शेरसी चट्टी में ३ मकान, कड़ावाले लोहार की दुकान और एक झरना; ३½ मील पर एक छोटी कोठरी में गणेशजी की मूर्ति; ४ मील कालढोंगी नदी पर शहतीरों का पुल; और ४½ मील पर रामपुर चट्टी है ।

रामपुर—वहाँ थोड़ा मैदान, टट्टो और फूस से बनी हुई बड़े बड़े ६ दुकानें और २ झरने हैं ।

रामपुर चट्टी से १½ मील पाटीगाड़ नदी पर काठ का पुल, पनचक्की और काठ के प्याले, कठारी की दुकान हैं । नदी से थोड़ी दूर आगे शाकम्भरी और त्रियुगीनारायण की राह सोनप्रयाग और केदारनाथ को सड़क से अलग हो जाती हैं । वहाँ से सोनप्रयाग सूधी राह से १½ मील और त्रियुगीनारायण होकर ६ मील है । वहाँ से मन्दाकिनी दहिने छूट जाती है और त्रियुगीनारायण की कठिन चढ़ाई आरम्भ होती है । रामपुर से २ मील पर कड़ा, अंगूठीवाले लोहार की दुकान और एक झरना; २½ मील पर एक झरना; ३ मील पर केमारा वस्ती और ३½ मील पर शाकम्भरी देवी हैं ।

शाकम्भरी दुर्गा ।

कोठरी के सामने एक छोटे मन्दिर में ताम्बे के पत्र में शाकम्भरी देवी की मूर्ति है, जिसके पास इसी तरह से पत्थरों पर बनी हुई देवियों की बहुतसी मूर्तियाँ हैं ।

संक्षिप्त प्राचीन कथा—महाभारत (वनपर्व ८४वाँ अध्याय) तीनों लोक में विख्यात शाकम्भरी देवी का स्थान है । वहाँ हजार वर्ष तक भगवती ने प्रति वर्ष में १ महीना शाक खाकर तप किया था । देवी की भक्ती से पूरित मुनीश्वर वहाँ आए । भगवती ने उसी शाक से उनका भी सत्कार किया । उसी दिन से उस देवी का नाम शाकम्भरी हुआ । शाकम्भरी देवी के स्थान में जाकर पवित्र और ब्रह्मचारी हो कर तीन दिन शाक खा कर रहना

चाहिये । १२ वर्ष तक शाक खाकर रहने से जो फल प्राप्त होता है, उस स्थान पर केवल ३ दिन शाकाहार करके निवास करने से वही फल मिलता है ।

देवीभागवत—(७ वां स्कन्ध-२८ वां अध्याय) हिरण्याक्ष के वंश में अति बलवान् दुर्ग नामक दैत्य हुआ । वह हिमालय पर जाकर ब्रह्मा का तप करने लगा । ब्रह्माके प्रकट होने पर उसने यह-वरदान मांगा कि मैं देव-ताओं को जीतूँ । जब ब्रह्माजी एवमस्तु कह कर चले गए तब दैत्यने अमरावती पुरी को जीतलिया । जगत में बड़ा अनर्थ होने लगा । यज्ञ नहोने से १०० वर्ष तक अनावृष्टि रही । तब ब्रह्मा ने हिमालय पर्वत के निकट जाकर समाधि ध्यान और पूजा से देवी को संतुष्ट किया । उस समय भगवती ने प्रकट होकर अपने हाथ से अति स्वादयुक्त शाक, फल मूल आदि और नाना प्रकार के अन्न और पशुओं के भोजन करने को चारा दिया और शाक से सब जीवात्माओं का पोषण किया । उसी समय से देवीजीका एक नाम शाकम्भरी हुआ ।

दुर्गासुर दूतों के मुख से यह वृत्तान्त सुन कर अपनी सेना ले देवी से युद्ध करने को पहुंचा । अनन्तर देवीजीने अपने शरीर से ३२ शक्तियां उत्पन्न की । इनके अतिरिक्त ६४ और प्रकट हुईं । १० दिनों में असुर की अशेष सेना मारी गई । ग्यारह वें दिन वह बहुत पूजनादि कर युद्ध करने लगा और सब शक्तियों को जीतकर महादेवी, शताक्षी के आगे लड़ने को आया । अन्तमें भगवती ने दुर्गदैत्य को मार डाला । इसके पश्चात् देवीजी ने कहा कि हम ने दुर्गदैत्य को मारा है, इससे मेरा नाम दुर्गा और असंख्य नेत्र हैं इस लिये शताक्षी नाम होगा । जो मनुष्य हमारे इन दोनों नामों का स्मरण करेगा वह माया से विमुक्त हो कर परमपद पावेगा ।

स्कंदपुराण—(केदारखंड, प्रथम भाग, ४६ वां अध्याय) परम पीठ शाकम्भरीक्षेत्र सब पापों के नाश करनेवाला है, जहां मुनियों की रक्षा के लिये शाकम्भरी देवी प्रकट हुई । वहां जा कर शाकम्भरी को नमस्कार करने से १० अश्वमेध यज्ञ का फल मिलता है । वहां शाक का एक बड़ा वृक्ष है । देवी के दक्षिण भाग में मरकतमणि का एक शिवलिंग है । उसके वाम भाग में

नंदिनी नदी बहती है। उसी प्रदेश में रुद्र नामक भैरव की मूर्ति है। शाकं-भरी पीठ का प्रमाण ३ योजन लंबा और २ योजन चौड़ा है। जो मनुष्य नियम पूर्वक वहां ५ रात्रि निवास करता है उसको विपुल सिद्धि प्राप्त होती है।

त्रियुगीनारायण।

शाकंभरी से १ मील पर ३ झरने; १ मील पर बड़े झरने का पुल, १ पन चक्की और १ झरना और ११ मील पर त्रियुगीनारायण का स्थान है।

त्रियुगीनारायण में ब्रह्मकुंड नामक एक चतुष्कोण कुंड; उसके पास उससे छोटा रुद्रकुंड और रुद्रकुंड के निकट कूप के समान गोलाकार विष्णुकुंड है। ब्रह्मकुंड और रुद्रकुंड में लोग स्नान करते हैं और विष्णुकुंड का जल सब लोग पीते हैं। उसके पास एक स्थान में झरना का थोड़ा जल है, जिसको लोग सरस्वतीकुंड कहते हैं। उसमें पंडे लोग यात्रियों को तर्पण कराते हैं। झरने का जल भीतर से चारों कुंडों में आता है और ब्रह्मकुंड से बाहर निकलता है। उन कुंडों के पास नारायण का एक साधारण शिखरदार मन्दिर है, जिसमें नारायण की धातुकी मूर्ति स्थापित है। उसके पास धातु के पत्थरों में बनी हुई लक्ष्मी, अन्नपूर्णा, सरस्वती आदि कि पांच सात मूर्तियां हैं। मन्दिर के आगे जगमोहन के स्थान पर एक चतुष्कोण गृह है, जिसमें एक चबूतरे पर कुण्ड बना है। कुण्ड में सर्वदा अग्नि रहता है। लोग कहते हैं कि शिवजी और पार्वतीके विवाह के समय का यह कुण्ड है। इसी स्थान पर शिवजी का विवाह पार्वती से हुआ। कई यात्री लकड़ी मोल लेकर कुण्ड में डालते हैं और कुण्ड को विभूति ले जाते हैं। नारायण के मन्दिर में अन्धकार रहता है इस लिये दिन में भी दीपक जलता है। नारायण के मन्दिर के पश्चिम पूर्वेक्त चारो कुण्ड और पूर्व शिव, गरुड़ आदि देवताओं के अत्यन्त छोटे छोटे ५ मंदिर हैं।

वहां कई पक्की धर्मशाले, एक सर्कारी पक्की धर्मशाला, एकपुरी की दुकान और तीन चार मोदी हैं। त्रियुगीनारायण की चढ़ाई कड़ी है, इस लिये बहुतेरे यात्री पाटीगाड़ नदी से त्रियुगीनारायण का मार्ग छोड़ कर सीधी रास्ते से केदारनाथ जाते हैं। ग्रंपान वाले चढ़ाई का इनाम यात्री से लेते हैं।

गंगोत्तरी के बहुतेरे यात्री, जो हृषीकेश, देवप्रयाग, और श्रीनगर के गंगोत्तरी जाते हैं, पगवंधी से यहां आकर केदारनाथ की राह लेते हैं ।

संक्षिप्त प्राचीन कथा—महाभारत—(अनुशासनपर्व ८४वां अध्याय) हिमालय पर्वत पर भगवान रुद्र के सहित रुद्राणी देवी का विवाह हुआ था ।

स्कंदपुराण—(केदारखंड, प्रथमभाग, ४३ वां अध्याय) केदारमंडल में त्रिविक्रमा नदी के तट के ऊपर डेढ़ कोस पर यज्ञपर्वत में नारायण क्षेत्र है । वहाहीं ब्रह्मादिक देवताओं ने हरि का यज्ञ किया था । वहां सर्वदा अग्नि विद्यमान रहते हैं । उसी स्थान पर गौरी से महादेवजी का विवाह हुआ था । कोटिन पाप से युक्त मनुष्य क्यों न हो वहां १० रात्रि उपवास करके प्राण त्यागने से वैकुण्ठ में वसता है । विष्णु की नाभी से परम पवित्र सरस्वती की धारा वहां पर आई है । जो प्राणी मंत्र से युक्त होकर उस का जल पीता है, सो करोड़ कल्प तक उसकी पुनरावृत्ति नहीं होती और उस के २१ पुरुषों का उद्धार होजाता है । जो मनुष्य वहां नारायण के मंत्र से हवन करता है वह सब पापों से छूट जाता है । वहां के भस्म धारण करने वाला सर्वदेव मय हो जाता है । वहां ब्रह्मकुण्ड नामक पवित्र तीर्थ है, जिसमें स्नान करने से ब्रह्मलोक मिलता है । उसके दक्षिण भाग में विष्णु तीर्थ है, जिस में स्नान करने वाला वैकुण्ठ में निवास करता है । वहां के सरस्वती कुंड में स्नान करने से सब पाप क्षय होता है । नारायण देव के दर्शन करने से शिवलोक मिलता है ।

वाराहपुराण—(२२ वां अध्याय) शिव पार्वती का विवाह तृतीया को हुआ इसलिये तृतीया उनका प्रिय दिन है ।

सोनप्रयाग—तियुगीनारायण से लौटते ११ मील पर कमाश वस्ती और १ झरना और २१ मील पर सोनप्रयाग है । शाकम्भरीदेवी से सोनप्रयाग तक कठिन उतराई है ।

सोनप्रयाग में ऊपर से नीचे मन्दाकिनी का जल जोरशोर से गिरता है । वासुकी गंगा पश्चिमोत्तर से आकर वहां मन्दाकिनी में मिल गई है । सोनप्रयाग से १२ मील दूर कई मील लंबा चौड़ा वासुकी तालाब है । उसी से वासुकी

गंगा निकली है। याली लोग आपाढ़ और सावन में बर्फ गल जाने पर वहाँ जाते हैं। सोनप्रयाग में मन्दाकिनी का जल शुद्ध और वासुकी गंगा का जल दूषित देख पड़ता है।

वासुकीगंगा पर अंगरेजी सरकार का बनवाया हुआ १७० फीट लंबा लोहे का हलका लटकाऊ पुल है। पुल के निकट एक कोठरी में गरुड़ की मूर्ति और एक मोदीका मकान है। उस स्थान को झिलमिलीचट्टी भी लोग कहते हैं।

संक्षिप्त प्राचीनकथा—स्कंदपुराण—(केदारखंड, प्रथमभाग, ४२ वां अध्याय) कालिका नदी, जिस को वासुकी आदि नाग नित्य सेवन करते हैं, गंगाजी के अंग से उत्पन्न है। वहाँ सरोवर में शेषेश्वर महादेव स्थित हैं। नदी के निकास के स्थान पर कालिकादेवी है, इसी से नदी का कालिका नाम पड़ा है। मन्दाकिनी और त्रिविक्रमा नदी के संगम के पास कालेश नामक शिव विराजते हैं।

सोनप्रयाग से आगे केदारनाथ की ओर सड़ी अधिक पड़ती है; जाड़े के दिनों में रहने वाली बस्ती नहीं है और पानी में दाल नहीं गलती। सोन-प्रयाग से आगे मन्दाकिनी के दहिने किनारे से चलना होता है और ५ मील पर मुण्डकटा गणेशजी मिलते हैं।

मुण्डकटा गणेश

एक कोठरी में विनासिर की श्रीगणेशजी की मूर्ति है। उनके दहिने ओर पार्वती जी और बाएँ ओर एक शिवलिंग स्थित है। वहाँ एक पुजारी रहता है और छप्पर के २ मकान हैं। जिस भांति श्री महादेवजी ने गणेशजी का सिर काटा था वह कथा नीचे लिखी जाती है।

संक्षिप्त प्राचीनकथा—स्कंदपुराण—(केदारखंड, प्रथमभाग, ४२ वां अध्याय)। गौरीतीर्थ से १ कोस दूर विनायकद्वार पर गणेशजी स्थित हैं, जिनको पार्वतीजी ने स्नान के समय अपने अंगराग से बना कर अपने द्वार पर बैठा दिया था और शिवजी ने उनका सिर काट डाला। पीछे महादेवजी

ने हाथी का सिर जोड़ कर गणेशजी को जिला दिया । तब से वह गजानन हो गए । जो मनुष्य नाना प्रकार के नैवेद्य से गणेशजी की पूजा करता है, उसको मरने के पश्चात् शिव लोक मिलता है ।

शिवपुराण—(ज्ञानसंहिता, ३२ वां अध्याय) एक समय श्री पार्वतीजी गृह में स्नान करती थीं । नंदी द्वार पर स्थित था । उस के निषेध करने पर शिवजी उस को धुड़क कर भीतर चले आए । पार्वतीजी लज्जित होकर स्नान से निवृत्त हो उठ बैठी । उस समय उन्होंने ने विचार किया कि एक ऐसा श्रेष्ठगण होना चाहिये जो मेरी आज्ञा में दृढ़ रहे । ऐसा विचार उन्होंने ने हाथ के जल से अपनी देह का मैल उतार कर उससे एक सुन्दर पुत्र निर्माण किया और द्वार पर बैठा कर उससे कह दिया कि तुम किसी को भीतर मत आने दो । बालक द्वार पर स्थित हुआ । पार्वती जी सखियों सहित स्नान करने लगीं । उसी समय श्री महादेवजी अपने गणों सहित वहां आकर भीतर प्रवेश करने लगे । बालक ने उनको रोका और नहीं मानने पर दंड से उनको ताड़ना किया । शिवजी अपने गणों से बोले कि इस को निवारण करो और आप कैलास से एक कोस दूर जा बैठे । बालक ने शिव के गणों पर दंड से प्रहार किया । तब उन्होंने ने शिव जी के निकट जाकर यह वृत्तांत कह सुनाया । महादेवजी की आज्ञा से वे गण बालक के पास फिर आए और उनको समझाने लगे । पार्वतीजी ने कलबल शब्द सुन कर अपनी सखी को बालक के पास द्वार पर भेजा । सखी ने देख कर सब वृत्तांत पार्वती से कह सुनाया और यह भी कहा कि यदि द्वार पर हमारे गण नहीं होता तो शिवजी के सब गण भीतर आजाते । पार्वतीजी की आज्ञा से सखी ने द्वार पर जाकर बालक से कहा कि हे भद्र ! तुम ने अच्छा काम किया कि इन को बल से प्रवेश करने नहीं दिया । तुम ऐसा करो कि या तो तुम को परास्त करके या विनय करके वे लोग भीतर आवें । बालक शिव के गणों से बोले कि हे श्रेष्ठों ! मैं पार्वतीजी का पुत्र और तुम लोग शिव जी के गण हो; जो कर्तव्य हो सो करो । अब तुम या तो मुझे जीत कर या विनय करके मन्दिर में जाओ । ऐसा सुन गणों ने शिवजी के पास जाकर सब वृत्तांत कह सुनाया । (३३ वां

अध्याय) शिवजी ने उनको युद्ध करने की आज्ञा दी । वे आकर लड़ने लगे । बालक ने सब को परास्त किया । शिव के सब गण भाग गए । उसी समय ब्रह्माजी विष्णुजी और इंद्र वहां आए । ब्रह्माजी बालक को समझाने के लिये उसके निकट गए । बालक ने उनको शिवका अनुचर जानकर उनको डाढ़ी मुँछ उखाड़ ली और उन पर परिघ का प्रहार किया । तब श्रीमहादेवी की आज्ञा से इंद्रादिक देवता और षण्मुख आदिक गण जाकर चारो ओर से बालक पर शस्त्र चलाने लगे । उस समय पार्वतीजी ने दो शक्ति निर्माण की । उन्होंने शत्रुओं के सब आयुधों को ग्रहण कर अपने मुख में डाल लिया । बालक ने हाथ में परिघ लेकर सब को परास्त किया । यह सुनकर शिवजी देवताओं की सेना के सहित संग्राम में आए । विष्णु भगवान भी वहां उपस्थित हुए । विष्णु को माया करते हुए देख कर दोनों शक्तियाँ लोन हो गईं । विष्णु गणेश से युद्ध करने लगे । दोनों परस्पर लड़ते थे; इसी अन्तर में शिवजी ने त्रिशूल से उस बालक का सिर काट डाला । नारद ने पार्वती के पास जाकर सब समाचार कह सुनाया । (३४ वां अध्याय) पार्वती ने क्रोध करके सहस्रों शक्तियों को उत्पन्न किया । वे प्रलय करने की इच्छासे देवताओं को पकड़ कर अपने मुख में डालने लगे । भय के मारे ब्रह्मादिक देवता पार्वती के पास जाने में कोई समर्थ न हुए । तब नारद आदि ऋषिगण गिरीजा के पास जा कर विनय करके क्षमा मांगने लगे । पार्वतीजीने कहा कि यदि मेरा पुत्र जीवित होजाय और तुम लोगों के बीच में यह पूजनीय होय और सब का अध्यक्ष बने तो जगत् का विनाश नहीं होवेगा । ऋषियोंने विष्णु आदिक देवताओं के निकट जाकर यह वृत्तान्त कह सुनाया । सब की सम्मति होने पर देवता लोग विधि पूर्वक बालक के कलेवर को धो कर उसका पूजन करके उत्तर दिशा में गए । प्रथमही उनको एक दांत का हाथी मिला । तब वे लोग उसका सिर काटकर लाये । उन्होंने उसको बालक के धड़ में लगा दिया । ब्रह्मा, विष्णु और शिवजीने जब वेद के मन्त्र से अभिमंत्रित किया, तब सुन्दर अङ्ग युक्त श्रेष्ठबालक उठ बैठा । पार्वतीजी प्रसन्न होकर अपनी शक्तियों को प्रलय करने से निवारण किया । सब शक्तियाँ उनकी देहमें लीन

होंगई' । ब्रह्मा, विष्णु और शिवजी बालक से बोले कि वेटे अब से तुम हम तीनों के समान पूजित होगे और मनुष्य पहले तुम्हारा पूजन करके पीछे हम लोगों की पूजा करेंगे । इसके उपरान्त सब देवताओं ने मिल कर पार्वतीपुत्र को गणेश का स्वामी अर्थात् गणेश बनाया ।

मुण्डकटा गणेश से ११ मील पर एक झरना और २१ मील पर गौरी कुण्ड है । गौरी कुण्ड के पहले खड़े पहाड़ से गिरता हुआ एक झरना मिलता है । सोन प्रयाग से आगे १ मील तक कठिन चढ़ाई है । सोन प्रयाग से गौरीकुण्ड तक मन्दाकिनी के निकट के पहाड़ और उसकी घाटी बड़े बड़े वृक्षों के हरे जङ्गल से ऐसे भरी है कि दूर से पर्वत के पत्थर नहीं देख पड़ते और करारे के ऊपर से बहुतेरी जगह मन्दाकिनी का जल नहीं देख पड़ता ।

गौरीकुण्ड ।

गौरीकुण्ड चट्टी पर पत्थर से बने हुए और फूस के छप्पर से छाए हुए घोदियों के लगभग २० मकाने हैं । तीन दुकानों पर पूरी मिठाई विकती है ।

वहां गरम जल का एक झरना है, जिसका कुछ पानी मन्दाकिनी में और कुछ जल पीतल के गोमुखी होकर तप्तकुण्ड में गिरता है और कुण्ड से निकल कर मन्दाकिनी में चला जाता है । तप्तकुण्ड लगभग १७ फीट लम्बा और इतनाही चौड़ा चौखुंटा कुण्ड है । कुण्डका जल इतना गरम है कि बहुतेरे याली जल स्पर्शकर लेते हैं । जो साहस करके कुण्ड के जल में कूदता है । वह बहुत समय तक उसमें नहीं ठहर सकता; किन्तु उस जलसे जलने का कुछ भय नहीं है । तप्तकुण्ड से दक्षिण गौरीकुण्ड नामक खारा जल का एक कुण्ड है, जिसमें यात्रिगण प्रथम स्नान करते हैं ।

कुण्ड से दक्षिण एक छोटे ओसारे में पांच छ हाथ लंबा उषामहेश्वर नामक शिला है । उसके निकट गौरी के छोटे मन्दिर में गौरी, महादेव, राधाकृष्ण और ज्वालाभवानी की मूर्तियां स्थित हैं । उस मन्दिर के समीप दो तीन अत्यन्त छोटी कोठरियों में शिवजी, गरुड़जी आदि देवताओं की प्रतिमाएं और मन्दिर के पीछे अमृतकुण्ड नामक मीठे जल का अत्यन्त छोटा १ कुण्ड है ।

संक्षिप्त प्राचीन कथा—स्कन्दपुराण-(केदारखण्ड, प्रथमभाग ४२ वां अध्याय) । केदारेश्वर से ६ कोस दक्षिण मन्दाकिनी नदी के तीर पर सब सिद्धियों को देनेवाला गौरी तीर्थ है । जिस स्थान पर पूर्वकाल में श्रीगौरीजी ने ऋतु स्नान किया, वह स्थान गौरी तीर्थ करके प्रसिद्ध हो गया । स्कन्द के उत्पत्ति के स्थान पर थोड़ा सा गर्म जल है और सिन्दूर के समान मृत्तिका है । उसी स्थान पर गौरीश्वर महादेव विराजित हैं । जो मनुष्य वहां स्नान करके उस स्थान की मृत्तिका अपने सिरपर लगाता है, वह महादेवजी का बड़ा प्रिय होता है । उसके दक्षिण गोरक्षाश्रम तीर्थ में सिद्ध गोरखनाथ नित्य निवास करते हैं । वहां का जल सर्वदा तप्त रहता है ।

स्वामकार्तिकजी के जन्म की कथा महाभारत वनपर्व २२५ वें अध्याय, शल्यपर्व ४४ वें अध्याय, और अनुशासनपर्व ८५ वें अध्याय; वाल्मिकि रामायण-वालकाण्ड ३६ वें सर्ग; मत्स्यपुराण १५७ वें अध्याय; पद्मपुराण-स्वर्गखण्ड १४ वें अध्याय और लिङ्गपुराणके ७१ वें अध्याय में है । (भारतभ्रमण-चौथेखण्ड के कुमारस्वामी की प्राचीन कथा देखो)

चीरवासा भैरव ।

गौरीकुण्ड से आगे एक झरना और मन्दाकिनी के उस पार एक बहुत बड़ा झरना; ११ मील पर छोटे छोटे ४ झरने और २ मील पर एक कोठरी में चीरवासा भैरव की मूर्ति है । कोठरी के पास कपड़े के टुकड़े लगे हुए बहुतरे रिंगाल, जो वांस की कड़न के समान होते हैं, खड़े किए हुए हैं । गौरीकुण्ड से आगे बाएँ के पर्वत पर छप्पर छाने योग्य खर कतरे और दहिने मन्दाकिनी के उस पार के पर्वत पर हरे वृक्षों का सघन वन देख पड़ता है ।

संक्षिप्त प्राचीन कथा—स्कन्दपुराण-(केदारखण्ड, प्रथमभाग, ४२ वां अध्याय) गौरीतीर्थ के पूर्व भागमें चीरवासा नामक भैरव क्षेत्र की रक्षा करते हैं । जो मनुष्य उनको चीर चढ़ता है, उसको सम्पूर्ण पुण्य करने का फल मिलता है । बल्ल नदी चढ़ाने से उसका सम्पूर्ण फल भैरव हरलेते हैं; इसलिये

प्रयत्न से भैरवजी का पूजन करके केदार क्षेत्र में जाना चाहिए । उसी पर्वत पर कालीजी की मूर्ति है; उनको नमस्कार करके क्षेत्रमें जाना उचित है ।

चिरवासा भैरव से आगे साधु की एक गुफा और १ छोटा झरना; १ मील पर पर्वतके शिखरसे गिरता हुआ १ बड़ा झरना, उससे आगे १ गुफा; ११ मील पर १ छोटा झरना और साधु की झोंपड़ी; ११ मील पर छोटा झरना; ११ मील पर पर्वत के शिखर से गिरते हुए २ बड़े झरने और २ मील पर भीम गोड़ा नामक स्थान पर एक पत्थर पर खोदी हुई भीमकी बड़ी मूर्ति है । उससे आगे १ बड़ा झरना और चट्टान के नीचे बड़ी बड़ी ४ गुफा हैं । भीमगोड़ा से १ मील आगे शिखर से गिरता हुआ बड़ा झरना; उससे आगे तीन चार छोटे बड़े झरने और १ मील पर रामवाड़ा चट्टी है । चट्टी पर पहुँचने से पहले एक बहुत बड़ा झरना मिलता है । चौरपटभैरव से रामवाड़ा तक मन्दाकिनी के उसपार आठ जगह पर्वत के ऊपर से खुले हुए बड़े बड़े झरनों का पानी गिरता है ।

रामवाड़ा चट्टी—वहाँ पत्थर की दिवार और फूस के छप्पर वाले मोदियों के पन्द्रह बीस मकान और एकबड़ा झरना है । मन्दाकिनी की धारा ऊँचे से नीचे जोर जोर से गिरती है । पानी चट्टी के पास है । पूरी मिठाई की कई दुकानें हैं । वहाँ जाड़े के दिनों में कोई नहीं रहता ।

गौरीकुण्ड से रामवाड़ा तक प्रायः सर्वत्र कठिन चढ़ाई और पत्थरीली और ठोकर वाली राह है । उस ओर मन्दाकिनी की घाटी में विचित्र लतावृक्ष और पुष्प देखने में आते हैं । बुरांस (विलायती गुलाब के समान), सेवती, मालती, पीतचम्पक, कर्णिकार, गुलचीनी, आदि पुष्प जंगल की छवि को बढ़ाते हैं ।

रामवाड़ा से थोड़े आगे कई झरने; ११ मील पर एक झरना; २ मील पर खुला हुआ बड़ा झरना, और इस से आगे ऐसाही एक बड़ा झरना; २१ मील पर एक बड़ा झरना और मन्दाकिनी के उस पार पर्वत के ऊपर कुबेर भण्डार; ३१ मील पर खुला हुआ एक बड़ा झरना; ३१ मील पर एक बड़ा झरना; ४१ मील पर मन्दाकिनी और सरस्वती का संगम; और ४१ मील पर केदारनाथ हैं ।

रामवाड़ा से २ मील तक पत्थरोली, ठोकरवाली और चढ़ाई की सड़क है; उससे आगे की सड़क सुगम है और दो तीन जगह पर्वत के शिखर से गिरने हुए बड़े बड़े झरनों के पानी पर दो तीन हाथ ऊंचा बर्फ जम गया है। चौड़ी बर्फ के नीचे पानी बहता है और ऊपर से सम्पूर्ण यात्री जाते हैं। उस के आगे से मन्दाकिनी की घाटी में भोजपत्र के वृक्ष देख पड़ते हैं। जहाँ से बर्फिस्तान आरंभ होता है उसी जगह भोजपत्र के वृक्ष होते हैं; कम ऊंचे पहाड़ों पर इसके वृक्ष कदापि नहीं होते। केदारनाथ पहुँचने से एक मील पहले केदारनाथ का मन्दिर देख पड़ता है और उस से आगे नीचा ऊंचा मैदान मिलता है, जिस पर जगह जगह पानी बहता है। रामवाड़ा से चलने पर जितने आगे जाते हैं उतने पर्वत के शिखरों पर अधिक बर्फ देख पड़ता है। बर्फ के पास लता वृक्ष कुछ नहीं हैं। रामवाड़ा से केदारनाथ तक मन्दाकिनी के उस पार के पर्वत से बहते झरनों का पानी नदी में गिरता है।

सोनप्रयाग से केदारनाथ तक कोई वस्ती नहीं है; जाड़े के समय में गौरी-कुण्ड पर एक पुजारी रहता है। यात्रा के दिनों में चट्टियों पर मोदी आजाते हैं। गुप्तकाशी से केदारनाथ की तरफ क्रम क्रम सड़ी अधिक होती है। गौरीकुण्ड से आगे पानी में दाल नहीं गलती और जल से प्यास नहीं बूझता। जाड़े के दिनों में सोनप्रयाग से ऊपर के सब लोग ऊखीमठ, शोणितपुर आदि वस्तियों में चले आते हैं।

कुवेरभण्डार—रामवाड़ा और केदारनाथ के मध्य में मन्दाकिनी नदी के बाएँ पर्वत के ऊपर, जिसको कुवेरपर्वत कहते हैं, कुवेरभण्डार नामक एक गुफा है, जिसमें पत्थर के कई तख्तों पर पुराने समय के अक्षर लिखे हुए हैं; जो पढ़े नहीं जाते। उससे उत्तर थोड़ी दूर पर पत्थर का हाथी है। लोग उस स्थान को इन्द्रपर्वत और हाथी को अर्जुन का लाया हुआ ऐरावत हाथी कहते हैं। दोनों स्थानों की निशानी मन्दाकिनी के दहिने से देख पड़ती है। वहाँ आषाढ़ श्रावण में बर्फ गल जाने पर कमल का फूल और जटामांसी होती है। उस समय पण्डे लोग और कोई कोई यात्री वहाँ जाते हैं। निर्मल आकाश रहने पर वहाँ से गुप्तकाशी ऊखीमठ और शोणितपुर देख पड़ता है।

केदारनाथ

पांच नदियों का सङ्गम—केदारनाथ पहुंचने से १ मील पहले सङ्गम मिलता है, जिस में सम्पूर्ण यात्री स्नान करते हैं। वहां सरस्वती, मन्दाकिनी, दूधगङ्गा, स्वर्गद्वारी, और महोदधि इन पांच धाराओं का सङ्गम है। स्नान के स्थान के पास दूधगङ्गा, उससे उत्तर सरस्वती और आधा मील दक्षिण महोदधि और स्वर्गद्वारी मन्दाकिनी में मिल गई हैं। वहां मन्दाकिनी पर छोटा पुल है। मन्दाकिनी और सरस्वती के संगम के पास संगमेश्वर शिव लिंग हैं। मन्दाकिनी नदी केदारनाथ के पीछे वाले कैलास नामक पहाड़ से निकल कर ५० मील दक्षिण बहने के उपरान्त रुद्रप्रयाग में अलकनन्दा नदी में मिल गई है। केदारनाथ के यात्री रुद्रप्रयाग से १८ मील भीरीचट्टी तक मन्दाकिनी के बाएँ किनारे और वहां से केदारनाथ तक ३२ मील दहिने किनारे आते हैं। मन्दाकिनी के किनारे पर बहुतेरे छोटी-छोटी गुफा और बड़े बड़े ढोंके और घने, हरित और मनोहर जङ्गल हैं। अगस्त्यचट्टी, भीरीचट्टी, कुण्डचट्टी, गोरीकुण्ड, राघवाड़ा, केदारनाथ और इनके सिवाय और दो चार जगह मन्दाकिनी का पानी मिलता है। दूसरी जगहों में पानी के पास जानेका रास्ता नहीं है।

मैं हरिद्वार से चलने पर १७ वे दिन हरिद्वार से १४६१ मील केदारपुरी में पहुंचा। गढ़वाल जिले में समुद्र के जल से ११००० फीट से अधिक ऊंचाई पर बर्फदार महापंथ नामक चोटी के नीचे मन्दाकिनी और सरस्वती दोनों नदियों के मध्य में अर्धाकार भूमि पर केदारपुरी है। दक्षिण से उत्तर तक करीब २०० गज लम्बी सड़क के दोनों ओर लगभग ६० बड़े बड़े पक्के मकान बने हैं। मकानों के ऊपर लकड़ी के तख्ते बिछाकर खर के छप्पर दिए गए हैं। इनमें १८ धर्मशाले हैं। बहुतेरे मकानों के भीतर सरदी से बचने के लिये तख्ते बिछाए गए हैं। किसी किसी मकानों के पास भूमि पर वैशाख जेष्ठ तक बर्फ जमा रहती है। वहां एक इन्दौर के महाराज का और दूसरा शुंशुनुवाले सूर्यमल का सदावर्त और पांच छ पुरी और पेड़े की ढूंकानें हैं। इस वर्ष

यहां पूरी आठ आने सेर, आटा छ आने सेर, चावल सात आने सेर, पेड़ा एक रुपये सेर है। लकड़ी बड़ी महंगी बिकती है।

केदारपुरी के उत्तर छोर पर केदारनाथ का सुन्दर मन्दिर है। मन्दिर के सिरे पर छोटी बारहदरी की तरह २० द्वार की चकूटी है। चकूटी के ऊपर सोनहुला कलश और उसके भीतर मध्य में मन्दिर के शिखर का कलश है। मन्दिर के भीतर दिवारों के पास ४ पायें हैं और मध्य में तीन चार हाथ लम्बा और ढेढ़ हाथ चौड़ा केदार नाथ का अनगढ़ स्वरूप है। उस के ऊपर एक जगह भैरव के डील के समान उंचा है। ऊपर से बड़ी जलधरी और चान्दी का बड़ा छल लटका है। यालीगण केदारनाथ पर आगे की तरफ जल चढ़ा कर उनको स्पर्श करके चन्दन, मेवा, अक्षत, पेड़ा, वेलपत्र, रुपये, पैसे से उनकी पूजा करते हैं। पण्डे लोग श्रावण में कमल के फूल चढ़ाने का सङ्कल्प यालियों से कराते हैं। श्रावण में कुबेरपर्वत पर कमल का फूल होता है। केदारनाथ के स्वरूप के पीछे के भाग पर घी मलकर अंकमालिका की जाती है। याली लोग कड़ा, अंगूठी और कंगन जो खरीद कर के अपने साथ ले जाते हैं, उनको केदारनाथ का स्पर्श कराकर अपने घर ले आते हैं।

मन्दिर के आगे पत्थर का ऊंचा जगमोहन बना हुआ है। उसकी छत ढालुआं और पाखवाली है। उसके चारों ओर एक एक दरवाजे और मध्य में ४ पाये हैं। जगमोहन की दिवार में पश्चिमोत्तर युधिष्ठिर, पूर्वोत्तर नकुल और सहदेव, पूर्व-दक्षिण भीम और दक्षिण-पश्चिम द्रौपदी और अर्जुन की बड़ी बड़ी मूर्ति हैं। जगमोहन के मध्य में पीतल का छोटा नन्दी और दक्षिण के द्वार पर बड़े बड़े घंटे और बाहर पत्थर का पुराना बड़ा नन्दी और दोनों ओर २ द्वार पालक हैं। जगमोहन के आस पास दस पन्द्रह देव मूर्तियां हैं।

मन्दिर और जगमोहन के बीच में एकछोटा देवद्व है, जिसमें पूर्व ओर पार्वती और गणेश और पश्चिम लक्ष्मी की मूर्ति है। मन्दिर में अन्धकार रहता है, इसलिये दिन में भी दीप जलाए जाते हैं। केदारनाथ की शृंगार मूर्ति पांच मुखवाली है। वह समय समय पर वस्त्र भूषणों से भूषित कर केदारनाथ के ऊपर रखी जाती है।

मन्दिर के पीछे दो तीन हाथ लम्बा अमृत कुण्ड है, जिसमें दो शिवलिंग स्थित हैं और पूर्वोत्तर बहुत छोटे छोटे एक हंसकुण्ड और दूसरा रेतसकुण्ड है। रेतसकुण्ड में तीन आचमन दहिने हाथ से, तीन बाएं हाथ से और तीन अंजुली से और जंघा पृथ्वी पर रख कर किया जाता है। उस कुण्ड के समीप ईशानेश्वर महादेव हैं। उससे पश्चिम एक बहुत छोटा सुफलक कुण्ड है। केदारनाथ के मन्दिर के आगे थोड़ी दूर पर सोनहरे कलशवाले एक छोटे मन्दिर में दो अट्ठाई हाथ लम्बा उदक कुण्ड है, जिसमें रेतसकुण्ड के समान आचमन किया जाता है। उस मन्दिर के पीछे घड़ा डुवाने के योग्य मीठे पानी का एक छोटा कुण्ड है, जिसका पानी सब लोग पीते हैं।

केदारपुरी जाड़े के दिनों में वर्ष से ढकी रहती है। मेष (वैशाख) की संक्रान्ति से पन्द्रह बीस दिन पीछे केदारनाथ के मन्दिर का पट खुलता है और वृश्चिक (अग्रहन) की संक्रान्ति के लगभग बन्द हो जाता है। वहां के रावल अर्थात् पुजारी उखीमठ में और पण्डेलोग शोणित पुर अपने घरों को चले जाते हैं। इस वर्ष में मेष की संक्रान्ति से १२ दिन पीछे वैशाख सुदी १२ को मन्दिर खुला है। मन्दिर बन्द होनेपर केदारनाथ की पूजा उखीमठ में होती है। मन्दिर का खर्च जागीर और पूजा की आमदनी से चलता है। केदारनाथ के रावल दक्षिणी जङ्गम हैं। इनके पुत्र मरवाल जाति कहे जाते हैं। केदारनाथ की आमदनी लेने का इन को स्वतन्त्र अधिकार है। यात्रा के दिनों में भी रावल उखीमठहों में रहते हैं। उनके कर्मचारी केदारनाथके काम को करते हैं। रावल धनी हैं। रावल के बाद उसका चेला रावल होता है। केदारलिंग के मरने पर गणेशलिंग रावल हुआ है।

वहां नदियों के ऊंचे नीचे मैदान के चारो ओर वर्ष मय पहाड़ हैं। केदारनाथ पहाड़ की सब से ऊंची चोटी समुद्र से २२८५० फीट ऊंची है। वैशाख ज्येष्ठ में भी भूमि पर जगह जगह वर्ष रहती है। जाड़े के कारण रात में मकान से बाहर आदमी नहीं रह सकते हैं; बहुतेरे यात्री दर्शन करके उसी दिन रामवाड़ाचट्टी को लौट आते हैं। कोई २ एक रात्रि वहां रह जाते हैं। वहां भैरवज्ञाप करके प्रसिद्ध पर्वतके नीचे एक स्थान है, जहां पहले ऊपर से कूद

कर कोईर यात्री आत्मघात करते थे । सन १८२९ ई० से अंगरेजी सरकार ने इस चाल को रोक दिया है । पूर्ववाले वर्ष मय पर्वत के उस पार से वासुकी-गंगा निकल कर सोनप्रयाग में मन्दाकिनी से जा मिली है ।

हिमालय पर गढ़वाल जिले में ५ केदार हैं—(१) केदारनाथ, (२) मध्यमेश्वर (३) तुंगनाथ, (४) रुद्रनाथ और (५) कल्पेश्वर । इन का वृत्तांत आगे लिखा जायगा ।

संक्षिप्तप्राचीन कथा—व्यासस्मृति—(चौथा अध्याय) केदारतीर्थ करने से मनुष्य सब पापों से छूट जाता है ।

महाभारत—(शल्यपर्व, ३८ वां अध्याय) जगत्में ७ सरस्वती हैं,—(१) पुष्कर में सुप्रभा, (२) नैमिषारण्य में कांचनाक्षी, (३) गया में विशाला (४) अयोध्या में मनोरमा, (५) कुरुक्षेत्र में ओघवती, (६) गंगाद्वार में सुरेणु और (७) हिमालय में विमलोदका । (शान्तिपर्व—३५ वां अध्याय) महाप्रस्थान यात्रा अर्थात् केदाराचल पर गमन करके हिमालय पर चढ़ के प्राण त्याग करने से मनुष्य सुरापान के पाप से विमुक्त हो जाता है । (वनपर्व ८३ वां अध्याय) कपिस्थल (केदार) कुण्ड में स्नान करने से सब पाप भस्म हो जाता है । वहां से शरक तीर्थ पर जाना चाहिए । वहां कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी में शिव के दर्शन करने से स्वर्ग मिलता है । जलरहित स्थान में ऊँचे पहाड़ के ऊपर से गिरने या जलती हुई अग्नि में प्रवेश करने अथवा महाप्रस्थान यात्रा अर्थात् केदाराचल पर गमन करके हिमालय में चढ़ कर प्राण त्याग करने से मनुष्य सुरापान के पाप से छूटजाता है ।

लिंग पुराण—(९२ वां अध्याय) जो पुरुष सन्यास ग्रहण करके केदार में निवास करता है, वह दूसरे जन्म में पाशुपत योग को प्राप्त करता है ।

वामनपुराण—(३६ वां अध्याय) जहां साक्षात् बृद्धकेदार संज्ञक देव स्थित हैं; उस कपिस्थल तीर्थ में स्नान करके पीछे डीं डी नाम से विख्यात रुद्र के पूजन करने से मनुष्य शिव लोक में अनायास जाता है । जो मनुष्य वहां तर्पण करके डीं डी देव को नमस्कार करता है, वह केदार के फल को पाता है ।

पद्मपुराण—(पातालखण्ड—९१ वां अध्याय) कुंभराशि के सूर्य और वृहस्पति होने पर अर्थात् गुरुवादित्य योग के समय केदार का स्पर्श मोक्ष दायक होता है ।

गरुड़पुराण—(पूर्वार्द्ध, ८१ वां अध्याय) केदारतीर्थ संपूर्ण पापों का नाश करने वाला है ।

कूर्मपुराण—(उपरीभाग, ३६ वां अध्याय) महालयतीर्थ में स्नान करके महादेवजी के दर्शन करने से रुद्रलोक मिलता है । शंकरजी का दूसरा सिद्ध स्थान केदारतीर्थ है, जहाँ स्नान करके श्रीमहादेवजी का अर्चन करने से प्राणी को स्वामित्वपदवी प्राप्ति होती है और श्राद्ध, दान आदि कर्म करने से अक्षय फल मिलता है ।

सौरपुराण—(६९ वां अध्याय) केदार नामक स्थान भगवान् शंकरजी का महातीर्थ है । जो मनुष्य वहाँ स्नान कर के शिवजी का दर्शन करता है, वह गणों का राजा होता है ।

ब्रह्मवैवर्त्तपुराण—(कृष्णजन्मखण्ड, १७ वां अध्याय) केदार नामक राजा सतयुग में सप्तद्वीप का राज्य करता था । वह बहुत काल राज्य करने के पश्चात् जैगीपर्व के उपदेश से अपने पुत्र को राज्य के वन में जाकर श्रीहरि का तप करने लगा और बहुत काल तप करने के उपरांत गोलोक में चला गया; उसी के नाम के अनुसार वह तीर्थ केदार नाम से प्रसिद्ध होगया । राजा केदार की पुत्री वृन्दा ने, जो कमला के अंश से थी, अपना व्याह नहीं किया; वह गृह छोड़ वन में जाकर तप करने लगी और सहस्र वर्ष तप करके श्री कृष्ण भगवान् के सहित गोलोक में चली गई । जिस स्थान पर वृन्दा ने तप किया, वही स्थान वृन्दावन के नाम से प्रसिद्ध होगया ।

शिवपुराण—(ज्ञान संहिता, ३८ वां अध्याय) शिवजी के १२ ज्योतिर्लिंग विराजमान हैं; उन में से केदारेश्वर लिंग हिमालय पर्वत पर स्थित है । (४७ वां अध्याय) भरतखण्ड के बदरिकाश्रम मंडल में भगवान् नर नारायण रूप से सर्वदा निवास करते हैं और लोक के कल्याण के निमित्त नित्य तप करते हैं । एक समय उन्होंने ने हिमालय के केदारनामक शृंग पर शिवलिंग

स्थापन करके बड़ा तप किया । शिवजी प्रकट होकर बोले कि हे आर्यो ! तुम-
लोगोंकी जो इच्छा हो वह वर मांगो । तब नर और नारायण बोले कि हे देव !
यदि तुम प्रसन्न हो तो जगत् के मंगलके लिये इस स्थानपर विराजो । ऐसा सुन
सदाशिवने ज्योतिरूप होकर केदार में निवास किया । उसी दिन से वह
केदारेश्वर नाम से प्रसिद्ध हुए । वहाँ सम्पूर्ण ऋषीश्वर और देवता उनकी पूजा
करते हैं । जो मनुष्य केदारेश्वर का दर्शन करता है उसे स्वप्न में भी दुःख
नहीं होता । जो केदारेश्वर का खड्डा अर्थात् कंकण धारण करता है वह
शिवजीका प्रिय होता है । उसके दर्शन से मनुष्य सब पापों से छूट जाते हैं ।
केदारेश्वर के दर्शन करने वाला मनुष्य जीवनमुक्त हो जाता है । जो केदारे-
श्वर का दर्शन नहीं किया उसका जन्म निरर्थक है ।

बड़ा (शिवपुराण—(उर्दू अनुवाद, ८ वां खण्ड, २७ वां अध्याय)
जब युधिष्ठिर आदिक पाण्डव अपने गोत्र वध के पाप छुटकाने के लिये केदारे-
श्वर के दर्शन करने के अर्थ केदारतीर्थ में गए, तब शिवजी भैंसे का रूप धर
वहाँ से भाग चले । पाण्डवों ने अति प्रेम से शिवजी से विनय किया कि हे
नाथ ! तुम कृपा करके हम लोगों का पाप दूर करो और इस स्थान में स्थित
हो जाओ । तब महाराज शंकर अपने पिछले धड़से उसी स्थान पर स्थित
हुए, जिनके दर्शन से पाण्डु के पुत्रों का सब दुःख निवृत्त हो गया और
अगले धड़ से नैपाल में जा विराजे ।

स्कन्दपुराण—(केदारखण्ड, प्रथम भाग, ४० वां अध्याय) युधिष्ठिर
आदि पाण्डवगण गोत्र हत्या और द्रोणादिक गुरुजनों के मारने के अपराध
से पीड़ित और सन्तप्त हृदय हो कर व्यासजी के शरण में गए और बोले
कि हे भगवान ! हम लोग गोत्र हत्या और गुरु वध के पाप से किस भांति
विमुक्त होंगे । व्यासदेव बोले कि हे पाण्डव ! शास्त्र में गोत्र हत्या करने
वालों की प्रायश्चित्त नहीं है । बिना केदार भवन में जाने से यह पाप नहीं
छूटेगा; तुम लोग वहाँही जाओ; वहाँ अनेक धाराओं से गङ्गा नदी बहती है
और उमा और गणों के सहित साक्षात् महादेवजी निवास करते हैं; वहाँ
मृत्यु होने से मनुष्य शिवरूप हो जाता है; वही महापथ ब्रह्महत्यादिक पापों

का निवारण करता है । पांडव लोग व्यासदेव के आदेशानुसार केदार में जा कर उस तीर्थ के सेवन से शुद्ध हो गए ।

गंगाद्वार से लेकर श्वेत पर्यन्त तमसा नदी के तट से पूर्व चौद्धाचल तक ५० योजन लंबा और ३० योजन चौड़ा स्वर्ग का मार्ग केदारमण्डल है, जिसमें मृत्यु पाने से पशु भी शिवलोक में निवास करता है । केदार मंडल में अनेक तीर्थ, सैकड़ों शिवलिंग, सुन्दरवन, नाना प्रकार की नदियाँ, बहुतेरे नदियों के संगम, बहुतेरे पुण्यक्षेत्र तथा पुण्यपीठ विद्यमान हैं ।

महाक्षेत्र में ये धारा प्रधान हैं :—(१) मधुवर्णधारा, जिसको लोग मधुगंगा कहते हैं, (२) क्षीर के समान बहने वाली क्षीरधारा, (३) श्वेतवर्ण की स्वर्गद्वारधारा, (४) मन्दाकिनी नदी और (५) केदारालय में केदारधारा, जो शेष धारा से निकली है ।

(४१ वां अध्याय) मनुष्य केदारपुरी में मृत्यु पाने से निःसन्देश शिवरूप हो जाता है । केदारपुरी में जाने की इच्छा करनेवाले मनुष्य भी लोक में धन्य हैं; उनके पितर ३०० कुलों के सहित शिवलोक में चले जाते हैं । केदारक्षेत्र सब क्षेत्रों में उत्तम है ।

(४२ वां अध्याय) शिवजी के दक्षिण दिशा में रेतसकुण्ड है, जिसका जल पीने से मनुष्य शिवरूप हो जाता है । महातीर्थ के नीचे के भाग में मन्दाकिनी के तट पर शिवकुण्ड है, जिसमें स्नान करने से शिवलोक मिलता है । कपिल नामक शिव के दर्शन करने से मोक्ष मिलता है । मनुष्य वहाँ ७ रात्रि उपवास करके प्राण त्यागने से शिव सायुज्य पाता है । जिस स्थान से धारा निकली है उस से ऊपर पापियों को मुक्ति देनेवाला भृगुतुङ्ग तीर्थ है । महापातकी मनुष्य भी भृगुतुङ्ग से श्रीशिला पर गिर कर प्राण छोड़ने से परब्रह्म को पाता है । उस तीर्थ के उपरी भाग में २ योजन पर हिरण्य गर्भ तीर्थ में बूले के समान रक्तवर्ण गुप्त जल निकलता है, जिसके स्पर्शमात्र से लोहादिक धातु स्वर्ण हो जाते हैं । उसके उत्तर स्फटिक लिङ्ग है, जिसके पूर्व ७ पद पर बह्मीतीर्थ में वर्ष के बीच अग्नि मय जल विद्यमान है । उसमें घृत की आहुति करना चाहिए । उस से उत्तर ओर आश्चर्य दृश्य है । वहाँ पर्वतके

अग्र शिखर से भूतल में जल गिरता है, जिसके कण शरीर पर परने से मनुष्य मुक्त हो जाता है। उसी स्थान पर भीमसेन ने मुक्ताओं से श्रीमहादेवजी की पूजा की थी। वहां पुण्यात्मा पुरुष जाते हैं। उससे आगे महापथ है, जहां जानेसे मनुष्य आवागमन से रहित हो जाता है। वहांही सात प्राकारों से घृष्ट सदा-शिवजी का धाम है; महाभैरव हाथ में दण्ड ले कर गणों का पालन करते हैं और महादेवजी सर्वदा निवास करते हैं। जो मनुष्य सर्वदा कहता है कि मैं महापथ में जाकर प्राण त्याग करूंगा वह महाराज शंकर का बड़ा प्रिय है।

मधुगंगा और मन्दाकिनी के संगम के पास क्रौंच तीर्थ और क्षीरगंगा और मन्दाकिनी के संगम पर ब्राह्मच तीर्थ है। उसके दक्षिण बुदबुदाकार जल देख पड़ता है। शिवजी के वाम भाग में इंद्र पर्वत है। उसी स्थान पर इंद्रने अपनी स्थिति के लिये महादेवजी का तप किया था। वहां एक शिवलिंग है। केदारनाथ के स्थान से १० दण्डपर हंसकुंड है, जहां ब्रह्माने हंस रूप से जाकर रेत पान किया था। तभी से वह हंसकुंड के नाम से प्रसिद्ध हुआ; उसमें पितरों के श्राद्ध करने से वे परम पद को जाते हैं। जो मनुष्य केदारनाथ का दर्शन करके रेतसकुण्ड का जल पीता है, उसके हृदय में शिवजी स्थित हो जाते हैं; वह पापी भी हो; किसी स्थान में किसी समय में मरे; किन्तु शिवलोक में निवास करेगा। केदारपुरी से भीमशिला तक महादेवजी का शय्या है।

चौथा अध्याय ।

(गढ़वाल जिले में) उखीमठ, मध्यमेश्वर, तुंगनाथ,
मंडलगॉव, रुद्रनाथ, गोपेश्वर, चमोली, आदि-
बदरी, कल्पेश्वर, वृद्धबदरी, जोशीमठ, भवि-
ष्यबदरी, बिष्णुप्रयाग, पांडुकेश्वर,
योगबदरी और बदरीनाथ ।

उखीमठ

मैं एक रात्रि केदारपुरी में निवासकर दूसरे दिन वहां से लौटा। केदारपुरी

से सोनप्रयाग १२ मील, पाटीगाड़ नदी (त्रियुगीनारायण का मार्ग छोड़कर) १३½ मील, और नालाचट्टी २५½ मील है । यात्री-गण नालाचट्टी से जिस मार्ग होकर केदारपुरी जाते हैं उसी राहसे नालाचट्टी लौट आते हैं । नालाचट्टी से गुप्तकाशी की सड़क दहिने छूटजाती है ।

नालाचट्टी से ९ मील छोटा झरना, १½ मील एक बड़ा झरना और १½ मील पर १३० फीट लंबा और ३½ फीट चौड़ा मन्दाकिनी नदी पर लोहे का पुल है । छोटे झरने से पुल तक कड़ी उतराई है । वहाँ से मन्दाकिनी के बाएँ किनारे चलने पड़ता है । पुल से १½ मील और नालाचट्टी से २½ मील पर उखीमठ है । पुल से उखीमठ तक कड़ी चढ़ाई है ।

उखीमठ—पहले सफाखाना और डाकखाना मिलते हैं, जिनके पास तीन चार हाथ ऊँचे ११ शिव मंदिर हैं । सफाखाने से बहुत सीढ़ियाँ लाँघकर बड़ा मन्दिर के पास पहुँचना होता है ।

गुप्तकाशी के विश्वनाथ के मन्दिर के समान उखीमठ में एक शिखरदार मन्दिर है । उसका द्वार दक्षिण मुख वाले जगमोहन में पश्चिम मुख से है । मन्दिर में ओंकारनाथ शिव लिंग हैं । उनके पूर्व राजा मान्धाता की बड़ी मूर्ति और आस पास कई देव मूर्तियाँ हैं । जगमोहन पत्थर के सुन्दर टुकड़ों से छाया हुआ है, जिसमें उत्तर की ओर तीन सिंहासनों में बदरीनाथ, केदारनाथ, तुंगनाथ, पार्वती, आदि को सुन्दर शृङ्गार युक्त धातु मूर्तियों का दर्शन होता है । मन्दिर और जगमोहन में अन्धकार रहता है । दीपक द्वारा देवताओं का दर्शन होता है । जगमोहन के आगे चार खंभों के गुम्फजदार मंडप में नन्दी की पुरानी मूर्ति है ।

मन्दिर से पूर्व उत्तर मुख की कोठरी में, जिसका द्वार पश्चिम मुख की कोठरी में है, ऊखा और अनिरुद्ध की मूर्तियाँ और धातु के पत्तर पर चीत्र-रेखा की मूर्ति है । आगे वाली कोठरी में पाँच सात शिवलिंग और कई देव मूर्तियाँ और कोठरी से बाहर बहुत प्राचीन मूर्तियाँ हैं ।

ओंकारनाथ के मन्दिर से पश्चिम केदारनाथ के रावल का दो मंजिला

मकान है । उसके नीचे के एक कमरे में केदारनाथ की गद्दी है । गद्दी के पास विचित्र सोनहले सिंहासन पर पंच मुखी महादेव हैं जिनका एक मुख मण्डल सोना का और एक चान्दी का और छत्र सुनहला है । शिव के पास में वस्त्र और भूषणों से सजी हुई पार्वतीजी की सुन्दर मूर्ति विराजमान है । जाड़े के दिनों में केदारनाथ के पट बन्द होजाने पर उनकी पूजा उसी जगह होती है । दूसरे कमरे में कुन्ती और द्रौपदी की मूर्तियां और धातु के पत्तों पर युधिष्ठिर आदि पांडवों की मूर्तियां हैं और ऊपर एक कमरे में गरुड़ की मूर्ति है ।

ओंकारनाथ के मन्दिर के पश्चिम रावल का मकान है और तीन ओर दो मंजिले दोहरे मकान और धर्मशाले बनी हैं । बीच में बड़ा आंगन है । मकानों में सोना, चांदी, वर्तन, कपड़ा और जिन्स की दुकानें रहती हैं ।

उखीमठ में सफाखाना, डाकखाना, पुलिस की चौकी, छोटी बाजार, कई और कंगन बनाने वाले लोहार और कई झरने हैं । वस्ती के समीप मैदान नहीं है । वस्ती से थोड़ा दक्षिण दस पंद्रह घर की दूसरी वस्ती है । उखीमठ का रावल केदारनाथ, गुप्तकाशी, उखीमठ, तुंगनाथ, आदि मंदिरों का अधिकारी है ।

संक्षिप्त प्राचीन कथा—स्कंदपुराण—(केदारखंड, उत्तर भाग, २४ वां अध्याय) गुप्तकाशी के पूर्व मंदाकिनी नदी के दूसरे पार (अर्थात् बाएँ) राजा नल ने राज सुख त्याग कर तप और राज राजेश्वरी देवी का पूजन किया था । वहां के नलकुण्ड में स्नान करने से जन्म भर का संचित पाप नष्ट होजाता है । सूर्यवंशी राजा युवनाश्व का पुत्र राजा मान्धाता ने उस स्थान पर तप करके परम सिद्धि प्राप्त किया था ।

मध्यमेश्वर ।

पंचकेदारों में से एक मध्यमेश्वर हैं । उखीमठ से लगभग १५ मील मध्यमेश्वर का मन्दिर है । राह में अहरियाकोट के पास कालीनदी; उस से आगे कालीमठ, कालशिला और राक्षीदेवी का मन्दिर मिलता है । मध्यमेश्वर

का पक्का मन्दिर बना हुआ है। मन्दिर के निकट धर्मशाला है। मार्ग में खाने का सामान नहीं मिलता। साथ में जिन्स लेजाना पड़ता है और फिर ऊखीमठ आकर केवदरीनाथ की ओर जाना होता है।

संक्षिप्त प्राचीन कथा—स्कंदपुराण— (केदारखण्ड, प्रथमभाग, ४७ वां अध्याय) शिवजी के ५ क्षेत्र हैं;—(१) केदारनाथ, (२) मध्यमेश्वर, (३) तुङ्गनाथ, (४) रुद्रालय और (५ वां) कल्पेश्वर। इनमें से केदारेश्वर का वर्णन हो चुका। केदारपुरी से ३ योजन दक्षिण मध्यमेश्वर क्षेत्र है, जिसके दर्शन मात्र से मनुष्य स्वर्ग में निवास करता है।

पूर्व समय में गौड़देश का एक ब्राह्मण मध्यमेश्वर के दर्शन की इच्छा करके गंगाद्वार में गया; वह वहां से गंगाजल लेकर मन्दाकिनी के तट में अगस्त्य आदि मुनियों को नमस्कार और अनेक तीर्थों का दर्शन करता हुआ शिव क्षेत्र में पहुंचा; उसने वहां से मध्यमेश्वर क्षेत्र में जा कर मध्यमेश्वरजी के समीप ३ रात्रि जागरण और सरस्वती में स्नान और पितरों का तर्पण किया। मार्ग में उस ब्राह्मण के दर्शन से एक राक्षस शिवरूप हो कर कैलास में चला गया। ब्राह्मणने अपने घर जाकर सब भोगों को भोगने के पश्चात् अंत कालमें ब्रह्म सायुज्य पाया।

(४८ वां अध्याय) मनुष्य मध्यमेश्वर क्षेत्र में सरस्वती के दर्शन मात्र से पापों से छूट जाता है और उसमें स्नान करने से आवागमन से रहित हो जाता है। उस स्थान में पितर लोगों को जल और पिण्डदान देने से सब पितर मुक्ति पाते हैं।

पोथीवासा चट्टी—ऊखीमठ से १ मील एक झरना; १½ मील एक घस्ती, जहांसे, मन्दाकिनी के दहिने पर्वत के ऊपर शोणितपुर देख पड़ता है; १½ मील पर मन्दाकिनी और गंगाका संगम, जहां से मन्दाकिनी छोड़ कर आकाश गंगा के दहिने किनारे चलना होता है; २½ मील पर बहुत छोटा एक मन्दिर; २½ मील पर ४ छप्पर की गणेशचट्टी; ३ मील पर झरना; ३½ मील पर बड़ा झरना; ४ मील पर एक झरना और कठारी प्यालावाले बड़ई की दुकान;

४½ मील पर आठ दस छप्पर की दुर्गा चट्टी, जहाँ एक बड़ा झरना और आकाश गंगा नदी पर काठ का पुल है, जिससे नदी पार होते हैं; ५½ मील तीन छप्पर की छोटी दुर्गाचट्टी, एक झरना और शिखर पर दो वस्ती; उससे आगे कठारी प्याले की दुकान; ६½ मील वस्ती और खेत का मैदान और ऊखीमठ से ७½ मील पर पोथी वासा चट्टी है ।

ऊखीमठ से गणेशचट्टी तक सुगम चढ़ाई, गणेशचट्टी से दुर्गाचट्टी तक सुगम उतराई और दुर्गा चट्टी से छोटी दुर्गाचट्टी तक कड़ी चढ़ाई है । छोटी दुर्गाचट्टी से जंगल की विचित्र हरियाली, राह के दोनों ओर बड़े बड़े घने वृक्ष और सेवती और जंगली सेमल आदि कई तरह के वृक्षों का जंगल मिलता है । इस तरफ भालू का कूल भय रहता है । छोटी दुर्गाचट्टी से पोथी वासा तक जगह जगह कड़ी चढ़ाई; ठोकर वाली राह और छोटी छोटी गुफा है ।

पोथीवासा बड़ी चट्टी है । वहाँ मोदियों की बड़ी बड़ी पक्की दुकानें और एक झरना है । वहाँ से तुंगनाथ पर्वत की सदी आरंभ होती है और आकाशगंगा नदी बाएँ छूट जाती है ।

पोथीवासा से ½ मील आगे छोटी झरना, १½ मील एक झरना और २ मील पर एक पहाड़ की चोटी पर कुन्दन चट्टी है । वहाँ ऊँचा नीचा मैदान और एक झरना है ।

वहाँ वर्षा अधिक होती है, इसलिये वहाँ के बहुतेरे वृक्षों पर सेवार और चारना नामक वँवर लग गये हैं । बरसात में वहाँ के वृक्ष बादलों से ढँप जाते हैं । वहाँ पर्वत के नीचे बादल देख पड़ते हैं । कुन्दन चट्टी से आगे पोथी वासा से २½ मील पर वन के मैदान में दो झरने और ३ मील पर चौपत्ता चट्टी है ।

चौपत्ताचट्टी—चौपत्ताचट्टी पर मैदान में एक पक्की धर्मशाला, मोदियों के बारह चौदह पक्के मकान और दो एक झरने हैं । पोथीवासा से चौपत्ताचट्टी तक जगह जगह कड़ी चढ़ाई है । उस से आगे दहिने चमोली को और बाएँ तुंगनाथ को सड़क गई है ।

तुंगनाथ

यह पंच केदार में से तीसरा है । तुंगनाथ की चढ़ाई कड़ी है । अधिकांश यात्री तुंगनाथ को छोड़ कर सीधीराह से चमोली जाते हैं । शम्भान घाले सवार से तुंगनाथ की चढ़ाई का इनाम लेते हैं ।

चौपत्ताचट्टी से आगे एक मील पर बाएँ ओर नीचे मैदान और भेड़वालों के दो छप्पर हैं । उस से आगे सदी से पेड़ नहीं जमे हैं । चट्टी से १५ मील आगे से पर्वत के शिखर के पास तुंगनाथ का मन्दिर और शिखर के सिर पर चन्द्रशेखर का मन्दिर देख पड़ता है । समीप में ऊपर और पहाड़ के नीचे धूआँ के समान बादल देख पड़ते हैं । चट्टी से २५ मील पर ढाई हाथ ऊँचे मन्दिर में गणेश की मूर्ति और २५ मील पर तुंगनाथ का मन्दिर है । सड़क चौड़ी है, पर चढ़ाई बहुत कड़ी है । रास्ते में पानी नहीं मिलता ।

तुंगनाथ का प्राचीन मन्दिर पत्थर के मोटे मोटे ढोको से पश्चिम मुख का बना हुआ है । मन्दिर के शिखर पर १६ द्वार को बारहदरी के भीतर मन्दिर का गुम्फज है । तुंगनाथ पतला अनगढ़ शिवलिंग हैं । लिंग के पूर्व डेढ़ दो हाथ ऊँची शंकराचार्य की मूर्ति स्थित है । मन्दिर के आगे पत्थर के बड़े बड़े ढोको से बना हुआ और पत्थर के मोटे तख्तों से छाया हुआ जगमोहन, जिस का द्वार आगे के पाख में है, बना हुआ है । जगमोहन के आगे पुराना नन्दी और गणेश जी हैं । मन्दिर से पूर्व दो कोठरी, एक छोटा शिवमन्दिर, दक्षिण एक कोठरी, एक छोटा मन्दिर, ६ अत्यंत छोटे मन्दिर और १ धर्मशिला और पश्चिम एक कोठरी, दो बड़ा घर, और एक बहुत छोटा मन्दिर है । मन्दिर के पासही दक्षिण-पश्चिम एक छोटे मन्दिर में पार्वती की मूर्ति और ईशान कोण पर नीचे एक छोटा झरना है । लोग कहते हैं कि तुंगनाथ का मन्दिर शंकराचार्य का बनाया है ।

वहाँ ३ ब्राह्मण पुजारी हैं । वह स्यान ऊखीमठ के रावल के अधीन हैं । जाड़े के दिनों में वहाँ के पुजारी मन्दिर का पट बन्द करके वहाँ से १२ मील पर मकूमठ को चले जाते हैं । पहाड़ के नीचे, ऊपर और मन्दिर के आस पास

धूँआ के समान वादल देख पड़ते हैं। वहाँ जाड़ा अधिक पड़ती है। मन्दिर के पास एक गुफा है, जिस में वर्षा के पानी से बहुत आदमी बँच सकते हैं। वहाँ कोई मोदी नहीं रहता। उस स्थान से उत्तर की ओर ऊँचे पहाड़ों पर बर्फ देख पड़ता है। उस पर्वत की चोटी पर तुंगनाथ से एक मील दूर चंद्रशेखर शिव का मन्दिर है।

पश्चिम से तुंगनाथ जाकर दक्षिण ओर उस पहाड़ से उतरना होता है। उत्तराई की राह खड़ी और संकरी है। झम्पान के सवार झम्पान से उतर कर चलते हैं। २१ मील उतरने के पीछे चार पाँच छप्परवाली तुंगनाथ चट्टी मिलती है। वहाँ ही नीचे की चौपत्ताचट्टी वाली सड़क मिल जाती है। उस स्थान से ११ मील पीछे की ओर चौपत्ताचट्टी है।

संक्षिप्तप्राचीन कथा—स्कंदपुराण—(केदारखण्ड, प्रथमभाग, ४९ वां अध्याय) मान्धाताक्षेत्र (अर्थात् उखीमठ) से दक्षिण ओर २ योजन लम्बा और २ योजन चौड़ा तुंगनाथ क्षेत्र है, जिस के दर्शन मात्र से मनुष्य का सब पाप छूट जाता है और उसको शिवलोक मिलता है। प्रथम भैरव को नमस्कार कर के क्षेत्र में प्रवेश करना उचित है। तुंगनाथ के पूजन करने वालों को तीनों लोक में कोई वस्तु दुर्लभ नहीं है। वहाँ ब्रह्मादिक देवता सर्वदा महेश्वर की स्तुति करते हैं। मनुष्य जल की जितने कणिका शिवलिंग पर चढ़ाते हैं वह उतने हजार वर्ष तक शिवलोक में निवास करते हैं। बिल्वपत्र से तुंगनाथ की पूजा करने वाले एक कल्प तक शिव लोक में बसते हैं। अगम्यागमन करनेवाला मनुष्य भी तुंगनाथ क्षेत्र में जाने से विमुक्त हो जाता है।

(५० वां अध्याय) तुंगनाथ क्षेत्र के आकाशगंगा के तीर पर पितरों का तर्पण करने से २१ कुल शिवलोक में निवास करते हैं और वहाँ पिंडदान करने से पितरगण कृतकृत्य होजाते हैं। वहाँ दान करने से असंख्य फल लाभ होता है। जो मनुष्य तुंगेश्वर के ऊँचे शिखर पर ३ उपवास करके अपने प्राणों को त्यागता है वह अवश्य शिव रूप होजाता है। शिव जी के पास ही पश्चिम स्फटिक का लिंग है, उसके दक्षिण गरुड़ तीर्थ है, उससे चौथाई कोस पश्चिम मानसर नामक सरोवर है, जिसके उत्तर भाग में मर्कटेश्वर शिव स्थित हैं।

जिनके दर्शन मात्र से मनुष्य शिव लोक में निवास करता है । उस के दक्षिण भाग में मृकंडकृपि के आश्रम में महेश्वरी देवी विराजती हैं ।

पांगरचट्टी—तुंगनाथचट्टी से १ मील पर भीमचट्टी और एक झरना; ११ मील पर जंगलीचट्टी और २ झरने और २१ मील पर पांगरचट्टी है । वह बड़ी चट्टी है । वहाँ एक पक्की धर्मशाला, मोदियों के बहुत मकान, कठारी प्याले बँचनेवालों की ३ दुकानें और २ झरने हैं । तुंगनाथचट्टी से पांगरचट्टी तक मार्ग के दोनों तरफ बड़े बड़े वृक्षों का जंगल है ।

पांगरचट्टी से आगे एक मील पर २ झरने; २ मील पर जगह जगह छोटे छोटे ४ झरने और २१ मील पर कई झरने और वालासोती नदी का किनारा है । उसके थोड़े आगे से दो रास्ते हैं । यात्री को ऊपर की राह छोड़ कर नीचे के रास्ते से जाना चाहिए । पांगरचट्टी से ३१ मील पर वालासोती नदी के किनारे मण्डलचट्टी है । तुंगनाथ चट्टी से वहाँ तक उतराई का मार्ग है ।

मण्डलचट्टी—मण्डलचट्टी पर मोदियों के बहुत मकान, मैदान, झरना और कड़े अंगूठी बेचने वाले लोहार हैं । दो पर्वतों के नीचे बड़े मैदान में वालासोती नदी बहती है । नदी के किनारे पर खेत का मैदान है । यात्री लोग काठ का पुल पार हो नदी के बाएँ किनारे चलते हैं ।

मंडलगांव

मंडलचट्टी से १ मील आगे एक दूसरी नदी पर पुल है । वह नदी अन्सूया और अमृतकुण्ड से आकर मंडल गांव के पास वालासोती नदी में मिल गई है । मंडलचट्टी से १ मील आगे दोनों नदों के संगम के निकट मंडल गांव, जिस को ब्रह्मकोटी भी कहते हैं, बसा हुआ है । वहाँ के संगम को लोग व्योमप्रयाग कहते हैं । ऐसा प्रसिद्ध है कि पूर्व काल में राजा सगर ने वहाँ अश्वमेध यज्ञ किया था । पहले वहाँ बहुत मन्दिर थे । अब भी एक देवी का मन्दिर, एक कुण्ड और पाँच छ बड़े छोटे मन्दिर हैं । उस स्थान को मंडल

तीर्थ कहते हैं । उस स्थान से १ मील आगे मंडोली गांव के पास एक पक्की सरकारी धर्मशाला है ।

संक्षिप्त प्राचीन कथा—वाल्मीकि रामायण—(बालकाण्ड-७० वां सर्ग) सूर्यवंश में राजा असित हुए, जिनको हैहय, तालजंघ और शशविन्दु ये तीनों राजाओं ने युद्ध में पराजित करके राज्य से निकाल दिया । तब राजा असित अपनी दो पत्नियों के सहित थोड़ी सी सेना संग ले हिमवान पर्वत पर जाकर रहने लगे और कुछ समय के पश्चात् काल धर्म को प्राप्त हुए । उसकाल में उनकी दोनों स्त्रियां गर्भिणी थीं । एक ने दूसरी का गर्भ नाश करने के लिये उसको गरल अर्थात् विष दिया । उस समय उस पर्वत पर भार्गव च्यवन नामक मुनि तप करते थे । उन स्त्रियों में से एक ने, जिस का नाम कालिन्दी था, जाकर मुनि को प्रणाम किया । मुनि के आशीर्वाद से गर के सहित कालिन्दी का पुत्र उत्पन्न हुआ, इसलिये उस पुत्र का सगर नाम पड़ा । (३८ वां सर्ग) अयोध्या के अधिपति राजा सगर सन्तति हीन थे । राजा को केशिनी और सुमती नामक २ स्त्री थीं । महाराज सगर दोनों पत्नियों के साथ हिमवान पर्वत के भृगुप्रश्रवण प्रवेश में जाकर तप करने लगे । १०० वर्ष तप करने के पश्चात् भृगुमुनि ने प्रसन्न हो सगर को वरदिया, जिससे अयोध्या में आने पर केशिनी को एक पुत्र और सुमती को ६० सहस्र पुत्र हुए ।

शिवपुराण—(११ वां खण्ड—२१ वां अध्याय) जब अयोध्या के राजा बाहु पर हैहय, तालजंघ और शक ये तीनों राजा राक्षसों के सहाय सहित चढ़ धाए और राजा को परास्त कर आप राज करने लगे ; तब राजा बाहु ऊर्जमुनि के शरण में जाकर रहने लगे और वहीं मर गए । राजा की बड़ी रानी गर्भवती थी । छोटी रानी डाह से उस को विष देदिया; लेकिन रानी न मरी; उस को ऊर्जमुनि के आश्रम पर एक पुत्र जन्मा । मुनि ने बालक को विष सहित जन्मा हुआ देख कर उस का नाम सगर रखवा । राजा सगर शिवजी की प्रसन्नता और ऊर्जमुनि की सहायता से शत्रुओं का विनाश कर उन पर प्रबल हुआ । फिर सगर ऊर्जमुनि को गुरु बना कर अश्वमेध यज्ञ करने लगे, जिस में उन के ६० हजार पुत्र कपिलजी की दृष्टि से जल गए ।

(यह कथा स्कंदपुराण, केदारखण्ड, प्रथमभाग के २७ वें और २८ वें अध्याय में और विष्णुपुराण, चौथे अंश, के चौथे अध्याय में भी है)

रुद्रनाथ

यह पंचकैदारों में से चौथा है । मंडलगंग के पासवाले पुल के पास से एक पहाड़ी राह गई है । उस राह से अनुसूयादेवी का मन्दिर दो मील पर और रुद्रनाथ का मन्दिर १२ मील पर है । वहां वर्ष बहुत है, इस से बदरीनाथ के विरले यात्री वहां जाते हैं । रुद्रगंगा रुद्रनाथ के पास से निकल कर उस स्थान से दक्षिण की ओर जाकर पीपलकोटी चट्टी से २१ मील आगे अलक-नन्दा में मिल गई है ।

संक्षिप्त प्राचीन कथा—स्कंदपुराण—(केदारखंड प्रथम भाग, ५१ वां अध्याय) सदाशिवजी रुद्रालय खेल का त्याग कभी नहीं करते हैं । खेल के दर्शन मात्र से मनुष्य का जन्म सफल हो जाता है । मनुष्य वहां शिवजी के दर्शन करने से संसार में नाना प्रकार के सुख भोग कर अंतकाल में शिव-लोक में निवास करता है ।

पूर्व काल में देवताओं ने अन्धकासुर से पराजित हो हिमालय पर रुद्रालय में जाकर शिव से अपना दुःख कह सुनाया और उनसे यह वर मांगा कि तुम सर्वदा इस स्थान पर निवास करो । महादेवजी बोले कि हे देवताओं ! मैं अंधकासुर को मार कर तुम लोगों को सुखी करूंगा और अपने गणों और पार्वतीजी के सहित सर्वदा यहां निवास करूंगा । उसके पश्चात् देवता सब अपने अपने स्थान को चले गए ।

(५२ वां अध्याय) महालय (अर्थात् रुद्रक्षेत्र) में पितरों को तारने वाली वैतरणी नदी बहती है; वहां पितरों के पिंडदान देने से कोटि गया के समान फल मिलता है । उसी क्षेत्र में संपूर्ण आभरणों से विभूषित शिवजी का सुन्दर मुखमंडल है, जिसके दर्शन मात्र से मनुष्य मुक्त हो जाते हैं ।

पूर्व काल में युधिष्ठिर आदि पांडवगण गोत्र हत्या के पाप से क्रुटकारा पाने के अर्थ शिवजी को हूँढ़ते हुए केदार पुरी में आए । शिवजी उनको

पाप युक्त देखकर पृथ्वी में प्रवेश करके दूर देश में चले गए; किंतु वे लोग उनके पवित्रपृष्ठ का स्पर्श करके सब पापों से विमुक्त होगए । वही पृष्ठ भाग अद्यापि केदारपुरी में स्थित है और उनका मुखमंडल महालय अर्थात् रुद्र क्षेत्र में विराजमान है, जिनके दर्शन करने से मनुष्य सब पापों से छूटकर शिव सायुज्य पाते हैं ।

गोपेश्वर ।

मण्डल गांव से आगे २ मील पर झरना, ३½ मील पर झरना, ३½ मील पर वीरभद्र नामक छोटी चट्टी, ४ मील पर एक छोटा झरना, ४½ मील पर बड़ा झरना, ४½ मील पर वीरा नदी और वालासोती नदी का संगम और ५½ मील गोपेश्वर हैं । मण्डलगांव के १½ आगे से नदी की घाटी का मैदान छोड़ कर पहाड़ पर चढ़ना होता है । वीरभद्र चट्टी वीरागंगा नामक नदी के किनारे है वहां से वीरानदी के बाएं किनारे पर चलना होता है । घाटी से गोपेश्वर तक सुगम चढ़ाई उतराई है ।

गोपेश्वर का शुद्ध नाम गोस्थल है । उस देश की बड़ी वस्तिओं में से गोपेश्वर एक वस्ती है । उसमें एक मंजिले दो मंजिले बीस पचीस पक्के मकान, मोदियों की २ दुकानें, १ दो मंजिला धर्मशाला, गोपेश्वर का बड़ा मंदिर और चण्डीका १ छोटा मंदिर है । बदरीनाथ और केदारनाथ के रास्ते में हृषीकेश और काठगोशाम के बीच में केवल उसी जगह ९ हाथ का गहरा एक कूप है । उसमें लोटा डुवाने लायक खारा पानी है । वस्ती से ½ मील उत्तर (पीछे की तरफ) एक छोटे मंदिर के पास ३ झरने हैं । सब लोग उन्हीं का पानी पीते हैं । चमोलीचट्टी पास में होने के कारण वहां याली कम टिकते हैं । मन्दिर का पुजारी उसी वस्ती का रहने वाला है ।

गोपेश्वर का मन्दिर एक बड़े चौगान के मध्य में खड़ा है । चौगान के चारो ओर मकान और धर्मशाले हैं और भीतर पत्थर का फर्श लगा है । वह पुराना मन्दिर लगभग ३० फीट लम्बा और उतनाही चौड़ा सादेवनावट का पूर्वमुख से स्थित है । मन्दिर के शिखर पर २४ द्वार की बारह दरी है ।

गोपेश्वर शिव लिंग के पास में चांदी की शृंगार मूर्ति, पश्चिम पार्वती की मूर्ति और धातु के पत्तों पर बहुतेरी देव मूर्तियां हैं और बाहर पीतल का बड़ा गरुड़ और कई देवता हैं । आगे के जगमोहन में, जो लम्बा पाखवाले घर के समान है, गणेश और पुराना बड़ा नन्दी है । मन्दिर के बाहर पश्चिमोत्तर चिन्तामणि गणेश के पास खरिक के मोटेवृक्ष पर और पद्म के पतले पेड़ पर लपटी हुई, कल्पलता नामक वंवर है । वंवर बहुत पुरानी है और सब ऋतुओं में फूल देती है, इस लिये उसको लोग कल्प लता कहते हैं । मन्दिर से बाहर चौगान के भीतर पूर्वोत्तर के कोने के पास लगभग ९ हाथ ऊंचा लोहे का या मिले हुए धातुओं का शिव का त्रिशूल खड़ा है । उसके खड़े डंडे में एक फरसा लगा है । त्रिशूल के डंडे पर एक पुराने अक्षरका और दूसरा देवनागरी अक्षर का लेख है । देवनागरी अक्षर पीछे का जान पड़ता है और साफ है । त्रिशूल के समीप गंगाजी की छोटी मूर्ति है ।

एक चढ़ाव की नई राह गोपेश्वर से पूर्व ओर हाटचट्टी के निकट जाकर चमोलीवाली राह में मिल गई है । बदरीनाथ के यात्री गोपेश्वर से दक्षिण के दिशा में चमोली से पूर्वोत्तर घुमाव की राह से हाटचट्टी पहुंचते हैं । पंचकेदारों में से रुद्रनाथ गोपेश्वर से केवल १२ मील दूर है ; किन्तु वह पगडंडी का कठिन मार्ग है; इस कारण से केवल पहाड़ी लोग उस मार्ग से रुद्रनाथ जाते हैं ।

संक्षिप्त प्राचीन कथा—स्कन्दपुराण—(केदारखण्ड, प्रथम भाग ५५ वां अध्याय) अग्नितीर्थ के पश्चिम भाग में गोस्थल नामक स्थान है, जहां पार्वतीजी के सहित श्रीमहादेवजी सर्वदा निवास करते हैं । वहां महादेवजी पश्वीश्वर नाम से प्रसिद्ध हैं । उस स्थान में शिवजी का आश्रय जनक त्रिशूल है, जो बल पूर्वक हिलाने से नहीं डोलता और एक पुष्पवृक्ष है, जो अकाल में भी सदा पुष्पित रहता है । उस स्थान में सावधानता पूर्वक ५ रात्रि जप करने से देव दुर्लभ सिद्धि प्राप्त होती है और प्राणत्याग करने से शिवलोक में निवास होता है । उस स्थान के पूर्व दिशा में ह्रस्वकेत नामक महादेव हैं । पूर्वकाल में शिवजी ने उसी स्थान पर कामदेव

को भस्म किया था और काम की स्त्री रति ने शिवजी को प्रसन्न करके दूसरे जन्म में काम को रूपवान किया था; तभी से उस स्थान पर शिवजी रतीश्वर नाम से प्रसिद्ध होगए। वहां रतिकुण्ड है, जिसमें स्नान करने से शिवलोक मिलता है।

चमोली।

गोपेश्वर से आगे १ मील पर बाएँ ओर एक बहुत छोटा मन्दिर और दहिनी ओर वालासोती नदी के किनारे पर एक वस्ती; १ मील पर अलकनन्दा और कुछ दूर दहिनी ओर अलकनन्दा और वालासोती का संगम; १ १/२ मील पर अलकनन्दा के दहिने किनारे पर कोटाल गांव नामक छोटी वस्ती और २ मील पर चमोली है, जिसको लोग लालसांगा भी कहते हैं।

गोपेश्वर से चमोली तक मार्ग उतराई का है। केदारनाथ को छोड़ कर बदरीनाथ जानेवाले यात्री रुद्रप्रयाग से अलकनन्दा के किनारे किनारे चमोली जाते हैं। वहां से अलकनन्दा के दहिने किनारे से चलना पड़ता है। चमोली से पीछे की ओर नन्दप्रयाग ७ मील, कर्णप्रयाग १९ १/२ मील और रुद्रप्रयाग ४२ १/२ मील और आगे की ओर बदरीनाथ ४४ १/२ मील पर हैं।

चमोली में पक्का बाजार, अस्पताल, मन्दिर और अलकनन्दा पर लोहे का लटकाऊ पुल था, जो सन् १८९४ ई० में गोहना झील के टूटने पर विरही नदी के पानी से सब बह गए। अब किसी का चिन्ह नहीं है। उस समय चमोली में अलकनन्दा का जल १६० फीट ऊंचा हुआ था। अब अलकनन्दा पर बरहे का झूला बना है। झूले का महसूल झंपान का चार आने और आदमी का एक पाई लगता है। झंपान के सवार पैदल झूले से नदी पार होते हैं और पहाड़ी आदमी असबाब की गठरी पार कर देते हैं। झूले से १ मील आगे अलकनन्दा के किनारे पर मोदियों के मकान बन रहे हैं। वहां अलकनन्दा और एक झरना का पानी है। दुकानों पर साधारण वस्तुओं के अतिरिक्त कस्तूरी, शिलाजित आदि पहाड़ी चीजें भी मिलती हैं। कोई कोई यात्री जङ्गल से अधिक अपना असबाब वहां मोदियों के पास रख देते हैं।

B V C L

18807



915.4 S15B(H)

अलकनन्दा के उस पार डिपटीकलक्टर की कचहरी, पुलिस, डाकखाना, अस्पताल और एक मोदी है ।

केदारनाथ से बदरीनाथ जाने वाले यात्रियों को चमोली के पास अलकनन्दा के पार उतरना नहीं पड़ता; किंतु बदरीनाथ से लौटने पर उतरना होता है । चमोली से २ मील आगे तक झरने, उस पार खड़े पहाड़ से गिरता हुआ बड़ा झरना और २½ मील के आगे एक छोटी नदी के पास, जिस पर काठ का पुल है, मठचट्टी है । पुल के पार एक वस्ती, १ दुकान और १ झरना है । उससे आगे चमोली से ३½ मील आगे पर दो छप्पर की १ छोटी चट्टी और १ झरना; ४ मील आगे बौलानी नामक ४ छप्पर की छोटी चट्टी, १ छोटी नदी और पनचक्की का घर; और ४½ मील आगे विरही और अलकनन्दा का संगम है । चमोली से २ मील आगे तक तंग रास्ता है । चमोली से मठचट्टी तक रास्ते के किनारे छोटे छोटे वृक्षों का जंगल है ।

विरही नदी और अलकनन्दा का संगम—विरही नदी पूर्व से आकर अलकनन्दा से बाएँ किनारे पर मिल गई है । संगम के पास बाछू का मैदान होगया है । इसी नदी के पानी से यहां से हरिद्वार तक के अलकनन्दा और भागीरथी के किनारों के प्रायः सब वस्ती, बाजार, मन्दिर, सबक और पुल बह गए ।

संगम से ७ मील पूर्व विरही नदी के किनारे पर गोहना गांव है । यह छोटी नदी गोहना से पांच सात मील उत्तर से आई है । सन् १८९३ ई० के ता० ६ सितम्बर के दिन गोहना गांव के पास पर्वत का ४०० गज ऊंचा शृंग विरही नदी में गिरगया । उसी के गिरने से नदी का प्रवाह रुक गया । विरही के एक किनारे से दूसरे किनारे तक प्रायः १½ मील चौड़ा और २ मील लम्बा पत्थर और मट्टी का ढेर होगया । पानी रुक जाने से एक बड़ा तालाब बन गया और दिन-दिन उसका पानी बढ़ने लगा । उस ताल को कोई विरही ताल और गोहनागांव के पास रहने से कोई कोई गोहना ताल कहने लगे । सरकार ने भयंकर ताल की भविष्य दशा विचार कर इंजीनियर साहवों को भेजकर लोगों के प्राण बचाने का पूरा प्रवन्ध किया । ताल के पास

इंजीनियर आदि के बंगले, जगह जगह तार घर बाढ़ की ऊंचाई जनाने के लिये आधे मील के फासिले पर पर्वत के किनारों पर ६ फीट ऊंचे चबूतरे और गोहना से हरिद्वार तक तार बने । खबर देनेवाले जगह जगह बैठाए गए । जुलाई के अन्त में नीचे के लोग उठा कर ऊंचे पहाड़ पर बसाए गए । गोहना ताल बढ़ते बढ़ते दो तीन मील चौड़ा, छ सात मील लम्बा और पानी के रो-कावके सिर तक ऊंचा हो गया ।

सन् १८९४ ई० की तारीख २५ अगस्त शनिवार को १२½ बजे रात को ८५० फीट ऊंचा डाट अर्थात् पानी के रोकाव में से ३२० फीट डाट एक दम बह गया । पानी विकराल रूप से आगे दौड़ने लगा । पानी आने पर अलकनन्दा की धारा १२ मील तक पीछे लौट गई । एक घंटे में लगभग २० मील पानी दौड़ने लगा । वह चमोली १ बजे रात में, नन्दप्रयाग १ बज के १९ मिनट पर, कर्णप्रयाग २ बजे, रुद्रप्रयाग २½ बजे, श्रीनगर ३ बज के ५० मिनट पर और देवप्रयाग में ४½ बजे पहुँच गया । रविवार सुबह को विरही ताल शान्त हो गया । इस बाढ़ से कोई आदमी और पशु नहीं मरे, पर स्थावर धन का सर्व नाश हो कर गोहना से हरिद्वार तक हा हा कार मच गया ।

संक्षिप्त प्राचीन कथा—स्कंदपुराण—(केदारखण्ड, प्रथमभाग, ५८ वां अध्याय) नन्दप्रयाग से १ योजन दूर वशिष्ठेश्वर शिवलिंग है । उससे उत्तर ओर त्रिहिका नामक पवित्र नदी बहती है । उससे आगे पापों के विनाश करने वाली विरहवती नदी (जिसको विरही कहते हैं) का दर्शन होता है । महादेवजी ने पूर्व काल में सती के विरह से संतप्त होकर उसी के निकट तप किया था; तभी से उस का नाम विरहवती हो गया । शिवजी के तप करने पर चंडिका ने प्रकट हो कर शिवजी से कहा कि हे देवेश ! मैं हिमवान पर्वत के गृह जन्म लेकर फिर तुझारी पत्नी हूँगी । उसके उपरांत महादेवजी कैलास में चले गए; किंतु उस स्थान पर एक अंश से विरहेश्वर नाम से स्थित हो गए । वहाँ स्नान, दान और मृत्यु तीनों का विशेष माहत्म्य है । उसके पूर्व भाग में मणिभद्रसर और दक्षिण भाग में महाभद्रा नदी है । उससे २ कोस पर वंडाश्रम है, जहाँ वंडनामक सूर्यवंशी राजा ने, जिन के नाम से वंडकारण्य

लोक में प्रसिद्ध है, तप किया था । अलकनन्दा के उत्तर तीर पर विल्वेश्वर महादेव हैं; उसी स्थान पर विना कांटे का एक वेल का वृक्ष है, जिसके फल वैर के समान होते हैं ।

हाटचट्टी और विल्वेश्वर महादेव—अलकनन्दा और विरही के संगम से आगे १ मील पर एक झरना और ढोकों के नीचे ३ गुफा; १ मील आगे पहाड़ से गिरता हुआ झरना; ११ मील आगे पर्वत से गिरता हुआ बड़ा झरना, उस से आगे एक छोटा झरना और पीपल के २ वृक्ष और २१ मील आगे हाटचट्टी है । संगम से हाटचट्टी तक अलकनन्दा का पानी गहरा और गंभीर है ।

हाटचट्टी पर मोदियों के केवल ३ छप्पर हैं; वहाँ ३ झरने और पीपल का १ वृक्ष है । गोहना झील के बढने के समय पर्वत के कटि स्थान पर हाटचट्टी से गोपेश्वर तक सीधी सड़क बनाई गई; पर कड़ी चढ़ाई के कारण यात्री उस सड़क से नहीं आते ।

हाटचट्टी से आगे बाएँ तरफ कुछ दूर पर पक्के मकानों के साथ १ बड़ी वस्ती और सड़क के पास १ छोटी कोठरी में १ देवता और दहिने की तरफ एक कोठरी में विल्वेश्वर शिव और १ मील आगे ५२ फीट लम्बा और ५ फीट चौड़ा अलकनन्दा नदी पर लोहा का पुल है, जो गोहना झील टूटने के पीछे सन् १८९५ ई० में फिर बना । वहाँ से पुल पार होकर अलकनन्दा के बाएँ किनारे चलना होता है । चमोली से अलकनन्दा के बाएँ किनारे एक पगदण्डी मार्ग आकर वहाँ यात्रियों की सड़क से मिल गई है । पुल के पास ३ झरने हैं । चट्टी से १ मील आगे दहिनी ओर १ गुफा, ११ मील आगे दो जगह २ झरने, २ गुफा और थोड़ा मैदान और हाटचट्टी से २ मील पर पीपलकोटी है । ऊखीमठ से वहाँ तक तीन आने सेर आटा विकता था ।

पीपलकोटी चट्टी—चमोली से पुल तक सुगम चढ़ाव उतार की राह है । पुल से मैदान तक १ मील कड़ी चढ़ाई है । पीपलकोटी उसदेश की बड़ी वस्तियों में से एक है । इसकी दुकानें बारहो मास खुली रहती हैं ।

श्रीनगर के बाद पीपलकोटी ही में सब जरूरी चीजें मिल सकती हैं। वहाँ कपड़ा, बरतन, मेवे, मशाला, कागज, पिसिल, आदि मनेरी की चीजें, चंवर, शिलाजित, कस्तूरी, निर्विषी, जहरमोहरा, आदि पर्वती चीजें और पूरी मिठाई इत्यादि भोजन की वस्तुएं मिलती हैं। कस्तूरी और चंवर भोट से आते हैं। शिलाजित उस जगह तय्यार होता है। दुकानदारों के पास नोट विक्रजाता है। वहाँ एक मंजिले, दो मंजिले पचीस तीस पक्के मकान हैं। चट्टी से बाहर दो तीन धर्मशाले, १ नया छोटा शिव मन्दिर, १ नाला, कई झरने, दो तीन गुफों में गरीब लोगों का घर, पनचकी और चिह्नी डालने का बक्स है। आस पास खेत का मैदान है। वहाँ के पहाड़ में स्लेट के पत्थर बहुत हैं। पीपल के नाम से इस चट्टी का यह नाम पड़ा है। एक पीपल के वृक्ष के नीचे एक कोठरी में चतुर्भुज भगवान की मूर्ति है। चट्टी से थोड़ी दूर ऊपर एक दूसरी बस्ती है। पीपलकोटी से बर्फ वाले पहाड़ देख पड़ते हैं और उस से आगे क्रम क्रम सदी अधिक पड़ती है।

पीपलकोटी से आगे १ मील पर झरना और २½ मील पर इस पार १ दुकान और १ झरना और अलकनन्दा के उस पार रुद्रगंगा का संगम है। रुद्रगंगा, उत्तर की ओर रुद्रनाथ से आकर अलकनन्दा के दहिने किनारे मिल गई है। रुद्रनाथ पंचकेदारों में से हैं। पीपलकोटी से ३½ मील आगे गरुडगंगा है। पीपलकोटी से ३ मील तक सुगम चढ़ाई उतराई की सड़क और अंत में १ मील कड़ी उतराई है।

गरुडगंगा—गरुडगंगा की धारा पर्वत से नीचे जोर सोर से गिरती है, जिस में यात्री स्नान करते हैं। बहुत लोग गरुड को पेड़ा चढ़ाते हैं और सर्प के भय से बचने के लिये नदी के पत्थर के टुकड़े अपने घर लेजाते हैं। केदारनाथ और बदरीनाथ के यात्रियों में से कई आदमी जगह जगह चट्टियों पर गुड़ आदि गरुड का प्रसाद यात्रियों को बांटते हैं और यात्री लोग पहाड़ी रास्ता सुगम होने के लिये गरुड का नाम लेते हैं। जगह जगह गरुड की मूर्ति देख पड़ती हैं। महाभारत-शान्तिपर्व के ३२७ वें अध्याय में लिखा है कि हिमालय पर्वत पर गरुडजी सदा निवास करते हैं। गरुडगंगा के पास खड़ी

पहाड़ी में एक गुफा है और एक कोठरी में दहिने गरुड़ और बाएँ विष्णु की मूर्ति है । वहां नदी पर काठ का पुल बना है । यह नदी थोड़ी आगे जाकर अलकनन्दा में मिल गई है ।

गरुड़गंगा से थोड़े आगे पर्वत से ओरी के समान पानी चूता है; १ मील आगे खड़े पर्वत से बड़ा झरना गिरता है, जिस पर काठ का पुल बना है और १ मील आगे गरुड़गंगाचट्टी है । चमोली से गरुड़गंगाचट्टी तक मार्ग के किनारों पर क्रम क्रम से जंगली वृक्षों की घटती देख पड़ती है । नदियों में सफेद, गुलाबी, नील इत्यादि रंग के पत्थर के बहुत चट्टान और टुकड़े बेख-ने में आते हैं ।

गरुड़गंगाचट्टी—चट्टी पर आठ दस बड़ी बड़ी पकी दुकानें; कई एक झरने, जिनमें एक बहुत बड़ा है; और एक सरकारी पकी धर्मशाला है, जिस की दीवार पर सन १८७९ ई० लिखा हुआ है । दुकानों पर पूरी मिठाई भी मिलती है ।

संक्षिप्त प्राचीन कथा—स्कंदपुराण—(केदारखण्ड, प्रथमभाग, ६७ वां अध्याय) विलेश्वर के बाद अलकनन्दा के दहिने किनारे पर गरुड़गंगा है, जिस में स्नान करके गरुड़जी की पूजा करने से विष्णु लोक में निवास होता है । जिस स्थान में गरुड़गंगा की शिला रहती है । वहां सर्प का भय नहीं होता । उस नदी के टुकड़े को जल में घिस कर पोने से सर्प का विष उतर जाता है । उसके बाद गणेश नदी मिलती है, जिस में स्नान करने से पापों का नाश होजाता है । वहां सिंदूर के समान मृत्तिका है ।

पातालगंगाचट्टी—गरुड़गंगाचट्टी से आगे ११ मील पर झरना और ११ मील पर बेलचट्टी है जिस को देवदारु चट्टी भी कहते हैं । उस के आस पास पर्वत के ऊपर देवदारु के बहुत वृक्ष हैं, इस से उस का नाम देवदारु चट्टी पड़ा है । वहां मोदियों के बड़े बड़े ६ मकान, झरना और डोलची बनाने वाला है और गरुड़ चट्टी से ३१ मील पर पातालगंगा चट्टी है । देवदारुचट्टी के आगे १ मील चढ़ाई और १ मील कड़ी उतराई है । पातालगंगा से २ मील आगे घुमाव की सड़क है ।

पातालगंगा नदी पर पुल बना है । नदी के किनारे बड़े बड़े ५ पक्के मकान, ३ छप्पर से बने हुए मकान, एक कोठरी में गणेशजी की मूर्ति, झरना और नदी का पानी और कई पनचक्की हैं । वह नदी वहां से १ मील आगे जाकर अलकनन्दा से मिल गई है ।

पातालगंगा से ११ मील आगे पर्वत के ऊपर गुलाबगढ़ बस्ती और गुलाबगढ़ का मन्दिर दूर से दिखाई पड़ता है । लोग कहते हैं कि टिहरी के गुलाबसिंह ने बस्ती को बसाया और मन्दिर बनाया था । पातालगंगा से ११ मील आगे एक झरना और २ मील आगे गुलाबकोटी चट्टी है । गरुड़गंगाचट्टी से वहां तक चीड़ के पेड़ों का जंगल है ।

गुलाबकोटीचट्टी—वहां २ दो मंजिले मकान, २ फूस के छप्पर वाले मकान और २ झरने और नीचे १ बस्ती है ।

कुंभारचट्टी—गुलाबकोटी चट्टी से ११ मील आगे छोटी कुंभारचट्टी पर मैदान में १ मोदी का मकान और २१ मील आगे बड़ी कुंभारचट्टी है । गुलाबकोटी चट्टी से १ मील कड़ी चढ़ाई, १ मील उतराई, बाद सुगम चढ़ाई उतराई है ।

कुंभारचट्टी पर बारह चौदह बड़े बड़े पक्के मकान, १ सरकारी पक्की धर्मशाला और कई झरने हैं । वहां कपड़े, वरतन, मेवा, मसाले और कस्तूरी, शिलाजित, चँवर, आदि पहाड़ी चीजें बिकती हैं । भेड़ बकरों और गदहों पर जिन्स लादे हुए भोटिए व्यापारी देख पड़े थे । कुंभारचट्टी के उस पार एक नदी आकर अलकनन्दा में मिली है ।

आदिवदरी ।

कुंभारचट्टी से ६ मील पश्चिमोत्तर अलकनन्दा के उस पार ऊर्जम गांव है, जहां ऊर्जमुनि ने तप किया था । उसी स्थान पर पंच बदरी में से एक आदिवदरी विराजते हैं । ऊर्जमुनि की कथा मंडल गांव के वृत्तांत में देखो ।

कल्पेश्वर ।

आदिवदरी से २ मील आगे पंच केदारों में से कल्पेश्वर महादेव का मंदिर है । कुंभारचट्टी से आदिवदरी और कल्पेश्वर का दर्शन करके फिर कुंभारचट्टी पर लौटकर आगे जाना होता है ।

संक्षिप्त प्राचीन कथा—स्कंदपुराण—(केदारखंड, प्रथम भाग, ५३ वां अध्याय) शिवजी के ५ स्थानों में से पांचवां स्थान कल्पस्थल करके प्रसिद्ध है । उसी स्थान पर देवराज इन्द्र ने दुर्वाशाजी के श्राप से श्रीहत होने के पश्चात् महादेवजी का पूजन किया था और पार्वतीजी के सहित महादेवजी की आराधना करके कल्पवृक्ष पायाथा । तभी से शिवजी कल्पेश्वर नाम से प्रसिद्ध हुए । कथा ऐसी है कि एक समय इन्द्र ऐरावत हस्ती पर चढ़कर कैलास में गया । वहां महर्षि दुर्वाशा ने एक स्त्री से फूल का माला मांगकर इन्द्र को दिया । इन्द्र ने अभिमान से उस माला को हाथी के मस्तक पर रख दिया । तब दुर्वाशा-ऋषि ने माला का तिरस्कार देखकर इन्द्र को शाप दिया कि तुमने लक्ष्मी से प्रमत्त हो मेरा अपमान किया इसलिये तुम्हारी लक्ष्मी तीनों लोक से नष्ट होजायगीं । उस समय इन्द्र दंड के समान पृथ्वी में प्रणत होकर महर्षि से बोला कि हे विप्र ! मैंने अज्ञान से तुम्हारा अपमान किया इसलिये तुम इसको क्षमा करो । दुर्वाशा बोले कि हे दुर्बुद्धि इन्द्र ! मेरा शाप अमोघ है । तुम महादेवजी की आराधना करके फिर अपना पद प्राप्त करो । उसके पश्चात् इन्द्र अपने शत्रुओं से पराजित होकर राज्य पद से व्युत्त होगया । तीनों लोक से उनको लक्ष्मी नष्ट होगई । जगत् में हाहाकार मचगया । सब राजा दरिद्र होगए । तब ब्रह्माजी ने सब देवताओं के साथ क्षीरसागर के तट पर जाकर विष्णुजी से जगत का दुख कह सुनाया । विष्णु ने देवताओं से कहा कि तम लोग इन्द्र को खोजो हम लोग उनके साथ शिवजी की आराधना करेंगे । वायु ने कैलास पर्वत पर अलकनंदा के उत्तर तीर पर श्रीक्षेत्र में मशकके रूप में इन्द्र को देखा । इन्द्र कीलित होकर वहां निवास किये था, इस कारण से उस पर्वत का नाम इन्द्रकील होगया । ब्रह्मादिक सब देवता

इन्द्र के पास आए । इन्द्र मशक रूप छोड़कर देवताओं सहित शिवजी के स्थान में गया ।

(५४ वां अध्याय) इन्द्र ने सब देवताओं के सहित उस पर्वत पर १० हजार वर्ष तक शिवजी की आराधना की । ब्रह्मा और विष्णु भी महादेवजी की बड़ी स्तुति की । तब शिवजी प्रकट हुए । ब्रह्मादिक देवताओं ने अपना पुत्र उनसे कह सुनाया । महादेवजी की आज्ञानुसार देवताओं ने शिवजी के नेत्र का जल समुद्र में डाल समुद्र को मथ कर लक्ष्मी, कल्पवृक्ष आदि रत्नों को पाया और सब जगत् पूर्ववत् लक्ष्मी से युक्त होगया । जिस स्थान पर इंद्रादिक देवताओं ने शिवजी का तप किया, उस स्थान पर शिवजी कल्पेश्वर नाम से विख्यात होगए ।

(५५ वां अध्याय) कल्पेश्वर में शिवलिंग के दक्षिण ओर कपिल लिंग है, जिसके दर्शन मात्र से मनुष्य शिवलोक में पूजित होता है । उसके नीचे हिरण्यवती नदी बहती है, जिसके दक्षिण तीर पर भृङ्गीश्वर महादेव हैं, जिसके दर्शन मात्र से एक कल्प तक शिवलोक में वास होता है । उस क्षेत्र का विस्तार २ कोस है ।

(५६ वां अध्याय) केदार, मध्यमेश्वर, तुंगनाथ, कल्पेश्वर, और महालय, अर्थात् रुद्रनाथ, ये ५ शिवजी के महान् स्थान हैं । जो मनुष्य भक्ति से अथवा वलात्कार से ज्ञान से या अज्ञान से इन क्षेत्रों में जाते हैं, उनके दर्शन मात्र से पापी मनुष्य पवित्र हो जाते हैं और दर्शन करने वाले मनुष्य इसलोक में सुन्दर भोगों को भोग कर मरने पर मोक्ष पाते हैं ।

वृद्धवदरी ।

कुँभारचट्टी से १ मील आगे १ क्षरना और दूसरा १ बहुत बड़ा क्षरना और ११ मील आगे छोटा क्षरना है । उससे थोड़ी आगे बाईं ओर एक पगवन्दी राह बहुत नीचे पैनीमठ की गई है । पैनीमठ में २ मकान और वृद्धवदरी का मन्दिर है । दहिनी ओर ऊपर पहाड़ पर पैनी गाँव है । कुँभारचट्टी से २१ मील आगे बड़ा क्षरना और २१ मील आगे पैनी चट्टी है ।

पैनीचट्टी—उस चट्टी पर मोदियों के चार मकान और १ बड़ा झरना है । चट्टी से १ मील नीचे पैनीमठ में दृष्टवदरी है, पर चट्टी से वहां जाने की राह नहीं है ।

पैनीचट्टी से आगे २ मील पर बड़ी गुफा और उस पार अलकनंदा और एक नदी का संगम है । उससे आगे जगह जगह चार पांच गुफाओं के बाद बहुत बड़ा झरना और ३ मील आगे १ गुफा और १ मोदी का मकान है । उस जगह से नीचे विष्णुप्रयाग की ओर ऊपर जोशीमठ की राह गई है । वहां से विष्णुप्रयाग नीचे की राह से ११ मील और जोशीमठ होकर २१ मील है । पैनीचट्टी से ३१ मील आगे वाईं ओर एक नया छोटा मंदिर और २ पक्के घर और जगह जगह बहुत झरने और ४१ मील आगे जोशीमठ है । कुंभारचट्टी से जोशीमठ तक सुगम चढ़ाई उतराई की राह है ।

जोशीमठ ।

जोशीमठ उस देश की बड़ी वस्तियों में से एक है । श्रीशंकराचार्य स्वामी ने, जो नवीं शतक में थे जोशीमठ को कायम किया था । श्रीनगर के बाद इतनी बड़ी वस्ती कोई नहीं मिलती है । जोशीमठ में पत्थर के टुकड़ों से छाए हुए करीब ५० पक्के मकान, कई धर्मशाले, झरने और पनचक्कियाँ हैं और पश्चिम ऊंची जमीन पर एक सरकारी बंगला, सड़क के पास पुलिसकी चौकी और मन्दिरों से दक्षिण डाकखाना और सफाखाना है । कपड़े, मेवे, मशाले, जिनस, पूरी, मिठाइयाँ, कागज, चंवर, आदि सब वस्तुएँ मिलती हैं । वस्ती के उत्तर भाग में नृसिंहजी के मन्दिर से पश्चिम एकही जगह दो कितेवदरीनाथ के रावल अर्थात् प्रधान पुजारी के मकान हैं । मकान पत्थर के तख्तों से छाए हुए हैं । पूर्व द्वार पर काष्ठका नकाशीदार चौकट लगा है । जाड़े के आरंभ में जब वदरीनाथ का पट बन्द होता है तब लगभग ६ मास तक वदरीनाथ की पूजा जोशीमठ में होती है । पट खुलने के समय रावल बड़ा उत्सव करके जोशीमठ से वदरीनाथ जाते हैं और लगभग ६ मास वहां रहते हैं ।

नृसिंहजी का मन्दिर—रावल के मकान से पूर्व पत्थर के तख्तों से छाया हुआ दक्षिण मुख का दो मन्जिला नृसिंहजी का मन्दिर है। उसके दोनो ओर २ पाख और सिर पर तीन जगह तीन कलश हैं। कलशों के पास एक एक ध्वजा खड़ी है। नीचे के मन्जिल में पूर्व ओर दक्षिण मुख की कोठरी में नृसिंहजी की सुन्दर मूर्ति पश्चिम मुख से बैठी है। इनका मुकुट और छत्र सोनहुला है। इनके वाएँ राम और लक्ष्मण और दहिने बदरीनाथ, ऊधवजी, और चण्डी की मूर्तियाँ हैं। नृसिंहजी की कोठरी से पश्चिम अर्थात् मन्दिर के मध्य भाग में पुजारी की कोठरी और उस कोठरी से दक्षिण शेषशार्ङ्ग भगवान और पश्चिम-दक्षिण लक्ष्मणजी की मूर्ति है। मन्दिर से बाहर चारों तरफ मकान और पूर्व ओर दरवाजा है। नृसिंहजी के मन्दिर के दरवाजे से पूर्व एक दालान में दो जगह पीतल के नल लगे हैं। जिन से झरने का पानी निकल कर नीचे एक छोटे कुण्ड में गिरता है। उनको लोग दण्डधारा कहते हैं।

वासुदेव का मन्दिर—नृसिंहजी के मन्दिर से पूर्व चार दिवाली के भीतर वासुदेव का पुराना मन्दिर पश्चिम मुख से खड़ा है। मन्दिर के शिखर पर बीस द्वार की बारहदरी है। वासुदेव अर्थात् कृष्ण की स्यामल मूर्ति मनुष्य के समान ऊँची और उसके दहिने उससे छोटी बलदेवजी की मूर्ति है दोनों मूर्तियाँ बहुत पुरानी हैं। वहाँ के लोग कहते हैं कि शंकराचार्य ने इनको स्थापित की थी। मन्दिर के घेरे के भीतर पश्चिमोत्तर की कोठरी में आठ भुजाओं में आठ हथियार लिए हुए गणेशजी की विचित्र मूर्ति, जिस के साथ छोटी छोटी कई मूर्तियाँ हैं; पूर्वोत्तर की कोठरी में सत्यनारायण; पूर्व—दक्षिण की कोठरी में ध्यान बदरी; दक्षिण की कोठरी में गणेश और एकही पत्थर में विचित्र तरह की बनी हुई ९ दुर्गाओं की ९ मूर्तियाँ और दक्षिण-पश्चिम की कोठरी में एकही साथ शिव और पार्वती की मूर्ति है, जिसको लोग तांडव शिव कहते हैं। मन्दिर के घेरे के बाहर पश्चिम ओर के चबूतरे पर पीतल का गरुड़ है।

संक्षिप्त प्राचीनकथा—स्कंदपुराण—(केदारखंड, प्रथम भाग, ५८ वां अध्याय) विष्णुकुण्ड से २ कोस पर ज्योतिर्धाम है, जहाँ नृसिंह

भगवान और प्रह्लादजी निवास करते हैं । इस पीठ के समान सिद्ध देने वाला और संपूर्ण कामनाओं को पूर्ण करने वाला कोई दूसरा पीठ नहीं है ।

भविष्यवदरी ।

जोशीमठ के सफाखाने के पार से एक मार्ग जोशीमठ के मन्दिर हो कर आगे की ओर श्रीवदरीनाथ को और दूसरा मार्ग दहिनी ओर तपोवन, नीती को ओर भोट होकर काठ गोदाम को गया है । जोशीमठ से ६ मील पूर्व तपोवन और तपोवन से दक्षिण की ओर काठ गोदाम है । उस मार्ग से भोटिए व्योपारी, जो खाश कर के शोके कहलाते हैं और पुराणों में शक लिखे गए हैं, सैकड़ों भेड़, बकरे, गदहे, खच्चर, जोवरा (जो एक प्रकार की गौ हैं उनकी पूंछ पर बहुत बाल होता है) इत्यादि जानवरों पर जिन्स लाद कर व्योपार करते हैं । भोटिए लोग अंगरेजी, नेपाल और तिब्बत इन तीनों राज्यों के सीमाओं पर और सीमाओं के निकट बसे हैं । भोट देश में व्यासजीने तप किया था, इस लिये उसदेश को व्यासखंड भी कहते हैं । कैलास पर्वत और मानसरोवर उसदेश के निकट हैं । महाभारत-शान्तिपर्व के ३२७ वें अध्याय में लिखा है कि व्यासदेव हिमालय के पूर्व दिशा को अवलंबन करके विविक्त पर्वतपर शिष्यों को वेद पढ़ाते थे; उनके पुत्र शुकदेवजी उस आश्रम में गए ।

जोशीमठ से ६ मील पूर्व पर्वत पर तपोवन है । उसदेश के लोग कहते हैं कि हनुमानजी ने उसी स्थान पर कालनेमि राक्षस को मारा था । तपोवन से ५ मील दूर धवली गंगा के निकट पंच वदरी में से एक भविष्यवदरी का मन्दिर है जिसको तपवदरी भी कहते हैं । राह सुगम है; किन्तु खाने का सामान साथ में ले जाना पड़ता है और जोशीमठ में लौटकर वदरीनाथ जाना होता है ।

संक्षिप्त प्राचीनकथा—स्कंदपुराण—(केदारखंड, प्रथमभाग, ५८ वां अध्याय) गंधमादन के दहिने भागमें धवली गंगा के तट पर भविष्यवदरी है । पूर्वकाल में महर्षि अगस्त्य ने उस स्थान पर हरि की आराधना की थी;

उस समय से वदरीनाथ वहां निवास करते हैं। उस स्थान पर दो पवित्र धारा हैं, जिनमें से एक धारे का जल गर्म है, जिसमें स्नान करने से मनुष्य को विष्णु-लोक प्राप्त होता है। उस स्थान पर अग्नि ने तप किया था। वहां महादेवजी मुनी-श्वर नाम से प्रसिद्ध हैं, जिनके दर्शन मात्र से शिवलोक मिलता है। भविष्य-वदरी महापातकों के नाश करनेवाली है। उसके बाद अगस्त्य मुनि का पवित्रस्थल मिलता है; वह ४ योजन चौड़ा और ५ योजन लंबा है। जहां महात्माओं ने बहुत शिवलिंग स्थापित किया है और देवी तथा देवताओं के मन्दिर बनाए हैं; उसी स्थान पर मानसोद्भेदन पर्वत से धवलीगंगा निकली है। पूर्व कालमें राजा धवल ने वहां गंगा की सेवा की, इस लिये उसका नाम धवलीगंगा हो गया, वह गंगा की ९ वीं धारा है। धवलीगंगा के दर्शन मात्र से मनुष्य निष्पाप हो जाते हैं।

विष्णुप्रयाग ।

जोशीमठ से ११ मील आगे तिरुहानी सड़क और १ झरना और ११ मील आगे विष्णुप्रयाग है। संगम के समीप धवलीगंगा के ऊपर के लोहे का पुल टूट गया है। गंगा के मध्य में एक बहुत बड़ा पत्थर का ढोका पड़ा है; उसके ऊपर से दोनों ओर धवलीगंगा के दोनों किनारों तक तरतों से पाट कर १३० फीट लंबा काठ का पुल बना है। यात्रीगण उस पुल से चट्टी पर जाते हैं। वहां उत्तर से अलकनन्दा आई है और पूर्व नीतीघाटी से धवलीगंगा, जिसको लोग विष्णुगंगा भी कहते हैं, आकर अलकनन्दा में मिल गई है। संगम पर नदियों की धारा बड़ी तेजी से गिरती है। चट्टी से ७० सीढ़ियों के नीचे एक गुंजदार छोटा मन्दिर हाल में बना है, जिस से ६० सीढ़ियों के नीचे संगम है। सहारे से उतरने के लिये सीढ़ियों के दोनों वगलों में सीकड़ लगे हैं। वहां की धारा बड़ी तेज है। यात्रीगण लोटे में जल भर कर संगम पर स्नान करते हैं; उसी स्थान को विष्णुकुण्ड कहते हैं।

संगम पर संकीर्ण स्थान में विष्णुप्रयाग की चट्टी है। वहां चार पांच छोटे छोटे मकान और १ कोठरी में विष्णुभगवान, वदरीनाथ और दूसरे कई एक

देवताओं की मूर्तियां हैं । दुकानों पर जिन्सों के अलावे, पूरी मिठाई और चंवर, कस्तुरी आदि पहाड़ी चीजें भी विकती हैं । विष्णुप्रयाग गढ़वाल जिले के पंचप्रयागों में से एक है । जोशीमठ से विष्णुप्रयाग तक कड़ी उतराई है ।

संक्षिप्त प्राचीन कथा—स्कंदपुराण—(केदारखंड, प्रथमभाग, ५८ वां अध्याय) ज्योतिर्धाम से २ कोस पर विष्णुप्रयाग है, जिसमें स्नान करने-वाला विष्णुलोक में पूजित होता है । उसके समीप अनेक तीर्थ विद्यमान हैं, जिनमें से १० प्रधान कहे जाते हैं;—ब्रह्मकुण्ड, विष्णुकुण्ड, शिवकुण्ड, गणेशकुण्ड, भृङ्गीकुण्ड, ऋषिकुण्ड, सूर्यकुण्ड, दुर्गाकुण्ड, धनदकुण्ड और प्रह्लादकुण्ड । उन कुण्डों में स्नान करनेवाला मनुष्य कृतकृत्य होजाता है । महर्षि नारद ने उस प्रयाग में विष्णुभगवान की आराधना करके सर्वज्ञत्व लाभ की; तभी से विष्णुकुण्ड प्रसिद्ध हो गया । उस स्थान पर स्नान और जप करके वदरिकाश्रम जाना उचित है । संपूर्ण पापों के हरनेवाली धवलीगंगा की धारा महादेवजी के समीप से आई है । संगम से १ वाण की दूरी पर धवलीगंगा के उत्तर तट पर ब्रह्मकुण्ड, उससे १४ वंड पर शिवकुण्ड और शिवकुण्ड से आधे वाण पर गणेशकुण्ड; और अलकनन्दा के किनारे पर विष्णुकुण्ड से १ वाण पर भृङ्गीकुण्ड, उससे आधे वाण पर ऋषिकुण्ड, उसके बाद सूर्यकुण्ड, उससे ४ वंड पर दुर्गाकुण्ड, उसके बाद धनदा यक्षिणी का तीर्थ(धनदकुण्ड) और बाद प्रह्लादकुण्ड है ।

घाटचट्टी—विष्णुप्रयाग से आगे पूर्ववत् अलकनन्दा के बाएँ किनारे चलना पड़ता है ।

विष्णुप्रयाग से आगे १ मील पर बड़ा झरना और एक गुफा; उससे थोड़ीही आगे काठ के पुल के साथ बहुत बड़ा झरना; १ मील आगे छोटा झरना और एक कोठरी; १ मील आगे टूटा हुआ पुल के पास बड़े बड़े ढोकों के नीचे ऊपर बड़े वेग से विचित्र तरह से अलकनन्दा का पानी गिरता है और ११ मील आगे १६० फीट लम्बा और ५ फीट चौड़ा लोहे का पुल है । पुल पार होकर अलकनन्दा के दहिने किनारे चलना होता है । पुल के बाद ऊपर दो झरने हैं । विष्णुप्रयाग से २ मील आगे बड़ी गुफा, ३१ मील आगे अलकनन्दा के बाएँ

एक नदी का संगम, ३९ मील आगे दो झरने और बड़े ढोके के नीचे १ गुफा और ४९ मील आगे घाटचट्टी है ।

विष्णुप्रयाग से घाटचट्टी तक संकीर्ण सड़क है । अलकनन्दा के दोनों तरफ ऊंचे खड़े पत्थरीले पर्वत हैं, जिन पर वृक्ष और पौधे बहुत कम हैं । राह नीची ऊंची ठोकर वाली और जगह जगह सीढ़ियों की कड़ी चढ़ाई उतराई है ।

यह छोटीचट्टी अलकनन्दा के पानी के पास है, इससे इसका नाम घाटचट्टी या गटचट्टी पड़ा है । पहाड़ी भाषा में घाट को गट कहते हैं । वहां मैदान में मोदियों के २ बड़े बड़े पक्के मकान और १ पनचक्की है ।

घाटचट्टी से १ मील आगे बड़ा झरना और उस पार पर्वत के ऊपर से गिरता हुआ झरना; ९ मील आगे बस्ती के ३ मकान और बस्तीवालों के लिये अलकनन्दा पर काठ का पुल; ११ मील आगे छोटा झरना और २ मील आगे पाण्डुकेश्वर चट्टी है । घाटचट्टी से पाण्डुकेश्वर तक वाएँ के पहाड़ पर हरियाली है; किंतु दहिने के पर्वत पर नहीं । घाटी के जंगल में फूली हुई खेवती बहुत देख पड़ी थीं ।

पांडुकेश्वर ।

पांडुकेश्वरचट्टी गढ़वाल जिले की बड़ी बस्तियों में से एक है । वहां छोटे बड़े चालीस पचास मकान बने हुए हैं, जिनमें से बहुतेरे कड़ियों के ऊपर पत्थर के तख्तों से और बहुतेरे लकड़ी के तख्तों पर फूस से छाए गए हैं । वहां के बहुतेरे निवासी मोदी के काम करते हैं । वहां सरकारी धर्मशाला, कई एक पनचक्कियां, अलकनन्दा और एक बड़े झरने का पानी और योगवदरी और वासुदेवजी का मन्दिर है । पूर्वकाल में राजा पांडु ने मृगरूपी मुनि के शाप से दुखी होकर इसी स्थान पर तप किया था ।

संक्षिप्त प्राचीन कथा—महाभारत—(आदिपर्व, ११८ वां अध्याय, हस्तिनापुर के राजा पांडु हिमालय पर्वतके दहिने छोर में घूमघाम कर कुंती और माद्री अपनी स्त्रियों के सहित पर्वत की पीठ पर बस कर आखेट खेलने लगे । एक समय उन्होंने मैथुन धर्म में आशक्त एक मृग को देखा; तब पांच

वाणों से उस मृग और मृगी को मारा । कोई तेजस्वी ऋषिकुमार मृग का स्वरूप धारण कर के मृगी से मिला था; उसने पांडु को शाप दिया कि जब तुम काम युक्त होकर अपनी स्त्री से मिलो गे, तब मृत्यु को प्राप्त होगे । ऐसा कह वह मृग मर गया । (११९ वां अध्याय) उस के उपरांत राजा पांडु ने अपने और अपनी स्त्रियों के सब वस्त्र और भूषण ब्राह्मणों को देकर सारथियों और नोकरों को हस्तिनापुर भेज दिया । उस के पश्चात् वह अपनी दोनों स्त्रियों के साथ नागशत पर्वत को पधारे और हिमलाय से होते हुए गंधमादन में जा पहुंचे । अंत में वह इन्द्रबुध्न ताल को पाकर के हंसकूट को पीछे छोड़ शतशृंग नामक पर्वतपर पहुंच कठोर तप करने लगे । (१२३ वां अध्याय) अनंतर शतशृंग पर्वतही पर पांडु के युधिष्ठिर आदिक ५ पुत्र जन्मे । (१२५ वां अध्याय) एक समय वसंत ऋतुमें माद्री को देख कर पांडु कामाशक्त हो गए । वह शाप की बात भूल कर माद्री को पकड़ मैथुन धर्म में प्रवृत्त हुए । उसी समय उनका वैहांत हो गया और माद्री उनके संग गई । (१२६ वां अध्याय) वहां के महर्षिगण कुन्ती, उसके बेटे और दोनों पृतकों को ले कर हस्तिनापुर आए । कौरवों ने पांडु और माद्री की वेह को गंगा के तट पर लेजाकर चिता में जलाया ।

स्कंदपुराण—(केदारखंड, प्रथमभाग, ५८ वां अध्याय) राजा पांडु ने मृगरूपधारी मुनि के शाप से दुखी होकर तप किया; तभी से वह स्थान पांडु-स्थान के नाम से प्रसिद्ध होगया । उस समय विष्णुभगवान प्रकट होकर बोले कि हे पांडो ! तुम्हारे क्षेत्र में धर्मादिकों के अंश से बलवान पुत्र उत्पन्न होंगे । ऐसा कह कर विष्णु चले गए । उस स्थान पर पांडूश्वर महादेव विराजते हैं ।

योगवदरी

पांडुश्वर में योगवदरी का शिखरदार मन्दिर पश्चिम मुख से खड़ा है । यह मन्दिर बड़े बड़े ढोको से बना हुआ है और प्राचीन होने के कारण जर्जर हो गया है । योगवदरी पांच वदरियों में से एक है, जिसको लोग ध्यानवदरी

भी कहते हैं। इनकी धातु की पूर्ति, सोनहले मुकुट, क्षत्र और वस्त्रों से सुशो-
भित है। मन्दिर के आगे के जगमोहन में, जिस के आगे पाख में द्वार है,
किसी धातु के बड़े बड़े ४ तख्तों पर खोदे हुए लेख हैं, जो पढ़े नहीं जाते
हैं। पूछने पर पुजारीने मुझ से कहा कि यह लेख पांडवों के समय के हैं।
जगमोहन से बाहर छोटी कोठरी में एक शिवलिंग और एक दूसरा देवता है।

वासुदेव का मन्दिर—योगवदरी के मन्दिर के पासही दक्षिण उसी
मन्दिर के आकार का वासुदेव जी का मन्दिर है, जिस की मरम्मत पटियाले
के महाराज ने करवादी है। वासुदेव जी की धातु प्रतिमा, सुंदर वस्त्र, सुनहले
क्षत्र और मुकुट से सुशोभित है। दोनों मन्दिरों में केवल एकही पुजारी है।

शेषधारा—पांडुकेज्वरचट्टी से १ मील आगे एक नाला होकर झरने
का पानी भूमि पर बहता है; उसी को लोग शेषधारा कहते हैं। वहां एक
छोटी कोठरी में ११ हाथ ऊंचा अनगढ़ लिंग के समान शेषजी हैं और पांच
छ पक्के मकान, जिन में से कई एक रींवां के महाराज के हैं, बने हुए हैं।
वहां महाराज का सदावर्त जारो है और एक दो दुकान भी रहती है।

शेषधारा से आगे १ मील पर जोरशोर से ऊपर से गिरता हुआ एक बड़ा
झरना, नीचे ३ झरने और १ पनचक्की; आगे बड़े बड़े ४ झरने; १ मील पर ३ मकान
और उस पार एक वस्ती और बहुत बड़ा झरना; ११ मील पर एक झरना; ११
मील पर बहुत बड़ा झरना; ११ मील पर कई झरने; २ मील पर बहुत बड़ा
झरना; बाद १ झरना; उसके बाद पनचक्की; उसके आगे बड़ा झरना और १
गुफा; २१ मील आगे लामवगड़ चट्टी पर मोदी के २ पक्के मकान और झुंझुनूवाले
रायसूर्यमल की पक्की धर्मशाला; २१ मील आगे अलकनन्दा पर ७० फीट लंबा
और ७१ फीट चौड़ा काठ का पुल, जिस को पार होकर अलकनन्दा के बाएँ किनारे
चलना होता है; ३१ मील पर एक झरना और ५१ मील पर हनूमानचट्टी है।

एक मील पहले से हनूमान चट्टी तक पत्थर के बड़े बड़े सैकड़ों ढोके पड़े
हैं, जिनसे जगह जगह बहुतेरी गुफाएँ बन गई हैं और भोटिए व्योपारियों
ने अनगढ़ पत्थर के टुकड़ों की दीवार और ढाढ़पात के छप्पर से छोटे छोटे

घर बनाए हैं । घाटचट्टी से हनुमानचट्टी तक अलकनन्दा के किनारों पर लतावृक्षों की विचित्र हरियाली देखने में आती है ।

हनुमानचट्टी—उसचट्टी को अमलागाड़चट्टी भी लोग कहते हैं । वहाँ मोदियों के चारपांच पक्के मकान, पूरी मिठाई की भी दुकानें, एक कोठरी में हनुमान जी की छोटी मूर्ति, एक छोटी धर्मशाला और अलकनन्दा तथा घृतगंगा का जल है । यहाँ लोग घृतगंगा का जल पीते हैं । पहाड़ी लोग उस के आस पास के जंगल से सूखी लकड़ियाँ अपनी पीठ पर बदरीक्षेत्र लेजाते हैं, उससे आगे वर्ष अधिक रहने के कारण जंगल नहीं है ।

वैखानस मुनि का स्थान—हनुमानचट्टी के पास अलकनन्दा के उस पार क्षीरगंगा और इस पार घृतगंगा, अलकनन्दा में मिली है । उसी स्थान पर पूर्व काल में वैखानस मुनि ने तप किया था । लोग कहते थे कि यज्ञ की राखी अब तक पाई जाती है और राजा मरुत ने भी इसी स्थान पर यज्ञ किया था ।

संक्षिप्त प्राचीन कथा—स्कंदपुराण—(केदारखंड, प्रथमभाग ५८ वां अध्याय) बदरिकाश्रम से २ कोस पर वैखानस मुनि का आश्रम और यज्ञ-भूमि है, जिसके हवन के स्थान पर विंदुमती नदी बहती है और अबतक जले हुए जव और तिल तथा अंगार देख पड़ते हैं । उसके ऊपर पर्वत पर योगी-श्वर नामक भैरव रहते हैं ; उनका पूजन करके बदरिकाश्रम में जाना उचित है ।

महाभारत—(द्रोणपर्व, ५३ वां अध्याय) राजा मरुत के यज्ञ में, जिसकी संपूर्ण वस्तु सुवर्ण भूषित बनी थी, वृहस्पति के सहित संपूर्ण देवता हिमालय पर्वत के सुवर्ण मय सिखर पर एकत्र हुए थे । (अश्वमेध पर्व ६४ वां अध्याय) युधिष्ठिर आदिक पांडवगण व्यासदेवजी की आज्ञानुसार राजा मरुत के यज्ञ-स्थान से रत्न लाने के लिये अपनी सेनाओं के सहित वहाँ जा पहुँचे और शिवजी की पूजा कर के ऊंट, घोड़ों, हाथी, शकट, रथ, गदहों और मनुष्यों पर नानाप्रकार के धन और रत्न लदवा कर हस्तिनापुर ले गए ।

कुवेरशिला—हनुमानचट्टी से १ मील आगे अलकनन्दा पर ३६ फीट लम्बा काठ का पुल है । पुल पार होकर अलकनन्दा के दाहिने किनारे चलना

होता है। पुलसे आगे तीन चार झरने ; १ मील आगे कई झरने और एक बड़े झरने पर, जो पर्वत के ऊपर से गिरता है, वर्ष जमी हुई है, जिसके ऊपर चलना होता है और १ १/२ मील आगे अलकनन्दा पर ६५ फीट लम्बा काठ का पुल है। पुल पार कई झरने, जहां से अलकनन्दा के बाएँ किनारे चलना होता है, देख पड़ते हैं उस पुल से उत्तर वदरीनाथ तक कोई वृक्ष नहीं है; किंतु हनुमानचट्टी से वहां तक छोटे वृक्षों का जंगल है। हनुमानचट्टी से १ १/२ मील आगे अलकनन्दा पर इस किनारे से उस किनारे तक ज्येष्ठ महीने में भी वर्ष जमी थी। दोनों किनारों पर पर्वत के ऊपर से एक एक बड़ा झरना अलकनन्दा में गिरता है। चट्टी से १ १/२ मील आगे एक बड़े झरने पर वर्ष जमी हुई है, जिसपर होकर यात्री आगे जाते हैं; २ १/२ मील आगे दोनों तरफ पर्वत के ऊपर से अलकनन्दा में झरना गिरता है, जिस के ऊपर वर्ष जमी है; ३ मील आगे अलकनन्दा और कांचनगंगा का संगम; ३ १/२ मील आगे अलकनन्दा पर इस किनारे से उस किनारे तक और दो तीन सौ गज लम्बी वर्ष जमी हुई है, जिसके ऊपर आदमी चल सकते हैं; परन्तु यात्रियों को उधर जाने का काम नहीं पड़ता; और हनुमानचट्टी से ३ १/२ मील आगे कुवेरशिला है। हनुमानचट्टी से कुवेरशिला तक जगह जगह संकीर्णमार्ग और स्थान स्थान पर कड़ी चढ़ाई है।

कुवेरशिला के पास से श्रीवदरीनाथ जी का मन्दिर देख पड़ता है। वहां गणेशजी का एक छोटा मन्दिर है। बहुतेरे यात्री वहां ढोकों के नीचे अपना जूता रख कर वदरीनाथ की पुरी में जाते हैं।

कुवेरशिला से थोड़े आगे तक ढोकों का मैदान; उस के आगे वदरीनाथ की पुरी तक सुन्दर ढालू मैदान है। कुवेरशिला से १ मील आगे अलकनन्दा पर ४२ फीट लंबा काठ का पुल है, जिस को पार करके अलकनन्दा के दहिने किनारे से चलना होता है। थोड़े आगे ऋषिगंगा पर लकड़ी का छोटा पुल है, जिस से नदी पार होकर अलकनन्दा के पुल से १ मील और कुवेरशिला से १ १/२ मील आगे वदरिकाश्रम वस्ती में पहुंचते हैं। ऋषिगंगा के दक्षिण एक वस्ती और उत्तर वदरीनाथ की वस्ती है, जिस के उत्तर भाग में श्रीवदरी-

नाथ का मन्दिर सुशोभित है । मैं हरिद्वार से चलने पर २७ वें दिन और केदारनाथ से चलने पर १० वें दिन ज्येष्ठसुदी एकम के दिन हरिद्वार से २४९ मील और केदारनाथ से ९९१ मील पर बदरीनाथ की पुरी में पहुँच गया ।

घाटचट्टी से बदरीनाथ तक अलकनन्दा का जल मार्ग के पास ही है । ढालू भूमि पर जोरशोर से अलकनन्दा का पानी गिरता है । किसी किसी स्थान पर बहुतही जोर से बड़े बड़े ढोकों के नीचे ऊपर होकर विचित्र तरह से पानी दौड़ता है ।

बदरीनाथ ।

बदरीनाथ में अलकनन्दा नदी उत्तर से आई है । अलकनन्दा के दहिने किनारे पर गढ़वाल जिले में बदरीनाथ की वस्ती है । नदी के ढालू भूमि पर उत्तर से दक्षिण तक तीन चार पंक्ति नीचे ऊपर एक मंजिले दो मंजिले १०० से कुछ अधिक मकान बने हैं, उनमें बहुतेरे धर्मशाले हैं । कुल मकान पक्के हैं । उनके ढालू छप्परों पर काठ के तख्ते जड़े हुए हैं । किसी किसी मकान के छप्पर पर भोजपत्त विछाकर ऊपर से मिट्टी दी गई है । बहुतेरे मकानों में यात्री टिकते हैं और बहुतेरे में दुकानें हैं । बहुतेरे पहाड़ी लोग दुकान के लिये मकान बनाए हैं और बहुतेरे लोग श्रीनगर आदि दूर की वस्तियों से आकर किराये के मकानों में दुकान करते हैं । वहाँ की दुकानों में कपड़ा, वस्त्र, मेवे, मसाले, पूरी मिठाई, हर तरह की जिस, आलू, पहाड़ी चीजें, चीनी, मिश्री सब वस्तुएं मिलती हैं । भोटिए लोग भेड़ बकरे आदि जानवरों पर आटा आदि जिन्स वहाँ पहुँचाते हैं । लकड़ी ४ मील दक्षिण से आकर वहाँ मंहगीं विकती है । पानी बहुत ठंडा रहता है । वहाँ सैकड़ों यात्री प्रति दिन पहुँचते हैं । साधारण लोग तीन या पाँच अथवा सात रात्रि वहाँ वास करते हैं; परन्तु गरीब लोग तो जाड़े के भय से उसी दिन या एक रात्रि निवास करके वहाँ से चल देते हैं । जिसको ब्राह्मण साधु खिलाना होता है वह बाजार से पूरी मिठाई मोल लेकर उनको खिलाता है । वहाँ बड़े बड़े कई झरने; एक कोठरी में डाकखाना; काश्मीर के महाराज, पटियाले के महाराज,

इन्दौर के महाराज और झुंझुनू वाले रायसूर्यमल वहादुर का एक एक सदा-वर्त है। वहाँ इसवर्ष आटा ४ आने सेर, पूरी ५ आने सेर, चावल ५ आने सेर और घी १ रुपये का पाव भर विकता है।

वहाँ चारो तरफ पर्वत के ऊपर सर्वत्र बर्फ जमी है; जाड़े के दिनों में भूमि और मकानों पर सर्वत्र बर्फ का ढेर लग जाता है। वदरीनाथ की सबसे ऊँची चोटी समुद्र के जल से २३२०० फीट ऊँची है। पूर्व और पश्चिमवाले पहाड़ों को लोग जय और विजय कहते हैं। पर्वतों के बीच में समुद्र से १०४०० फीट की ऊँचाई पर उत्तर से दक्षिण लम्बा ढालू मैदान है, जिसमें अलकनन्दा बहती है और वदरीनाथ की पुरी है। पुराणों में इस स्थान का नाम मन्दरा-चल और वदरीकाश्रम लिखा है। यहाँ जाड़ा बहुत है; दिनमें भी धुससा, दोलाई ओढ़ने का काम रहता है, पर केदारपुरी की जाड़ा से यहाँ जाड़ा कम है। भारतवर्ष के प्रसिद्ध ४ धामों में से इसके उत्तरीय सीमा के निकट वदरीकाश्रम एक धाम है।

वदरीनाथजी का मन्दिर—यह मन्दिर वस्ती के उत्तर अलक-नन्दा के दहिने पत्थर से बना हुआ ४५ फीट ऊँचा (पूर्वमुख का) है। मन्दिर के शिखर पर दोहरी चकूटी है। निचली चकूटी तीन या ताम्पल से छाई हुई है। उसमें चारो ओर तीन तीन द्वार हैं। उससे ऊपर की दूसरी चकूटी में भी, जो पहली से छोटी है, चारो तरफ १२ द्वार हैं। उसकी ढालु छत पर पटियाले के महाराजने ताम्बेका पत्तर जड़वाकर सोने का मुलम्मा करवा दिया है। उसके सिरपर सुनहला कलश है। मन्दिर के भीतर द्वार के सामने एक हाथ ऊँची वदरीनारायण की द्विभुज श्यामल मूर्ति विराजमान है। बहु-मूल्य वस्त्र, भूषण और विचित्र मुकुट से सुशोभित ध्यान में मग्न वह बैठे हैं। उनके ललाट पर हीरा लगा हुआ है और उनके ऊपर सोने का छत्र लगा है। वदरीनारायण के पास लक्ष्मीजी, नर, नारायण, नारद, गणेशजी, सोने के कुबेर, और गरुड़ और चान्दी के उद्धव हैं। कुबेर का मुखमण्डल मातृ स्वरूप है। कहा जाता है कि वदरीनारायण पहले गुप्त थे। सन् ई० के नवीं सदी में महाराज शंकराचार्यने इनकी मुर्ति को नदी में पाया

और मन्दिर बनवाकर मूर्ति को स्थापित किया । कूर्मपुराण-ब्राह्मीसंहिता के २९ वें अध्याय में है कि नीललोहित शंकर भक्तों के मंगल के लिये प्रकट होंगे और श्रौत और स्मार्त मतकी प्रतिष्ठा के लिये सकल वेदान्त का सार ब्रह्मज्ञान और निर्विघ्न धर्म, क्रियाओं को उपदेश देंगे और शिवपुराण के सातवें खण्ड के प्रथम अध्याय में भी शंकराचार्य को शिवका अवतार लिखा है ।

मन्दिर के आगे ने कमरे की छान्द क्रन की ओरी मन्दिर के दहिने ओर बाएँ है । कमरे के पूर्व खास मन्दिर के समान ऊँचा सुगहला कलशवाला गुम्बजदार जगमोहन है । मन्दिर और जगमोहन के बीचवाले कमरे में वदरी-नारायण के सन्दूक आदि असबाब रक्खे हुए हैं और पुजारी और पार्षद बैठते हैं । जगमोहन में कमरे के द्वार के दोनों ओर पत्थर के जय और विजय खड़े हैं । मन्दिर के परात, घड़े आदि वर्तन और आसा, सोटा चान्दीके हैं । खास मन्दिर और बीचवाले देवद के आगे के किवाड़ों में रुपहला काम है ।

वदरीनाथजी का पठ नियत समय पर दिन रात में तीन चार बार खुलता है । यात्रीलोग किसी समय बीचवाले देवद में जाकर और किसी समय जगमोहन में रहकर दूरही से दर्शन करते हैं । साधारण यात्री अनेक भांति के मेवे और चने की दाल हरिद्वार से साथ में लाकर पुजारी द्वारा वदरीनाथ को चढ़ाते हैं । धनीलोग वस्त्र, भूषण, रुपये, सोने, भूमि आदि वदरीनाथ को अर्पण करते हैं और रावल को अपनी रुचि के अनुसार अटका अर्थात् भोग की सामग्री का मूल्य देते हैं । यात्रीगण तास्वे और लोहे के कंगण अर्थात् कड़े, अगुंठी और वदरीनारायण इत्यादि मन्दिर के भीतर की देवमूर्तियों के पठ अर्थात् तास्वे के पत्रोंपर बने हुए वदरीनाथ आदि की मूर्तियों को पुजारी द्वारा वदरीनाथ से स्पर्श कराकर अपने घर लेजाते हैं । भगवान वदरीनारायणजी को प्रातः काल कुछ जलपान और शाम को कच्ची रसोई भोग लगता है । प्रति दिन ३ मन का भोग लगता है, जिसको यात्रीलोग जाति भेद के विचार के बिना जगन्नाथपुरी के प्रसाद के समान भोजन करते हैं । वदरीनाथ आदि के गलों की माला, जो पुष्प और तुलसी पत्र के बनते हैं, और चनेकी कच्चीदाल प्रसाद मिलता है । वहां के यात्री जगन्नाथपुरी के यात्री

के समान प्रतिदिन प्रसाद नहीं खाते; वे लोग अपने डेरे पर रसोई बनाते हैं, अथवा बाजार से पूड़ी ले कर भोजन करते हैं । पूर्व समय की अपेक्षा अब पहाड़ी मार्ग सुगम हो गया है, इससे यात्रियों की संख्या बढ़ती जाती है । प्रतिवर्ष भारतवर्ष के प्रत्येक विभागों से लाखों यात्री वदरीनाथ में जाते हैं ।

वदरीनाथ के मन्दिर के पीछे धर्मशिला नामक एक पत्थर का टुकड़ा; मन्दिर के बाएँ १ हाथ लम्बा चौड़ा चरणोदक कुण्ड, जिस में मोरी से मन्दिर का पानी आता है; जगमोहन से उत्तर की ओर एक कोठरी में घंटाकर्ण और पूर्व मैदान में पाषाण का गरुड़ है । मन्दिर के आस पास दूसरे कई देव मूर्तियाँ हैं और चारों ओर दीवार और साधारण मकान बने हैं । पूर्व के फाटक की बाहरी दोनों ओर कोठरियाँ और छोटे छोटे कई दालान और फाटक के भीतर एक ओर की दीवार के ताखों में ब्रह्मा, विष्णु, और शिव और एक ओर सूर्य की मूर्ति है । फाटक में बड़ा घंटा लटका है । फाटक के आगे तप्तकुण्ड और अलकनन्दा हैं ।

लक्ष्मीजी का मन्दिर—वदरीनाथ के जगमोहन से दक्षिण लक्ष्मी जी का एक गुम्फादार छोटा मन्दिर पत्थर से बना हुआ है । लक्ष्मीजी की श्यामवर्ण छोटी मूर्ति उत्तम वस्त्रों से सुसज्जित की हुई है । उस मन्दिर का पुजारी दूसरा है । मन्दिर के पास ही पूर्व भण्डार घर में प्रति दिन ३१ मन चावल का भात और इस के अतिरिक्त दाल, भाजी, आदि भोग की सामग्री बनाकर वदरीनाथ को भोग लगाया जाता है । एक ही बड़े चूल्हे पर बीच में १ बड़ा और चारों ओर छोटे छोटे भाँड़े चढ़ते हैं ।

पंचतीर्थ—वदरिकाश्रम में ऋषिगंगा, कूर्मधारा, प्रह्लादधारा, तप्तकुण्ड और नारदकुण्ड इन्हीं पाँचों का नाम पंचतीर्थ है । (१) ऋषिगंगा;—यह वदरीनाथ के मन्दिर से १ मील पर और वदरीनाथ की बस्ती से थोड़ी दक्षिण अलकनन्दा से मिली है । यात्रीगण संगम पर स्नान या मार्जन और आचमन करते हैं । ऋषिगंगा का जल साफ है । (२) कूर्मधारा;—वदरीनाथ के मन्दिर से कुछ दक्षिण एक दीवार में कूर्मका मुख बना है । उससे ३ हाथ लम्बे और २ हाथ

चौड़े हौज में झरने का पानी गिरता है । (३) प्रह्लादधारा;—कूर्मधारा से उत्तर एक चबूतरे के नीचे एक नलके द्वारा कूर्मधारा के हौज से छोटे हौज में झरने से गरम जल गिरता है । उसको लोग प्रह्लादधारा कहते हैं । यात्रीलोग दोनों धाराओं के जल से मार्जन करते हैं । (४) तप्तकुण्ड;—वदरीनाथ के मन्दिर के सामने पूर्व, ६५ सीढ़ियों के नीचे अलकनन्दा के दहिने किनारे पर खुला हुआ मकान में पन्द्रह सोलह हाथ लम्बा और बारह तेरह हाथ चौड़ा तप्तकुण्ड है । कुण्ड के पश्चिम की दीवार में पश्चिमोत्तर के कोन के पास पीतल के २ नल लगे हैं । एक झरने का गरम जल कुछ बाहर और कुछ उन दोनों नलों द्वारा तप्तकुण्ड में गिरता है । उनमें से एक नल को गरुड़धारा और दूसरी को लक्ष्मीधारा कहते हैं । कुण्ड में २½ हाथ ऊँचा गरम जल रहता है । अधिक पानी नलद्वारा बाहर निकला करता है । दोनों नलों का गरम पानी वेह पर सहा नहीं जाता, कुण्ड के जल की गरमी कम होने के लिये इन के मुख बन्द रहते हैं । नलों के मुख बन्द करके एक एक ब्राह्मण बैठे रहते हैं और यात्रियों से पैसा लेने पर नलों का पानी उन की वेह पर छिड़कते हैं । कुण्ड का पानी वेह के सहने योग्य है । यात्रियों को उस वर्षा मय देश में तप्तकुण्ड के गरम पानी में स्नान करते समय बड़ा सुख होता है । कुण्ड से ऊपर छोटे छोटे नलों से झरने का गरम पानी बाहर गिरता है । उसको यात्री लोग हाथ पैर धोने के लिये लेजाते हैं । तप्तकुण्ड के उत्तर गौरीकुण्ड और सूर्यकुण्ड नामक बहुत छोटे छोटे २ कुण्ड हैं, जिन में झरने का गरम पानी गिरता है । उन से भी छोटे एक हौज में विष्णुधारा नामक नलद्वारा झरना का गरम पानी गिरता है । तप्तकुण्ड के पश्चिम एक कोठरी में अनगढ़ शिवलिंग के समान शंकराचार्य हैं और रास्ते के उत्तर एक छोटे मन्दिर में लिंगस्वरूप आदि केदार स्थित हैं । उनके आगे नन्दी है । (५) नारदकुण्ड;—तप्तकुण्ड के पासही पूर्वोत्तर के कोने पर अलकनन्दा में नारदकुण्ड है । वहाँ नारदशिला नामक पत्थर का एक बड़ा ढोंका है, जिस के नीचे अलकनन्दा का पानी संकीर्ण गुफा में गिरता है; उसी को नारदकुण्ड कहते हैं । उस जगह यात्रीगण स्नान या मार्जन करते हैं ।

पंचशिला—वदरिकाश्रम में नारदशिला, वाराहशिला, मार्कण्डेयशिला,

नृसिंहशिला और गरुड़शिला ये पांचों प्रसिद्ध हैं;—(१) नारदशिला का वृतांत ऊपर नारदकुण्ड के साथ लिखा है । (२) वाराहशिला नारदशिला से पूर्व अलकनन्दा में है । (३) मार्कण्डेशिला और (४) नृसिंहशिला ये दोनों एकही जगह नारदशिला से दक्षिण अलकनन्दा में हैं । (५) गरुड़शिला तप्तकुण्ड से पश्चिम रावल के मकान से पूर्व एक कोठरी में है । ये पांचो शिला पत्थर के बड़े बड़े ढोंके हैं ।

ब्रह्मकपाली—वदरीनाथ के मन्दिर से लगभग ४०० गज उत्तर अलकनन्दा के दहिने किनारे पर ब्रह्मकपाली चट्टान है, जिस पर बैठ कर यात्रीगण पितरों को पिण्डदान करते हैं । वदरीनाथजी के प्रसाद (भात) की बहुत छोटी छोटी १६ गोलियां बनाई जाती हैं, जिन को यात्रीलोग एक एक करके अपने मरे हुए पिता, पितामह, प्रपितामह और मातामह, प्रमातामह और वृद्धप्रमातामह और इनकी स्त्रियों को देते हैं; और शेष ४ गोलियों को वे अपने गुरु, मित्र, तथा अपने कुल के मरे हुए लोगों को नाम लेकर भूमि पर रखते हैं । पीछे वे लोग पिण्डों को अलकनन्दा में डाल कर नदी में पितरों को जल अंजलि देते हैं । ब्रह्मकपाली पर काम कराने और वहां के दक्षिणा लेने वाले वदरीकाश्रम के पण्डे नहीं हैं, वहां दूसरे ब्राह्मण रहते हैं ।

अलकनन्दा नदी—यह नदी उत्तर की ओर सतपथ अलकापुर के पहाड़ से वदरिकाश्रम में आकर वहां से दक्षिण और कुछ पश्चिम की ओर १२११ मील पर देवप्रयाग के पास गंगा में मिली है । अलकनन्दा के किनारे पर पाण्डुकेश्वर, विष्णुप्रयाग, जोशीमठ, कुंभारचट्टी, पीपलकोटोचट्टो, चमोली, नन्दप्रयाग, कर्णप्रयाग, रुद्रप्रयाग, श्रीनगर और देवप्रयाग प्रसिद्ध स्थान हैं ।

वसुधारा—वदरीनाथ से १११ मील उत्तर भानागांव वस्ती और २१ मील पर वसुधारा तीर्थ है । आपाढ़ और श्रावण के महीनों में वर्ष कम होने पर कोई कोई यात्री वसुधारा में स्नान करने जाते हैं । वहां पूर्वकाल में अष्टवसुओं ने तप किया था । वहां ऊंचे पहाड़ से वसुधारा नामक बड़ोंधारा गिरती है । वसुधारा से आगे वर्षमय पर्वत है, किंतु वर्ष कम होने

पर अंगरेजी राज्य और तिब्बत के सीमा के आस पास के रहनेवाले और मान सरोवर की तरफ के लोग उस मार्ग से इधर आते जाते हैं ।

वदरीनाथ के मन्दिर का प्रवन्ध—वदरीनाथ के मन्दिर का पट वृष (जेष्ठ) की संक्रान्ति से दो चार दिन पहले शुभ सायत में खुलता है और वृश्चिक (अग्रहन) की संक्रान्ति के कई दिन पीछे अच्छी सायत में बन्द होता है । इस वर्ष मेष मासकी २९ तिथि मिति ज्येष्ठ वदी १३ रविवार को पट खुला था । पट बन्द होजाने पर छ महिने के लगभग वदरीनाथ को पूजा वदरीनाथ के रावल जोशीमठ में करते हैं और जाड़ेके भय से सब लोग पाण्डुकेश्वर में और उस से नीचे चले जाते हैं । पाण्डुकेश्वर से उत्तर कोई नहीं रहता ।

अंगरेजीसरकार और टिहरी के राजा की अनुमति से सुयोग्य दक्षिणी नम्बोरी ब्राह्मण वदरीनाथ का पुजारी बनाया जाता है, जिसको रावल कहते हैं। रावल विवाह नहीं करता । पाण्डुकेश्वर, जोशीमठ, टिहरी, आदि पहाड़ी वस्तियों का कोई कोई ब्राह्मण या क्षत्री अपनी पुत्री को वदरीनाथ को पूजा चढ़ाता है । वहाँ के परम्परा नियम के अनुसार वही लड़की रावल की स्त्री होती है । रावल अपनी स्त्री का बनाया हुआ अन्न भोजन नहीं करता । ब्राह्मणी से जो सन्तान होता है ब्राह्मण और क्षत्रिया की सन्तान क्षत्री कही जाती है । रावल के मरने पर रावल के पुत्र रावल नहीं होते; किंतु नया रावल दक्षिण से मंगाया जाता है । पद्मपुराण—स्वर्गखण्ड के २२ वें अध्याय में लिखा है कि जो कोई स्त्री मोल लेकर किसी देवता को चढ़ाता है वह कल्प भर स्वर्ग में बसता है और फिर पृथ्वी पर राजा या धनी होता है । महाभारत —अनुशासन पर्व के ४७ वें अध्याय में लिखा है कि ब्राह्मण का धन १० हिस्सों में बटेगा । ब्राह्मणी का पुत्र उस पितृ धन में से ४ भाग, क्षत्रिया स्त्री के गर्भ से उत्पन्न हुआ पुत्र ३ हिस्से, वैश्य स्त्री से उत्पन्न हुआ पुत्र २ भाग और शूद्रा से उत्पन्न ब्राह्मण का पुत्र एक भाग पावेगा । वर्तमान रावल पुरुषोत्तम नम्बोरी अति वृद्ध हैं । वह कई वर्षों से मन्दिर के प्रवन्ध से इस्तीफा देकर १०० रुपए मासिक लेकर पूजा करते हैं । वदरीनाथ की

आमदनी, जो जागीर, पूजा और अटके से आती है सालाना तीस चालीस हजार है। इसमें से लग भग ४ हजार रुपया प्रतिवर्ष गढ़वाल और कमाऊ जिलों के बहुतेरे गांवों से मालगुजारी आती है। २ वर्ष से अंगरेजी सरकार की तरफ से हयातसिंह, जो तीसरे दर्जे का मजिस्ट्रेट था, ७५ रुपए माहवारी तनखाह पर मन्दिर के प्रबन्ध के लिये मनेजर हुआ है। वह यात्रियों के साथ पण्डे लोगों को मन्दिर के भीतर जानें नहीं देता। पण्डों ने मिलकर सरकार में अर्जी दी है और मोकदमा चल रहा है।

वदरीनाथ के सब पण्डे देवप्रयाग के रहने वाले हैं। ये लोग सुफल करने के समय अपने यात्री के दोनों हाथों को फूल की माला से बान्ध देते हैं। हाथ बान्धे हुये यात्री घंटों तक गिड़गिड़ाते रहते हैं। पण्डे लोग जहां तक होसक्ता है दक्षिणा कबूल करवा कर तब अपने यात्री को फूल माला के बन्धन से मुक्त करते हैं। केदारनाथ के पण्डे भी इन्हीं के रास्ते से चलते हैं।

संक्षिप्त प्राचीन कथा—पाराशरस्मृति—(पहला अध्याय) ऋषिगण धर्म के तत्व को जानने के लिये व्यासजी को आगे करके वदरिकाश्रम में गए थे। वह नानाप्रकार के पुष्प लताओं से परिपूर्ण, फलफूलों से सुशोभित, नदी और झरनों से युक्त और देवताओं के मन्दिर तथा पवित्र तीर्थों से प्रकाशित था। व्यासदेवजी ने वहां ऋषियों को सभा में बैठे हुए महर्षि पराशर की पूजा करके उनसे पूछा कि हे पितः! मैंने मनु, बशिष्ठ, कश्यप, गर्ग, गौतम, उशनस, अत्रि, विष्णु, संवर्त, दक्ष, अंगिरा, शातातप, हारीत, याज्ञवल्क्य, आपस्तम्ब, शंख, लिखित, कात्यायन, प्राचेतस इन स्मृतियों के कहे हुए धर्मों को जाना है। इस मन्वन्तर के कलियुग में कृतयुग, त्रेता आदि का धर्म नष्ट हो गया है। आप चारों वर्णों के करने योग्य उन का साधारण आचार मुझ से कहिए। ऐसा सुन पाराशरजी ने धर्म का निर्णय कहा।

महाभारत—(वन पर्व-१२ वां अध्याय) अर्जुन बोले कि हे कृष्ण (पूर्वजन्म में) तुम १०० वर्ष तक वायु भक्षण करके उर्ध्व बाहु होकर, विशाल वदरिकाश्रम में एक चरण से खड़े रहे थे। कृष्ण बोले हम तुम हैं और तुम हमारे रूप हो अर्थात् तुम नर हो और हम नारायण हैं। हम दोनों नर नारायण ऋषि समय पाकर

जगत में प्राप्त हुए हैं । (४७ वां अध्याय) इन्द्र ने लोमश ऋषि से कहा कि जो पुराने ऋषियों में उत्तम थे, वही दोनों नर नारायण ऋषि किसी कार्य के वस से पृथ्वी में कृष्ण और अर्जुन के अवतार लेकर पवित्र लक्ष्मी को धारण कर रहे हैं । जिस पवित्र आश्रम को देवता और महात्मा मुनि भी नहीं देख सकते हैं, वही जगत विदित वदरिकाश्रम नरनारायण का स्थान है । वहाँ से सिद्ध चारणों से सेवित गंगा चली है ।

(८२ वां अध्याय) वदरिकाश्रम के वसुधारा तीर्थ में जाने से ही अश्वमेध का फल मिलता है । वहाँ वसुओं का तड़ाग है, जिस में स्नान करने से मनुष्य वसुओं का प्यारा होता है । (९० वां अध्याय) विष्णु की पवित्र शिला वदरिकाश्रम के पास है । उसी देश में तीन लोकों में विख्यात और पवित्र आश्रम है, जहाँ गंगा का उष्ण (गर्म) जल बहता है । वदरिकाश्रम के पास सुवर्ण सिकता नामक तीर्थ है, जहाँ जाकर ऋषि और देवतागण परमेश्वर नारायण को प्रणाम करते हैं ।

(१४० वां अध्याय) (राजा युधिष्ठिर, भीम, नकुल, सहदेव, द्रौपदी, और लोमश ऋषि के साथ अर्जुन को खोजने के लिये हिमालय पर गए ।) वे कुलिन्द देश के राजा सुबाहु की रक्षा में सारथी, नगर निवासी, रसोइयाँ और दासियों को छोड़कर आगे चले । (१४१ वां अध्याय) युधिष्ठिर बोले अब हम लोग उस उत्तम पर्वत को देखेंगे, जहाँ विशाल वदरिकाश्रम तथा नर नारायण का स्थान है । (१४२ वां अध्याय) लोमश बोले यह महानदी अलकनन्दा वदरिकाश्रम से आती है । इसी के जल को शिवने अपने सिर पर धारण किया है । यही नदी गंगाद्वार में गई है । (१४३ वां अध्याय) जिस समय पाण्डव लोग गन्धमादन पर्वत पर पहुँचे उस समय महावर्षा और भारी आंधी आई । वे लोग धीरे २ गन्धमादन की ओर फिर चले । (१४४ वां अध्याय) जब पाण्डव लोग १ कोस चले तब द्रौपदी थक कर कांपने लगी और पृथ्वी में गिरगई । (१४५ वां अध्याय) पाण्डवों की आज्ञा से भीम के पुत्र घटोत्कच राक्षस ने द्रौपदी और पाण्डवों को अपने कन्धों पर बैठाया, दूसरे राक्षसों ने ब्राह्मणों को अपने ऊपर चढ़ालिया और लोमश ऋषि योग मार्ग से आपहो आकाश में चलने लगे । अनेक वन और वागों को देखते हुए वे लोग वदरी-

नारायण की ओर चले। दूर जाने पर उन्होंने कैलाश पर्वत के नीचे नर और नारायण के आश्रम को देखा, जहाँ स्वभाविक समान भूमि, सुन्दरस्थान और हिम से शीतल कंटक रहित पृथ्वी थी। वहाँ वे सब राक्षसों के कन्धों से धीरे धीरे उतरे। अनन्तर पाण्डवों ने गंगा के तटपर नरनारायण के रमणीय आश्रम को देखा और वे ब्राह्मणों के साथ उसी स्थान पर रहने लगे। अत्यन्त दुःख से जाने योग्य देवकृपियों से सेवित उसी देश में भागीरथी के पवित्र जल में पाण्डव लोग पितरों का तर्पण करने लगे। (१५५ वां अध्याय) पाण्डव लोग कुवेर की सम्मति से अर्जुन का मार्ग देखते हुए थोड़े दिन गन्धमादन पर्वत पर रहे। (१५७ वां अध्याय) आगे वे उत्तर दिशा को चले और चौदहवें दिन वृषपर्वा के आश्रम में पहुँचे। उसके पश्चात् उन्होंने माल्यवान् पर्वत पर पहुँच कर आगे गन्धमादन को देखा। (१६४ वां अध्याय) अर्जुन ५ वर्ष इन्द्रलोक में निवास करने के पश्चात् गन्धमादन पर आकर युधिष्ठिर आदि भाइयों से मिले। (१७६ वां अध्याय) वे लोग कुवेर के स्थान पर ४ वर्ष रहे। (१७७ वां अध्याय) पाण्डव लोग लौट कर फिर वदरिकाश्रम में ठहरे। वहाँ उन्होंने कुवेर की पोखर को देखा। अनन्तर वे लोग सुख से चलते २ एक महीने में किरातराज सुबाहु के राज्य में पहुँच कर अपने नौकर और दासियों से मिले और वहाँ से घटोत्कच को बिदा कर के, जो उन को अपने कन्धे पर ले चलता था, रथों पर चढ़ कर आगे चले और एक वन में १ वर्ष निवास करके काम्यकवन में आए।

(१८७ वां अध्याय) मूर्य के पुत्र वैवस्वत मनु ने वदरिकाश्रम में जाकर उर्ध्व बाहु होकर १० सहस्र वर्षतक घोर तप किया। एक दिन भोगे वस्त्र मनु के पास जाकर एक मत्स्य बोला कि हे भगवन्! मैं बहुत छोटा मत्स्य हूँ, इस से मुझे बड़े मत्स्यों से डर लगती है। तुम हमारी रक्षा करो। मैं भी इस उपकार का बदला तुम को दूँगा। तब मनु ने निर्मल पानी से भरे हुए पात्र में उस को छोड़ दिया। वह मत्स्य भोजनादिक पाकर उसी पात्र में बढ़ने लगा। कुछ काल में वह मत्स्य बहुत बड़ा होगया। तब वह बोला कि हे भगवन्! अब आप मेरे लिये कोई दूसरा स्थान बताइए। मनु ने उस मत्स्य को एक बड़ी भारी

वावड़ी में डाल दिया । वह वावड़ी ८ कोस लम्बी चौड़ी थी; परन्तु कुछ दिनों के पश्चात् वह मत्स्य इतना बढ़ा कि उसमें चल फिर नहीं सकता । तब मनुने उस को गंगा में डाल दिया । वह गंगा में भी बढ़ कर चलाफिर नहीं सकता था । तब मनुने उस को गंगा से उठा कर समुद्रमें छोड़ दिया । उस समय वह मत्स्य हँसकर मनुसे बोला कि हे भगवन् ! थोड़ेही दिनमें जगत के सब चर और अचर का प्रलय होगा, इसलिये आप एक नाव बनाईए और उसमें दृढ़ रस्ती बान्धिए । जब प्रलय का समय आवेगा, तब आप सप्त ऋषियों के सहित उसी नाव में चढ़िएगा और उसी नाव में सब जगत के वस्तुओं की बीजों को रक्षा पूर्वक क्रमसे रखलीजिएगा । आप उस नाव में बैठकर हमारा मार्ग देखते रहिएगा । अनन्तर वे दोनों इच्छानुसार चले गए । कुछ समय के पश्चात् प्रलय के समय मनुने मत्स्य का ध्यान किया । तब वह मत्स्य एक सो'ग धारण करके मनुके पास पहुँचा । मनुने नाव को रस्ती को मत्स्य के सिर में बान्ध दिया । उस समय आकाश और सब दिशा जल मय देखाती थी । जगत के डूबजानेपर केवल सप्तऋषि, मनु और वह मछली देखाई देती थी । वह मत्स्य नाव को खोंचते खोंचते हिमांचल के सब से ऊँचे शिखर पर पहुँचा और उसके कहने के अनुसार ऋषियों ने नाव को हिमांचल के शिखर से बान्ध दिया । अनन्तर मत्स्य ने ऋषियों से कहा कि हमाराही नाम प्रजापति और ब्रह्मा है । हमने मत्स्य रूप धारण करके आपलोगोंको इस समय से छोड़ाया है । मत्स्यके अन्तरद्धान होजाने पर वैवस्वत मनुने सृष्टि बनाने की इच्छा की । (यह कथा मत्स्यपुराण के प्रथम अध्याय में लिखी है)

(शान्ति पर्व ३३४ अध्याय) पहले समय स्वायम्भू मन्वन्तरके सत्य-युग में विश्वात्मा नारायण ४ मूर्ति धारण करके धर्म के पुत्र हुए—नर, नारायण, हरि, तथा कृष्ण (वसुदेव का पुत्र नहीं) । उनमें से नर और नारायण ने बदरोकाश्रम को अवलम्बन करके माया मय शरीर से निवास करते हुए तपस्या की थी । (३४४ वां अध्याय) नारदने नर नारायण के आश्रम में देव परिमाण से सहस्र वर्ष तक वास करके अनेक प्रकार से नारायण मंत्र को विधि पूर्वक जप किया और वह नर नारायण

की सब प्रकार से पूजा करते हुए उनके आश्रम में निवास करने लगे । (३४६ वां अध्याय) उन्हो ने वहां निवास करके भगवान का आख्यान सुन कर निज स्थान में गमन किया । नर नारायण उस आश्रम में उत्तम तपस्या करने लगे ।

वामनपुराण—(पूर्वार्द्ध ६ वां अध्याय) धर्म की अहिंसा भार्य्या में हरि, कृष्ण (वासुदेव नहो), नर और नारायण ये ४ पुत्र हुए ।

वाराहपुराण—(४८ वां अध्याय) काशी का विशाल नामक राजा शत्रुओं से पराजित हो वदरिकाश्रम में जाकर गन्धमादन पर्वत की कन्दरे में तपकरने लगा । नर, नारायण प्रसन्न होकर राजासे बोले कि हे विशाल ! आज से इस स्थान का नाम विशाला करके लोक में प्रसिद्ध होगा ।

(उत्तरार्द्ध—१३५ वां अध्याय) हिमालय पर्वत के वदरी नामक स्थान में स्नान व्रत और भगवान के दर्शन करने से प्राणी को फिर माता के गर्भ में निवास नहो होता । उसी वदरी में अग्निसत्यपद नाम तीर्थ है, जिसमें पर्वत के मध्य से उष्णोदक की धारा मूसल की बराबर गिरती है । वदरी में पंचशिख नामक तीर्थ है, जिसमें पर्वत के शिखर से पांच धारा गिरती है । जो प्राणी वहां निरशन व्रत करके प्राणत्याग करते हैं, वे विष्णुलोक में वसते हैं ।

देवीभागवत—(८वां स्कन्ध पहला अध्याय) नारदजी पृथ्वी पर्यटन करते हुए नारायणश्रम में पहुंचे और वहां टिक कर नारायण से प्रश्न करने लगे ।

ब्रह्मवैवर्तपुराण—(ब्रह्मखण्ड-२९ वां अध्याय) नारदने वदरोवन में नारायणश्रम में जाकर नारायण ऋषि से प्रश्न किया । (३० वां अध्याय) नारायणने कथा आरंभ की ।

आदिब्रह्मपुराण—(१८ वां अध्याय) अलकनन्दा नामक गंगा दक्षिण की ओर भारतखण्ड में जाकर समुद्र में मिलती है ।

(९८ वां अध्याय) कृष्णजी बोले कि हे उद्धव ! तू गन्धमादन पर्वतपर नर नारायण के स्थान पवित्र वदरिकाश्रम में तप की सिद्धि के लिये चला जा । (श्रीमद्भागवत—११ वे स्कन्ध, २९ वें अध्याय; विष्णुपुराण-५ वें अंश, ३७ वें अध्याय; और शिवपुराण-७ वें खण्ड १० वें अध्याय में भी कृष्ण की आज्ञा से उद्धव के वदरिकाश्रम में जाने की कथा लिखी हुई है) ।

श्रीमद्भागवत—(पहला स्कन्ध-तीसरा अध्याय) धर्म की त्नी के नर और नारायण विष्णु तपः कर रहे थे। उन्होंने संसार के जीवों को दिखाने के लिये बदरीकेदार में जाकर तपः किया। (४ था स्कन्ध, पहला अध्याय) नर और नारायण ने भूमिके भार उतारने के लिये अवतार धारण किया। नर के अंश से अर्जुन हुए और नारायण ने कृष्ण रूप धारण किया।

(१२ वां अध्याय) राजा ध्रुव ३६००० वर्ष राज्य करने के उपरान्त अपने पुत्र की राजतिलक देकर बदरिकाश्रम को चले गए और वहाँ बहुत काल तक भगवान के स्वरूप का ध्यान करके विमान पर चढ़ ध्रुवलोक में गए।

(६ वां स्कन्ध-१७ वां अध्याय) विष्णु के चरण से उत्पन्न हुई गंगा ब्रह्मा के सदन में गिरती है और वहाँ पर ४ धाराओं में विभाग होकर चारों ओर को बहती हुई समुद्र में मिली है;—सीता, अलकनन्दा, चक्षु और भद्रा। इनमें अलकनन्दा नामक धारा पर्वतों को तोड़ती फोड़ती हैम बूट में होती हुई भारतवर्ष में व्याप्त होकर दक्षिण की ओर लवण समुद्र में जा मिली है।

गरुड़पुराण—(पूर्वार्द्ध ८१ वां अध्याय) नरनारायण का स्थान बदरिकाश्रम भुक्तिमुक्ति देनेवाला है।

पद्मपुराण—(सृष्टिखंड, ११ वां अध्याय) बदरिकाश्रम में गंगाजी के तट पर श्राद्ध करने से गया में पिंडदान करने के समान पितरों की मुक्ति हो जाती है। (उत्तरखंड, दूसरा अध्याय) सवा लाख पर्वतों के बीच में बदरिकाश्रम स्थित है। वहाँ श्वेतवर्ण नरजी और श्याम वर्ण नारायण जी रहते हैं। सूर्य के उत्तरायण रहने के समय वहाँ बड़ी पूजा होती है और ६ मास सूर्य के दक्षिणायन रहने पर वर्ष बहुत पड़ने के कारण वहाँ पूजा नहीं होती। मनुष्य बदरिकाश्रम के अलकनन्दा गंगा में स्नान करने से बड़े बड़े पापों से विमुक्त हो जाते हैं।

कूर्मपुराण—(उपरिभाग, ३६ वां अध्याय) हिमवान पर्वत नाना धातुओं से अलंकृत सिद्ध चारण और गंधर्वगणों से सेवित ८८ योजन लंबा है। गंगा नदी और हिमवान पर्वत सर्वत्र पवित्र हैं। हिमालय पर नारायण का अति प्रिय स्थान बदरिकाश्रम है। वहाँ जाने से प्राणी का संपूर्ण पाप

विनाश हो जाता है और वहां श्राद्धादि कर्म करने से अक्षयफल प्राप्त होता है।

स्कंदपुराण—(केदारखंड, प्रथम भाग, ५७ वां अध्याय) कण्वाश्रम से नंदगिरि (अर्थात् नंदप्रयाग) तक पुण्यक्षेत्र वदरिकाश्रम है, जिस के सेवन करने से भुक्ति और मुक्ति दोनों मिलती है। महर्षि कण्व के आश्रम में नारायण को नमस्कार करने से दुरात्मा मनुष्य भी दुःख रहित पद को प्राप्त करता है और नंदप्रयाग में स्नान करके नारायण की पूजा करने से मनुष्य को सब कुछ प्राप्त होता है। कलियुग में जो पुरुष वदरिकाश्रम में जाते हैं वे धन्य हैं। वहां ब्रह्मादिक देवता निवास करते हैं। वह क्षेत्र अनेक तीर्थों से सुशोभित है। वदरिकाश्रम में निवास करने वाला विष्णु रूप होजाता है। वह क्षेत्र ४ प्रकार का है,—स्थूल, सूक्ष्म, अति सूक्ष्म और शुद्ध। वह १२ योजन लंबा और ३ योजन चौड़ा पापी लोगों को अगम है। गंधमादन पर्वत पर वदरिकाश्रम में ऋग्वेद आदिक शिलाओं और नाना तीर्थों से सुशोभित नरनारायण का पवित्र आश्रम है। उसी स्थान में अग्नि तीर्थ से उत्पन्न तप्त जल की धारा देखने में आती है। जो मनुष्य अज्ञान वस वदरीनाथ जी का नैवेद्य परित्याग करता है, वह चांडाल से भी अधम है। यदि चांडाल भी नैवेद्य को छू देवे तो भी उसको खाने में कोई दोष नहीं है। जो मनुष्य वदरिकाश्रम में पितरों को कणमात्र भी जल देता है, जानना चाहिए कि वह पितरों की मुक्ति होने का संपूर्ण कार्य कर चुका। काशी, कांची, मथुरा, गया, प्रयाग, अयोध्या, अवंती, कुरुक्षेत्र इत्यादि तीर्थ जिन पापों को नहीं छुड़ा सकते और जिस गति को नहीं दे सकते उस को वदरिकाश्रम देता है। वहां पापों का विनाश करने वाले साक्षात् गंगाजी विद्यमान हैं और विष्णु, ब्रह्मा, शिवजी आदि देवता निवास करते हैं। जब तक शरीर शिथिल नहीं हो तबही तक वदरिकाश्रम में जाना चाहिए।

(५८ वां अध्याय) गंगा के दक्षिण भाग में नर नामक पर्वत पर हजारों तीर्थ और सैकड़ों लिंग विद्यमान हैं, जिन में से कितने अगम्य और कितने गम्य हैं। उस स्थान पर तप्त और शीतल जल के बहुतेरे पवित्र कुंड देखने में आते हैं। उत्तर के पर्वत पर दिव्यमहर्षि, सिद्ध, नाग, इत्यादि रहते हैं। वैखा-

नस मुनि के स्थान के पास पर्वत पर योगीश्वर नामक भैरव हैं; उन को नमस्कार करके सूक्ष्म क्षेत्र में जाना चाहिए । कुबेरशिला को नमस्कार करने से मनुष्य दरिद्रो नहीं होता । नरनारायण पर्वत को मुनि लोग बंदना करते हैं । नरनारायण के आश्रम में शरीर छोड़ने से प्राणी जन्म मरण से रहित होजाता है । ऋषिगंगा में स्नान करके उस के जल पीने से मनुष्य परम धाम को जाता है । जो मनुष्य कूर्मधारा के पवित्र जल में आचमन और पंचशिलाओं को नमस्कार और परिक्रमा करके पूजन करता है वह इस लोक में धन्य है । जो बंदरिकाश्रम में केदारेश्वर जी का पूजन करता है वह शिवलोक में पूजित होता है । बदरीनाथजी की परिक्रमा करने से संपूर्ण पृथ्वीदान करने का फल मिलता है । उस क्षेत्र में विष्णु लोक को देनेवाला नारदशिला है; वहां जो कर्म किया जाता है उसका कोटिगुण फल मिलता है । जो मनुष्य नारदकुंड में स्नान करता है, वह जन्म मरण से रहित होजाता है । सब कामनाओं की देने वाली वाराहीशिला और गंगा जी में वाराहकुंड है, जिस में स्नान करने से अनंत फल लाभ होता है । सब पापों के नाश करनेवाली नारसिंही शिला तथा भोग और मोक्ष को देनेवाला नृसिंह कुंड है । लोक में दुर्लभ मार्कण्डेयशिला है, जिस का स्पर्श करने से मनुष्य सब पाप से छूट जाता है । जिस स्थान पर गरुड़जी ने तप करके हरिके वाहन बने, उस स्थान पर गरुड़शिला है, जिसके दर्शन, स्पर्श और पूजन करने से मनुष्य नारायण का रूप होजाता है । इन ५ शिलाओं के मध्य में श्रीवदरोनाथ जी का आसन और वन्दितीर्थ है । उसी स्थान पर अग्नि ने हरि की आराधना करके सर्व वस्तुओं को जलाने की शक्ति प्राप्त की थी । पितर लोग ब्रह्मकपाल में अपने वंश जो की चाह करते हैं; इस लिये वहां पिंडदान करना उचित है । ज्ञान से वा अज्ञान से भक्ति से अथवा बिना भक्ति से जो मनुष्य उस स्थान पर पिंडदान और जल में तर्पण करता है दुर्गति में पड़े हुए उस के पापी पितर भी तरजाते हैं । ब्रह्मकपाल पर पितर कर्म करने वालों को गया में जाने से और अन्य तीर्थों में तर्पण करने से क्या प्रयोजन है । उस स्थान में जो जो कर्म किये जाते हैं उन का कोटिगुण फल मिलता है, इस लिये वहां पिंडदान और तर्पण अवश्य करना चाहिये ।

वहां विंददान करने से मातृवंश, पितृवंश, शाले, सस्वन्धी, मित और दूसरे प्रिय जन, वृक्ष, पशु, पक्षी आदि किसी योनि में प्राप्त होय विष्णु के परम पद को पाते हैं। गंगाजी में शिलारूप से नृसिंहजी निवास करते हैं। वहां भुक्ति मुक्ति को देने वाला नारायण कुंड है। वदरीनाथ के धाम से पश्चिम आधे कोस पर उर्वशी कुण्ड है; उसी स्थान पर राजा पुरूरवाने ५ वर्ष उर्वशी के साथ रमण करके पुत्रों को उत्पन्न किया था। वदरिकाश्रम में साढ़े तीन किरोड़ तीर्थ हैं।

वदरीनाथ से २ कोस पर श्वर्णधारा तीर्थ है, जिसमें स्नान करके ३ रात्रि उपवास करने से कुबेरजी का दर्शन होता है। वैखानसतीर्थ में एक वर्ष स्नान और फलाहार करने से मनुष्य मृत्युको जीत लेता है। गंगा के शेषतीर्थ में स्नान करनेवाला अच्छे भोगों को भोग कर परलोक में परमगति पाता है। वदरीनाथ के वाम भाग में इंद्रधारा तीर्थ है। मनुष्य वहां स्नान करने से इंद्रके समान हो जाता है। सर्व वेदमय वेदधारा तीर्थ है, जिसमें स्नान करने से ब्रह्म-हत्यादि पाप छूट जाता है। सब पापों के नाश करने वाला वसुधारा तीर्थ है, जिस के जल का विंदु पापियों के मस्तक पर नहीं पड़ता। स्नान कर के धर्म-शिला पर बैठकर अष्टाक्षर मंत्र से ८ लाख जप करने से विष्णु सारूप मिलता है। वहां सोम तीर्थ है, जहां चंद्रमा ने तप कर के सुन्दर रूप पाया। सत्यपद तीर्थ में स्नान करने से विष्णु सायुज्य और चक्रतीर्थ में स्नान करने से विष्णु लोक मिलता है। रुद्रतीर्थ में स्नान करने से रुद्रलोक और ब्रह्मतीर्थ में स्नान करने से ब्रह्मलोक में निवास होता है।

(५९ वां अध्याय) महर्षि नारद विष्णुमना का पुत्र विष्णुरतिनाम से प्रसिद्ध हुए थे। उन को गान विद्या का ब्यसन हुआ। वह गवैओं के साथ रहने लगा; तब उसके पिता ने मूर्ख समझ कर उसको घर से निकाल दिया। विष्णुरति सब का संग छोड़ कर कैलास पर्वत पर वदरीवन में जाकर नारायण के समीप गान करने लगा। वह गंगा जी में स्नान करके नित्य विष्णु के समीप उनका गुनगान करता था। महाविष्णु प्रकट होकर बोले कि हे विष्णुरति ! तू इच्छित वर मांगो। विष्णुरति बोला कि तुम्हारे में मेरी भक्ति होवे; गान विद्या में, मैं कुशल होऊँ और संसार मुझको स्पर्श न करे। भगवान बोले

कि सब होगा; किंतु शिवजी की आराधना करने पर तुम राग विद्या में कुशल होगे । पूर्व काल में तुम्हारा नाम नारद था; दक्ष के शाप से तुम संसार में प्राप्त हुए हो; तुम ने नार अर्थात् गंगा का जल मुझ पर चढ़ाया इससे अब भी तुम नारद नाम से प्रसिद्ध होगे; यह नारदकुंड मुक्ति को देनेवाला होगा । ऐसा कह विष्णु अन्तर्ह्वान होगए । विष्णुरति नारदत्व पाया और पीछे वह शिवजी की आराधना करके गान विद्या में परम कुशल होगया ।

(६२ वां अध्याय) गंगाद्वार से ३० योजन पूर्व भोग और मोक्ष का देने-वाला महाक्षेत्र (अर्थात् बदरिकाश्रम) है । वहां पापों को छुड़ानेवाले अनंत तीर्थ और तीनों लोकों को पवित्र करने वाली गंगा हैं । मनुष्य एक बार बदरीनाथ के दर्शन करने से संसार में फिर नहीं जन्म लेता । बदरीनाथ का नैवेद्य भोजन करने से अमक्ष भक्षण का दोष छूट जाता है ।

प्रथम केदारनाथ की पूजा करके तब बदरिकाश्रम में जाकर बदरीनाथ का दर्शन करना चाहिए । बिना केदारनाथ के दर्शन किए बदरीनाथ की यात्रा निष्फल होजाती है । ऋषिगंगा से उत्तर सूक्ष्म क्षेत्र है । उस में जाकर एक रात्रि क्षेत्रोपवास करना चाहिए । प्रातःकाल गंगाजी और नारदकुंड आदि तीर्थों तथा वन्दिहतीर्थ में स्नान करके केदारभवन में जाना उचित है । वहां यथाशक्ति नैवेद्य चढ़ावे और दर्शन, प्रदक्षिणा तथा दान करे । उस क्षेत्र में जो कर्म किया जाता है उस का फल कोटिगुणा होता है । बदरिकाश्रम में जाने वाले मनुष्यों का संसार में फिर जन्म नहीं होता; देवता लोग भी उनकी पूजा करते हैं ।

(दूसरा भाग, पहला अध्याय) नंद पर्वत से काष्ठगिरि तक केदारक्षेत्र है । रत्नस्तंभसे माया क्षेत्र तक हिमालय के पास में पुण्य दायक स्थान है । जो मनुष्य इस में वास करते हैं; मुक्ति उन क हाथ में रहती है ।

पाँचवां अध्याय ।

(गढ़वाल जिले में) नन्दप्रयाग, कर्ण-
प्रयाग, मोलचौरी; (कमाऊँ जिले में)
रानीखेत, अल्मोड़ा, नैनोताल,
भोमताल; (तराई जिले में)
काठगोदाम, काशीपुर
और हलद्वानी ।

नन्दप्रयाग

उलटे फिरने का मार्ग—मैं ३ राति बदरिकाश्रम में रहकर ज्येष्ठ शुक्ल ४ के प्रातः काल वहाँ से पीछे की ओर फिरा और १६½ मील विष्णु-प्रयाग तक पूर्व कथित मार्ग से आया । विष्णुप्रयाग से चलने पर १ मील आगे जोशीमठ की सड़क बाएँ तरफ छूट गई । मैं नीचे की सीधी सड़क से चला । विष्णु प्रयाग से १½ मील आगे ४ छप्पर की २ दुकानें और कई झरने और जगह जगह खेतों का मैदान है । चट्टी के पहले जगह जगह पर ४ झरने मिलते हैं और १ मील आगे कई झरने हैं । विष्णुप्रयाग से ११ मील पर जोशीमठ वाली सड़क मिल जाती है । विष्णुप्रयाग से वहाँ तक कड़ी चढ़ाई है । बदरीनाथ को जिस रास्ते से लोग जाते हैं, चमोली तक ४४½ मील (जोशीमठ छोड़कर) उसी सड़क से लौट आते हैं । केदारनाथ होकर बदरिकाश्रम जानेवाले यात्रियों को लौटने पर चमोली से अलकनन्दा के बाएँ के नए मार्ग से चलना होता है ।

मैं चमोली से बरहे अर्थात् रस्से का झूला लांघ कर अलकनन्दा नदी के बाएँ किनारे चलने लगा । कर्णप्रयाग की तरफ के नीचे की सड़क बह गई थी; अब ऊपर नई सड़क बनी है । चमोली से इधर जाड़ा बहुत घट जाता है; भक्खी अधिक हैं, जगह जगह आम और केला के वृक्ष और अलकनन्दा के

किनारे बालू और मैदान देख पड़ते हैं । चमोली से १ मील आगे छोटा झरना और १½ मील आगे पुल के नीचे एक साधारण झरना है । वहां से अलकनन्दा के उसपार एक सड़क देख पड़ती है, जो पश्चिम की ओर अगस्त्यचट्टी तक गई है । बकरी भेड़वाले व्यापारी जिन्स लेकर उस रास्ते से अगस्त्यचट्टी होकर आगे जाते हैं । चमोली से २ मील आगे कुबेलचट्टी है ।

कुबेलचट्टी—यहां लम्बे चौड़े २ पक्के और १ छप्परवाला मकान, कुबेल नामक नदी और चट्टी के आस पास ढालू मैदान और कई पनचक्की हैं । कुबेलचट्टी से आगे १½ मील पर झरना; २ मील पर छप्परवाले ३ मकान और एक झरना; उससे थोड़े आगे छप्पर का एक दुकान और एक झरना; ३ मील आगे एक छप्पर की दुकान, बड़ा झरना, नीचे उजाड़ वस्ती और एक पक्का मकान; ३½ मील आगे एक झरना; ४½ मील आगे एक झरना; ४½ मील आगे एक झरना और ५ मील आगे नन्दप्रयाग है । चमोली से सड़क के पास छोटे छोटे वृक्षों का जंगल और पर्वत के ऊपर जगह जगह चीड़ आदि के बड़े बड़े वृक्षों का वन देख पड़ता है ।

नन्दप्रयाग—इस से नीचे अलकनन्दा के पानी के पास पहले पक्का बाजार, नन्दजी, लक्ष्मीनारायण और देवी के मन्दिर, बाग और पुल था; जो सन् १८९४ में गोहना झील के टूटने पर सब के सब बह गए, वहां अब बालूका मैदान है । उस समय वहां ११३ फीट ऊंचा अलकनन्दा का पानी हुआ था ।

अब अलकनन्दा के ऊपर कण्ठासुगांव के पास नन्दप्रयाग के एक मंजिले दो मंजिले तीस पैंतीस पक्के मकान बने हैं । इनमें बहुतेरे बन रहे हैं । वहां कपड़ा, वरतन, मसाला, जिन्स और कस्तुरी, चमर, शिलाजित, निर्विषी, जहरमोहरा आदि पर्व्वती चीजें मिलती हैं । दुकानदार के यहां नोट विक्रि जाता है । नन्दप्रयाग में एक डाक खाना और कई झरने हैं ।

नन्दप्रयाग गढ़वाल जिले के पंचप्रयागों में से एक है । नन्दप्रयाग वस्ती से १ मील नीचे ननवाना नदी, जिसको नन्दा भी कहते हैं, पूर्व के त्रिपुरली से आकर अलकनन्दा में मिली है । नन्दा के बाएं अलकनन्दा के संगम तक बालू का मैदान है । नन्दा नदी पर ११५ फीट लम्बा लोहेका लटकाऊ पुल बना है ।

संक्षिप्त प्राचीन कथा—स्कंदपुराण—(केदारखंड, प्रथम भाग, ५७ वां अध्याय) कण्वाश्रम से लेकर नंदगिरि (अर्थात् नंदप्रयाग) तक पुण्यक्षेत्र (वदरिकाश्रम) है । जो मनुष्य नंदप्रयाग में स्नान करके नारायणजी की पुजा करता है उसको सब पदार्थ मिल जाता है और मुक्ति उसके हाथ में हो जाती है ।

(५८ वां अध्याय) पूर्वकाल में उस स्थान पर नंद नामक धर्मात्मा राजा ने विधि पूर्वक यज्ञ करके बहुत अन्न और दक्षिणा ब्राह्मणों को दिया । ब्रह्मादिक देवताओं ने मूर्तिमान होकर अपने अपने भागों को ग्रहण किया और प्रसन्न होकर उनके नाम से उस क्षेत्रका नाम नंदप्रयाग रखवा । उस स्थान पर नंदा और अलकनंदा के संगम में स्नान करने से मनुष्य शुद्ध हो जाता है । वहां विष्णुभगवान् शिवजी और वशिष्ठजी के साथ सर्वदा निवास करते हैं । नंदप्रयाग से १ योजन पर नशिष्ठेश्वर शिवलिंग है ।

लिंगासूचट्टी—नन्दप्रयाग से १ मील आगे नन्दानदी पर लोहे का पुल, ३ मील आगे मुरला चट्टी पर एक मोदीका एक पक्का मकान और एक झरना और नीचे पन्द्रह बीस घर की बस्ती और अलकनंदा के किनारे १ मील लंबा चौड़ा खेत और मैदान है; उसके आस पास ११ मील चीड़ के बड़े बड़े दरख्तों का घना जंगल है । नन्दप्रयाग से ३१ मील आगे एक झरना; ३१ मील आगे एक मोदी और एक झरना; ४१ मील आगे बड़े झरने पर पुल; ४१ मील आगे एक मोदी के फूस के २ मकान, १ झरना और १ नई कोठरी में गौरीशंकर की मूर्तियां; ५ मील आगे एक छोटी नदी, पनचकी, दो तीन झरने और एक मोदी के फूस के २ मकान; ५१ मील आगे केले के झाड़ों के साथ एक बस्ती, ६ मील आगे एक छोटा झरना; और ६१ मील आगे लिंगासूचट्टी है । चमोली से इधर राह सुगम है ।

लिंगासूचट्टी पर मोदियों के बड़े २ आठ नव पक्के मकान, एक कोठरी में नृसिंहजी और एकमें जण्डी की मूर्ति और चट्टी के पास लिंगासू नामक पहाड़ी बड़ी बस्ती और खुला हुआ एक बड़ा झरना है । चट्टी से अलकनन्दा

दूर है । बीच में खेतों का बड़ा मैदान है । लिंगासू से थोड़े आगे एक छोटी नदी पर काठ का पुल और पनचक्की है ।

लिंगासूचट्टी से १, १, १, और २ मील पर एक एक झरना; २१ मील आगे अलकनन्दा पर झूला; ३१ मील आगे लकड़ियों की बल्ली और फूस से बना हुआ एक मोदी का मकान और झरना; ४ मील आगे इस पार एक छोटा झरना और उस पार खेतों का मैदान; और तीन चार बस्ती; ४१ मील आगे एक बड़ा और एक छोटा झरना; ५ मील आगे एक झरना और ६ मील आगे कर्णप्रयाग है । चमोली से वहाँ तक रास्ता सुगम उतराई का है ।

कर्णप्रयाग

अलकनन्दा पूर्वोत्तर से वहाँ आकर वहाँ से पश्चिम रुद्र प्रयाग को गई है । पिंडारक नदी, जिसको कर्णगंगा भी कहते हैं, दक्षिण नन्दा कोटि से आकर कर्णप्रयाग बाजार से १ मील उत्तर अलकनन्दा से मिल गई है । पिंडारक नदी का पानी हरित और साफ है । नदी के लोहे का पुल टूट गया है । पांच छः मोटे २ सहतीर रख कर पुल बना है । कर्णप्रयाग में पूर्ण समय में छुन्ती के पुत्र राजा कर्ण ने सूर्यका बड़ा यज्ञ किया था ।

कर्णगंगा के दहिने किनारे पर कर्णका मन्दिर; संगम पर कर्णशिला नामक एक छोटा चट्टान; कर्णगंगा पर लटकाऊँ पुल; और बाएँ किनारे पर कर्णप्रयाग का बाजार, अस्पताल, थाना, आदि थे; जो सन् १८९४ के गोहना झील के टूटने पर, जब अलकनन्दा का पानी वहाँ १३० फीट ऊँचा हुआ था, सब के सब बह गए । अब कर्ण के मन्दिर का चबूतरा बाकी है, जिसके पास महादेव का एक नया मन्दिर बना है और पुराना बाजार से थोड़ा दक्षिण पर्वत के जंघे पर कर्णप्रयाग बसा है । वहाँ बीस पचीस पक्के मकान, एक पक्की धर्मशाला, अस्पताल, पुलिस की चौकी, पोष्ट आफिस और २ झरने हैं और पूरी मिठाई आदि सब चीजें मिलती हैं । इधर आटा क्रम क्रम सस्ता होता जाता है । कर्णप्रयाग में ३ आने सेर आटा बिकता है । कर्णप्रयाग गढ़वाल जिले के प्रसिद्ध पंच

प्रयागों में से एक है, जो केदारनाथ और बदरीनाथ के यात्रियों को सब से पीछे मिलता है ।

कर्णप्रयाग से यात्रियों के लिये वेश जाने के दो रास्ते हैं, एक वहाँ से पश्चिम रुद्रप्रयाग और रुद्रप्रयाग से दक्षिण श्रीनगर, देवप्रयाग और हृषीकेश होकर हरिद्वार को और दूसरा दक्षिण आदिबदरी, मिलचौरी होकर काठगोदाम को । पंजाबी लोग और हरिद्वार के आस पास के यात्री हरिद्वार जाकर और पूर्व—दक्षिण के यात्री काठगोदाम जाकर रेलगाड़ी पर चढ़ते हैं । कर्ण-प्रयाग से हरिद्वार ११२½ मील और काठगोदाम १०४½ मील है ।

संक्षिप्त प्राचीन कथा—स्कंदपुराण—(केदारखंड, प्रथम भाग, ८१ वां अध्याय) महाराज कर्ण ने कैलास पर्वत पर नंद पर्वत के निकट गंगा (अर्थात् अलकनंदा) और पिंडारक के संगम के समीप शिवक्षेत्र में सूर्य का बड़ा भारी यज्ञ किया और वह शिवजी की आराधना करके देवीजी के भवन में स्थित हुआ । सूर्य भगवान ने कर्ण को अभेद कवच, अक्षय तूणीर और अजेयत्व दिया और उस क्षेत्र का नाम कर्णप्रयाग रक्खा । तब से ब्रह्मवादी मुनि लोग वहाँ स्थित हुए; उनके नामों से बहुत कुंड प्रसिद्ध हुए, जिनमें स्नान करने से सूर्यलोक मिलता है । वहाँ सूर्यकुंड है, जिसमें स्नान करनेवालों को चारो वर्ग मिलता है । कर्णप्रयाग में उमा नास्ती देवी और उमेश्वर नामक महादेव स्थित हैं । जब कर्ण ने शिवजी की आराधना की तब शिवजी उस स्थान पर कर्णेश्वर नाम से प्रसिद्ध हो गए, जिनकी पूजा करने से १०० यज्ञ करने का फल मिलता है । वहाँ रक्तवर्ण विनायकशिला है, जिसका स्पर्श और परिक्रमा करने से विघ्नों का नाश होता है । जो मनुष्य कर्णप्रयाग में मरता है वह एक कल्प तक शिवपुर में निवास करता है ।

रुद्रप्रयाग की सड़क—कर्णप्रयाग से ५ मील चढ़वा पीपलचट्टी, १० मील वगड़ामू, १३ मील शिवानन्दोचट्टी और २१ मील रुद्रप्रयाग है । सब चट्टियों पर दुकानें और झरने हैं । हरिद्वार जानेवाले यात्रियों को रुद्र-प्रयाग से उर्द्ध लिखित मार्ग से हृषीकेश होकर और काठगोदाम जानेवालों को नीचे लिखे हुए मार्ग से जाना चाहिए ।

सेमलचट्टी—काठगोदाम जानेवाले यात्रियों को कर्णप्रयाग से अलकनन्दा नदी छूट जाती हैं, पिंडारक नदी के किनारे चलना होता है । काठगोदाम के मील के पत्थरों का नम्बर कर्णप्रयाग से आरंभ होता है । कर्णप्रयाग से चलने पर पहले सेमलचट्टी मिलती है । कर्णप्रयाग से आगे १ मील, १ मील और १ मील पर एक एक झरना; २ मील आगे एक गुफा और एक खुला झरना; २ १/२ मील आगे दो जगह दो झरने और ३ १/२ मील आगे सेमल चट्टी है ।

सेमलचट्टी पर छ सात पक्के मकान, एक सरकारी पक्की धर्मशाला, झरना, पिण्डारक नदी पर झूला और चट्टी तक १ मील खेत का मैदान है । वहां आदिवदरी नामक नदी आकर पिंडारक नदी में मिली है । वहां से आदिवदरी नदी के बाएँ और सन्मुख चलना होता है ।

सेमलचट्टी से १ मील आगे नदीपर ११५ फीट लम्बा लोहाका लटकाऊँ पुल है । उसको पार होकर आदिवदरी नदी के दहिने किनारे चलना होता है । पुल पार एक झरना है । संगम से आगे पिंडारक नदी के बाएँ होकर एक सड़क नारायणवगड़ को गई है । सेमलचट्टी से १ १/२ मील आगे एक झरना; १ १/२ मील आगे २ झरने; २ १/२ मील आगे सिरौलीचट्टी पर मोदीके छप्पर का मकान और दो झरने; ३ मील आगे छोटा झरना; ३ १/२ मील आगे छोटा झरना; ३ १/२ मील आगे लकड़ी फूस से बना हुआ वटौलीचट्टी पर एक मोदी का मकान, दो झरने, दो पीपल के पेड़ जहां तक बड़े बड़े वृक्षों के जंगल की विचित्र हरियाली देखने में आती है; आगे २ झरने; ४ १/२ मील आगे छोटा झरना; ५ १/२ मील आगे २ झरने; ५ १/२ मील आगे छोटे छोटे २ झरने; ६ १/२ मील आगे एक कोठरी; जहां से पश्चिम एक सड़क पौड़ी को गई है; उस पार एक छोटी नदी इस नदी से मिली है; ६ १/२ मील आगे एक पीपल का पेड़ और २ झरने; और ८ मील आगे आदिवदरी है ।

आदिवदरी—यह वदरी पंचवदरी में से नहीं है । पंचवदरी में के आदिवदरी कुंभारचट्टी से ६ मील ऊर्जम गांव में है । कर्णप्रयाग से वहां तक सुगम चढ़ाव उतार की सड़क और जगह जगह चौरस भूमि है ।

आदिवदरी चट्टी पर मोड़ियों के दश बारह मकान, जिनमें एक बहुतही बड़ा है; एक सरकारी पक्की धर्मशाला; पोष्टाफिस; खुला हुआ एक बड़ा झरना और नीचे एक नदी और खेत का मैदान है ।

चट्टी के पास १४ देवताओं के शिखरदार छोटे छोटे चौदह मन्दिर हैं । जहाँ के सब देवताओं में आदिवदरी प्रधान है । इनका मन्दिर वहाँ के सब मन्दिरों से बड़ा है । आदिवदरी की सुन्दर छोटी मूर्ति मुकुट, वस्त्रों से सुशो-भित है । १४ मन्दिरों में से ६ तो केवल चार पांच हाथ ऊँचे हैं । मन्दिरों में नीचे लिखे हुए देवता हैं,—(१) आदिवदरी, (२) पार्वती, (३) अन्नपूर्णा, (४) महिषमर्दिनी देवी, (५) गणेशजी, (६) बुढ़ाकेदार, (७) गरुड़, (८) सत्यनारायण, (९) लक्ष्मीनारायण, (१०) चक्रपाणि, (११) परशुराम, (१२) पारब्रह्म वा परब्रह्म, (१३) गोकुलस्वामी और (१४) हनुमानजी । मन्दिरों के पास पांच छ ब्राह्मण रहते हैं ।

आदिवदरी से १ मील आगे १ बड़ा और २ छोटे झरने; १ मील आगे छोटी छोटी २ नदियों का संगम; १ मील, १ मील और २ मील पर एक एक झरने; २ मील आगे ३ झरने और १ पक्का घर; ३ मील और ३ मील पर एक एक झरना और ४ मील आगे जोकापानीचट्टी है ।

जोकापानीचट्टी—वहाँ लकड़ी के शाखों और फूस के छप्पर से बने हुए चार पांच मकान और एक झरना है । आदिवदरीवाली नदी उस चट्टी से पहले छूट जाती है और १ मील पहले १ मील की कड़ी चढ़ाई मिलती है ।

जोकापानी चट्टी से १ मील आगे एक झरना और वहाँ से १ मील तक कड़ी चढ़ाई; १ मील, २ मील, २ मील, २ मील, २ मील पर एक एक झरना; ३ मील आगे कालामाटीचट्टी पर लकड़ी की शाखों और फूस के छप्परों से बने हुए छोटे छोटे ५ मकान और एक झरना; ३ मील आगे एक झरना; ३ मील आगे सिंहकोटीचट्टी पर लकड़ी की शाखों और फूस के छप्परों से बने हुए ३ मकान और २ झरने; ४ मील; ४ मील और ५ मील पर एक एक झरना और ५ मील पर गोहड़चट्टी है । जोकापानीचट्टी से सिंहकोटीचट्टी तक मार्ग के पास बड़े बड़े वृक्षों का सघन वन है ।

गोहड़चट्टी—वहां एक नदी पर काठ का पुल; दोनों किनारों पर २ मोदियों के चार पांच पक्के मकान; उस पार एक झरना; दोनों तरफ ऊपर जगह जगह पक्के मकानों की चार पांच बस्तियां और नदी के किनारों पर खेत का ढालू मैदान है ।

गोहड़चट्टी से नदी पार हो कर १ मील तक नदी के बाएँ किनारे चलना होता है । आगे नदी दहिने छूट जाती है, बड़ा मैदान मिलता है । १ मील आगे लोहवा में दहिने एक अंग्रेजी बंगला और दो तीन पक्के मकान हैं, जिन के पास चाह की खेती होती है । बंगले के चारो तरफ ढालू बड़ा मैदान है । गोहड़चट्टी से ११ आगे धोबीघाटचट्टी है ।

रामगंगा नदी—यह नदी ऊपर लिखा हुआ लोहवा के पहाड़ से निकली है । धोबीघाट के पास दोनों तरफ से दो धारें आकर इसमें मिली हैं; तो भी वहां गभीर की ऋतुओं में जगह जगह आदमी रामगंगा को फांद जाते हैं । यह नदी मुरादाबाद और बरैली होकर ३०० मील बहने के उपरान्त फरुखाबाद के नीचे गंगा में मिल गई है ।

धोबीघाटचट्टी—वहां सड़क के दोनों किनारों पर पन्द्रह सोलह पक्के मकान, पोष्ट आफिस, पुलिस की चौकी और रामगंगा नदी है ।

धोबीघाट चट्टी से रामगंगा के बाएँ किनारे चलना होता है । १ मील आगे उस पार बहुत छोटे छोटे २ मन्दिर, इस पार दो पन चक्की और एक झरना; १ मील आगे एक बस्ती और १ बंगला; १ मील आगे १ बड़ी बस्ती; २ मील आगे बड़ा झरना; २ मील आगे ऊपर १ गुफा; ३ मील आगे मोदी का एक छोटा मकान; ३ मील आगे एक झरना; ४ मील आगे छोटे छोटे कई झरने; ४ मील आगे एक झरना; और ५ मील आगे मीलचौरी चट्टी है ।

धोबीघाट चट्टी से मीलचौरी तक रामगंगा के दोनों तरफ जगह जगह खेतोंका बड़ा मैदान और बस्तियां हैं । आदिवदरी से वहां तक सुगम उतराई का मार्ग और जगह जगह सड़क समतल है । कर्णप्रयाग से मीलचौरी तक

सड़क चौड़ी और बिना ठोकर की है । उस सड़क पर जिन्स लावे हुए घोड़े चलते हैं । मोदियों के मकान मन्दाकिनी और अलकनन्दा के किनारों के मकानों के समान बड़े बड़े नहीं हैं । छोटी छोटी चट्टीयों पर भाजी आदि बहुत चीजें नहीं मिलती । हवा पानी अच्छा नहीं है । चाई, पेट-मरोड़, आदि कई रोग बहुत लोगों को होते हैं । कर्णप्रयाग से इधर हरे के पेड़ और फल वतुत हैं और पदुम काठ और तेजवल की लाठी बहुत बिकती है ।

मीलचौरी

मील चौरी में रामगंगा नदी पर आगे पीछे काठके २ पुल हैं । नदी के बाएँ किनारे पर मोदियों के ४ मकान और झम्पान और कूली का ठीकेदार और दहिने किनारे पर आठ दस पक्के मकान, पुलिस की चौकी और चौकी का बक्स है ।

हरिद्वार और हृषीकेश से आये हुए झम्पान और कंड़ीवाले कूली मील-चौरी से अपने घर को विदा होते हैं । वहाँ नए झम्पान और बोझेवाले कूली ठीकेदार के मारफत मुकरर होते हैं । मैंने काठगोदाव्र जाने के लिये १५ रुपये नकद और प्रतिदिन दो सेर आटा देने के करार पर एक झम्पान भाड़ा पर किया ।

मीलचौरी से आगे गढ़वाल जिला छूट कर कमाऊँ जिला आजाता है, जिस के हाकिम अल्मोड़े में रहते हैं । मील के पत्थरों का नम्बर अल्मोड़े से आरंभ हुआ है । अल्मोड़े से मीलचौरी ४३½ मील ऊपर है ।

मीलचौरी से १ मील आगे लोहागढ़ी नामक शिखर पर एक कोठरी में भैरवनाथ की मूर्ति; १½ मील आगे २ झरने; २ मील आगे सिमालखेतचट्टी पर लकड़ी की शाखों और फूस के छप्परो से बने हुए छोटे छोटे २ मकान और १ झरना; २½ मील और २½ मील आगे एक एक झरना; ३½ मील आगे खुला हुआ झरना; ३½ मील आगे नारायणचट्टी पर लकड़ी की शाखों और फूस के छप्पर से बना हुआ १ मकान और थोड़ी दूर पर एक बस्ती; ४½ मील आगे खुला

हुआ एक झरना, जहाँ से दहिने पहाड़ के ऊपर केदारनाथ नामक एक शिव का मन्दिर ब्रेख पड़ता है, ८१ मील आगे एक बड़ी वस्ती; ६ मील आगे वृषभूचट्टी पर लकड़ी की शाखों और फूस के छप्परों से बने हुए ३ मकान, १ झरना, एक कोठरी में कोई देवता, चट्टी के पास एक वस्ती और थोड़े आगे एक दूसरी वस्ती और एक झरना, ६१ मील आगे चवूतरे के साथ पीपल का एक बड़ा वृक्ष; ७१ मील आगे मोड़ी के २ घर और ८ मील आगे चौखुटिया है, जिसको गनाई भी कहते हैं।

मीलचौरी से लोहागढ़ तक कड़ी चढ़ाई और सिमालखेतचट्टी से आगे की घाटी में खेत का बड़ा मैदान है।

गनाई या चौखुटिया— मीलचौरी से छुट्टी हुई रामगंगा चौखुटिया के पास फिर मिल जाती है और वहाँ से दक्षिण मुरादाबाद गई है। चौखुटिया के पास रामगंगा पर ११५ फीट लम्बा लोहा का पुल बना है। नदी के दहिने किनारे डाकखाना, बाएँ किनारे पर पन्द्रह बीस पक्के मकानों का बाजार और बाजार से १ मील दूर सफाखाना है। चौखुटिया में आटा २१ आने सेर बिकता था। बाजार के लोग रामगंगा का पानी पीते हैं। सफाखाना के पास एक छोटा झरना है।

चौखुटिया से आगे २ सड़क गई हैं, एक दक्षिण की ओर चिलिकिया अर्थात् रामनगर होकर मुरादाबाद की और दूसरी दक्षिण-पूर्व काठगोदाम की। अब अधिक यात्री काठगोदाम जाकर रेलगाड़ी में बैठते हैं।

जो लोग मुरादाबाद के स्टेशन पर रेल में सवार होना चाहते हैं, उनको नीचे लिखे हुए रास्ते से जाना चाहिए। चौखुटिया से ४ कोस चौपट्टा, ८ कोस पर बुढाकेदार, ११ कोस पर भिकीसैन, १७ कोस पर गर्वानी, २३ कोस पर मोहन चौकी, २७ कोस पर उमावैची का मन्दिर, २८ कोस पर गिरिजाचट्टी, और ३५ कोस पर रामनगर है, जिसको चिलिकिया भी कहते हैं। रामनगर से पहले पहाड़ छूट कर है, देश शुरू होता है, बैलगाड़ी और घोड़े मिलने लगते हैं। रामनगर से तराई जिले का प्रधान कसबा काशीपुर १२

कोस और मुरादाबाद ३० कोस है । चट्टियों पर छोटी छोटी दुकानें रहती हैं । भिकीसेन में धर्मशाला और अस्पताल और गिरिजाचट्टी पर धर्मशाला और डाकबंगला है ।

काठगोदाम के मार्ग में चौखुटिया से १ मील आगे १ दुकान और हौज का पानी; २½ मील आगे छोटा झरना; २½ मील आगे २ झरने; २½ मील आगे छोटा झरना और ४½ मील आगे महाकालचट्टी है ।

महाकालचट्टी—वहां पक्के और लकड़ी के वल्लियों और फूस के बने हुए छ सात मकान; एक झरना; सड़क के पास एक छोटी नदी पर ९५ फीट लम्बा लोहे का पुल और दहिने नीचे एक कोठरी में महाकालेश्वर नामक १ शिवलिंग हैं ।

महाकालचट्टी से १ मील आगे खुला हुआ झरना; १ मील आगे शाहपुरचट्टी पर लकड़ी फूस से बना हुआ, मोदी का एक मकान और नदी का पानी, १½ मील आगे बाएँ तरफ वस्ती; २½ मील आगे घराटचट्टी पर पेड़ के नीचे एक चबूतरे के गढ़ने में १ शिवलिंग, २ पक्की धर्मशाले, एक मोदी, एक नदी, १ झरना और १ पनचक्की; ३ मील आगे १ मकान और लेटरवक्स; ३½ मील आगे छोटा झरना; ४½ मील आगे डाकबंगले की सड़क; ४½ मील अमीरचट्टी पर लकड़ी फूस से बना हुआ मोदी का एक मकान और काठ का पुल; ५ मील आगे छोटा झरना और ६½ मील आगे द्वारहाट है ।

सिमालखेतचट्टी से अमीरचट्टी तक पहाड़ की घाटी में खेती का बड़ा मैदान और जगह जगह वस्तियां हैं; कई वस्तियों में केले लगे हैं; मार्ग प्रायः समथल और जगह जगह सुगम चढ़ाव उतार हैं । १ मील कड़ी चढ़ाई के पीछे द्वारहाट मिलता है ।

द्वारहाट—वहां सड़क के किनारों पर पन्द्रह बीस पक्के मकान हैं, जिन में कपड़ा, वरतन और सब जिन्स बिकती हैं और यात्री टिकते हैं । वहां सफाखाना, डाकखाना झरने और डाकबंगला है । वहां से १ सड़क सोमेश्वर को गई है । इश्तिहार की तख्ती पर सोमेश्वर १३ मील और रानीखेत १२½

मील लिखा है । बाजार से बाहर पहाड़ियों पर पक्के मकानों की छोटी छोटी कई वस्तियाँ और नीचे एक जगह ३, एक जगह २ और कई जगह एक एक शिखरदार पहाड़ी मन्दिर देख पड़ते हैं । आगे एक छोटी नदी पर काठ का पुल है; वहाँ से एक सड़क डांकबंगले की गई है । द्वारहाट के पास मैदान है ।

रानीखेत की सड़क—द्वारहाट से १ मील आगे पुलिस-चौकी का दो मंजिला मकान है । उससे आगे दो सड़क गई हैं; दहिने की सड़क से रानीखेत छावनी १२ मील और आगे की सड़क से अल्मोड़ा २४^१/_२ मील है । रानीखेत वाली सड़क दूसरी सड़क से यात्रियों के लिए सुगम है । दोनों सड़क खैरना में जाकर मिल गई हैं । पुलिस की चौकी से खैरना आगेवाली सड़क से ३२ मील और रानीखेत होकर २७ मील है ।

तिमूहानी सड़क से १ मील, १ मील और १^१/_२ मील पर एक एक झरना; २ मील आगे एक नया पक्का मकान और दोनों तरफ २ झरने; २^१/_२ मील आगे १ झरना, २^१/_२ मील आगे एक नदी पर ५५ फीट लम्बा काठ का पुल; ३ मील आगे भनरगों की दुकान पर एक मोदी के २ मकान और झरना; ३^१/_२ मील आगे पर्वत के नीचे एक पानी का हौज; ४^१/_२ मील आगे बगवाली पोखरचट्टी पर मुसलमानों की बस्ती और इन्ही की २ दुकानें, डाकखाने में हिन्दू की एक दुकान, छाया हुआ कुँआ हौज, १२ कोठरीवाला एक पक्की धर्मशाला, एक कोठरी में शिवलिंग और जगह मैदान और ५^१/_२ मील आगे बांसुरी सेराचट्टी है ।

बांसुरीसेराचट्टी-चट्टी के पास गगास नदी पर ८५ फीट लम्बा लोहे का पुल है । चट्टी पर मोदियों के पक्के ३ मकान; यात्रियों के टिकने के लिये लकड़ी और फूस की २ पलानी; गोरिला देवता का एक बड़ा चौपार मन्दिर, जिसमें एक मूर्ति और बहुत कोठरी हैं; एक झरना; और नदी का पानी है ।

बांसुरीसेराचट्टी से १ मील आगे से २ सड़क हैं । वहाँ से बाएँ की सड़क पर अल्मोड़ा १८^१/_२ मील है । दहिने की सड़क पर चट्टीसे १ मील आगे एक

झरना; १½ मील आगे मलयनदी चट्टी पर २ मोदी, टिकने के लिए २ पक्के मकान, एक झरना, २ नदियों का संगम, दोनों नदी पर २ पुल; ३½ मील आगे छाया हुआ कूँआ हौज; ३½ मील आगे रेवतीगांव चट्टी पर छप्पर की १ दुकान और रेवतीगांव; ४½ मील आगे बैलगाड़ी की सड़क, जो पीछे रानीखेत को और आगे अल्मोड़ा को गई है और ५½ मील आगे मजखली चट्टी है। मलय नदी से आगे २½ मील तक कड़ी चढ़ाई है।

मजखलीचट्टी—मजखलीचट्टी पर एक मोदी का एक पक्का मकान और टिकने के लिये एक बड़ी पलानी और पेड़ों तर जगह है। उस के आस पास दूरतक समथल में सड़क है, जिस पर नित्य बहुतेरी बैल गाड़ियाँ और बहुतेरे टट्टू टिकते हैं। चट्टी से थोड़ी दूर पर एक झरना है।

मजखली धर्मशाला—मेरे झम्पान का एक कुली विमार होगया, इस लिये मैं झम्पान को छोड़ कर मजखली चट्टी से पैदल चला। १ मील आगे मजखली को धर्मशाला मिली। वहाँ एकई छप्पर के नीचे चारो तरफ मुख वाले एक धर्मशाले में १२ कोठरियाँ, मोदी की २ पलानी और जगह मैदान है। थोड़ी आगे ऊपर डाक बंगला और नीचे झरना का हौज है। वहाँ से पीछे की तरफ रानीखेत ८½ मील और आगे की ओर बाएँ वाली सड़क से अल्मोड़ा १४½ मील है। इस सड़क द्वारा सिकरम काठगोदाम से रानी खेत होकर अल्मोड़ा जाते हैं। वहाँ से रानीखेत और अल्मोड़ा यात्रियों के लिये सब जगहों से अधिक निकट है। बाएँ वाली सड़क से अल्मोड़ा होकर काकरीघाटचट्टी २७½ मील और चढ़ाई उतराई की सीधी सड़क में काकरी घाटचट्टी केवल १४½ मील है। अल्मोड़े वाली सड़क पर चढ़ाई उतराई नहीं है। उस पर बैल गाड़ी चलती है।

रानीखेत ।

यह द्वारहाट से १३ मील, मजखली-धर्मशाले से ८½ मील, तिमूहानी सड़क

से ११ मील और खैरना से १५ मील पर है । बदरीनाथ से लौटे हुए यात्री को द्वारहाट से या मजखली से और काठ गोदाम से, जानेवालों को खैरना से रानीखेत जाना चाहिए । रानीखेत से मजखली होकर अल्मोड़ा २२½ मील और चढ़ाई उतराई की सड़क से काठगोदाम ३९ मील है ।

रानीखेत पश्चिमोत्तर देश के कमाऊं जिले में एक मशहूर फौजी छावनी है । गोरे और हिन्दुस्तानी फौज वहां रहती हैं और गर्मी की ऋतुओं में युरोपियन, सिविलियन और दूसरे सरीफ लोग निवास करते हैं । वहां का जल वायु बहुत उत्तम है । सन १८८० ई० के सितम्बर की खास मनुष्य-गणना के समय रानीखेत में ६६३८ मनुष्य थे; अर्थात् ३२४३ हिन्दू, २०७२ युरोपियन, १२९३ मुसलमान, ७ युरेसियन, ७ देशी कृस्तान और १६ दूसरे ।

अल्मोड़ा ।

अल्मोड़ा मजखली धर्मशाला से १४½ मील, काकरीघाटचट्टी से १३½ मील और भीमौली से २५ मील पर है । बदरीनाथ से लौटे हुए यात्री को मजखली से और काठगोदाम से जानेवालों को भीमौली अथवा काकरीघाटचट्टी से अल्मोड़ा जाना चाहिए । काठगोदाम से भीमताल, भीमौली, खैरना और काकरीघाटचट्टी होकर चढ़ाई उतराई की सड़क से अल्मोड़ा ४३½ मील है, परन्तु भीमौली से सीधी सड़क से जाने से काठगोदाम से अल्मोड़ा ३७ मील पर मिलेगा ।

अल्मोड़ा पश्चिमोत्तर देश के कमाऊं जिले का सदर स्थान और जिले में प्रधान और पुराना कसबा समुद्र के सतह से ५५०० फीट ऊपर है । वहां गोर-खों की २ पल्टने रहती हैं । कमजोर फेफड़ों के आदमियों के रहने के लिये वह प्रसिद्ध स्थान और सौदागरी की मण्डी है । वहां सरकारी इमारतों के अलावे एक कोढ़ीखाना है ।

सन १८८१ की मनुष्य-गणना के समय छावनी के सहित अल्मोड़े में

७३९० मनुष्य थे अर्थात् ६३२३ हिन्दू, ८६६ मुसलमान और २०१ कृस्तान । इनमें से म्युनिस्पलिटी के भीतर केवल ४८१३ मनुष्य थे ।

कमाऊँ जिला—यह पश्चिमोत्तर देश में कमाऊँ विभाग का एक जिला है । जिले का क्षेत्रफल ६००० वर्ग मील और इसका सदर स्थान अल्मोड़ा है । इस जिले में ३ सबडिवीजन हैं,—अल्मोड़ा या खास कमाऊँ, चम्पावत और भावर । कमाऊँ जिले में हिमालय पहाड़ियों का सिलसिला है । पहाड़ियाँ और तराई के बीच में १० मील से १५ मील तक चौड़ा भावर अर्थात् विनापानी का जंगल फैला हुआ है । हिमालय के सिलसिले पूर्व से पश्चिम को गए हैं । नीतीपास का शिखर समुद्र के जल से १६५७० फीट, नानापास का १८००० फीट और जुहार पास का १७२७० फीट ऊँचा है । जिले के पश्चिम गढ़वाल की सीमा पर त्रिशूल पहाड़, जिसकी चोटियाँ त्रिशूल की शकल की हैं, स्थित हैं,—इनमें से पूर्ववाली चोटी समुद्र के जलसे २२३४२ फीट, मध्य की चोटी २३०९२ फीट और पश्चिम की चोटी २३३८२ फीट ऊँची है । त्रिशूल पहाड़ के आस पास लगभग १४० मील लंबाई और ४० मील चौड़ाई में नन्दादेवी, नन्दाकोट इत्यादि ३० चोटियों से अधिक १८००० फीट से अधिक ऊँची हैं । जिले में छोटी नदीयाँ बहुत हैं । कालीनदी के हिस्से को सारदा और गागरा कहते हैं, जिनमें चउलों, गुंका, गोरीगंगा, पूर्वी रामगंगा और सरजू मिली हैं । कई नदियाँ अलकनन्दा में मिल गई हैं । पश्चिमी रामगंगा गढ़वाल जिले में लोहवा के निकट निकली है । हिमालय के सिलसिले पर नैनीताल, भीमताल, नवकुचिया और मालवाताल प्रधान झील हैं । जिले में पत्थर, लोहा, ताम्बा इत्यादि की खाने हैं; परन्तु पूरे तौर से उनमें काम नहीं होता है । जंगली जानवरों में तेंदुए, भालू, हिमालय के बैल, अनेक प्रकार की हरिन इत्यादि होते हैं । भावर में और शिवालिक पहाड़ियों के जंगलों में हाथी रहते हैं ।

इस जिले में सन् १८९१ की मनुष्य-गणना के समय ५६६९४६ मनुष्य थे; अर्थात् २९६१६३ पुरुष और २७०६६४ स्त्रियाँ और सन् १८८१ में ४९३६४१ थे; अर्थात् ४७९९४८ हिन्दू, ११२६१ मुसलमान, २३९३ कृस्तान,

३२ बौद्ध और ७ पारसी । जातियों के खाने में २१६२४७ राजपूत, १२०१३७ ब्राह्मण, १०४९३६ डोम थे । ५१५१ गांव पहाड़ियों के ढगलों पर हैं, जिन में से लगभग ४६६२ गांवों में २०० से कम ४३५ गांवों में २०० से ५०० तक, ४४ गांवों में ५०० से १००० तक और केवल १० गांवों में १००० से अधिक मनुष्य थे ।

बड़ीचोटियों के उत्तर के देश में भोटिए बसते हैं । उनकी शकल और भाषा तिब्बत के लोगों से बहुत मिलती हैं । कमाऊं के निवासी साधारण प्रकार से सुन्दर हैं । सब बातों को विचारने से इन की चाल चलन अच्छी है । वहां के पुरुष चालाक, सच्चे और परीश्रमी होते हैं । स्त्रियां प्रायः सब सुन्दर होती हैं । वहां के लोग पत्थर की दीवार बना कर स्लेट से छानकर के मकान बनालेते हैं ।

इस जिले में केवल अल्मोड़ा देशी कसबा है । चांद राजाओं की उजड़ी हुई राजधानी चम्पावत अब एक गांव के समान है । रानीखेत और नैनीताल में युरोपियन स्टेशन और बाजार हैं । मिलनजुहार भोटियों के रहने की प्रधान जगह एक बड़ा गांव है । राम नगर बड़ा बाजार है । कमाऊं में खेती करने के योग्य भूमि कम है । खेतों के लिये पहाड़ियों के ढगलों पर काटे कर के सीढ़ियों के समान भूमि बनाई जाती है । गेहूं, तम्बाकू, जव, सन, जनेरा, ऊख, कपास, तेल के बीजें सब कुछ जगह जगह उत्पन्न होते हैं । कमाऊं में फल बहुत होते हैं, वहां की नारंगी बहुत उत्तम हैं वहां चायकी खेती बहुत होती है ।

भोटिए लोग तिब्बत और मैदान के साथ कमाऊं की सौदागरी करते हैं । ट्यूटू, भेड़, निमक, ऊन, वेशकीमती पत्थर, मोटा ऊनी कपड़ा, चीनी, रेशम इत्यादि दूसरी जगहों से कमाऊं में आते हैं और गल्ले, रुई का असबाब, तम्बाकू, चीनी, मसाला, रंग, चाय, मकान की लकड़ी, मोटा कपड़ा इत्यादि दूसरे देशों में भेजे जाते हैं । उत्तर के रहनेवाले लोग ऊनी कपड़े पहनते हैं । कमाऊं से चाय, अदरक, हलदी, लालमिरचा, आलू, मसाला, मधु, मीम, थोड़ा लोहा ताम्बा, लकड़ी भावर की पेदावार इत्यादि चीजें मैदान में भेजी जाती हैं । बड़ी नदियों के ऊपर पुरानी चाल के रस्से के झुलाओं के स्थान पर लोहे के लटकाऊं पुल बने हैं । गाड़ी की सड़क हलद्वानी से नैनीताल तक

और रामनगर से रानीखेत और अल्मोड़े तक गई है । सन् १८८२—८३ में वनवाई हुई सड़कों की लम्बाई १४०२ मील थी । अक्तूबर से अप्रैल तक ७ मास इसदेश के जल वायु खुसनुमा रहते हैं । कमाऊ विभाग में ३ जिले हैं,—कमाऊं, तराई और गढ़वाल ।

इतिहास—ऐसा प्रसिद्ध है कि सन ईसवी की दसवीं शदी में चांद धराने का पहला राजा सोमचन्द्रने प्रयाग के पास के झूँसी से आकर कमाऊं जिले के कालीकमाऊं अर्थात् चम्पावत को अपने राज्य का प्रधान स्थान बनाया । राजा कल्याणचन्द्रने चम्पावत को छोड़ कर अल्मोड़ा को अपनी राजधानी बनाया । उसके पुत्र रुद्रचन्द्रने सन् १५८७ में लाहौर में जाकर बादशाह अकबर को नम्रता दिखलाई । मुसलमान बादशाह पहाड़ में कभी नहीं जा सके, किंतु सन १७४४ में अलीमुहम्मदखाँ ने कमाऊं पर चढ़ाई करके अल्मोड़ा को लूटा और उसे लेलिया । मुसलमान लोग ७ महीनों के पञ्चात् अपने मैदान को लौट गए । सन १७४५ में रोहिला मुसलमानों ने फिर पहाड़ी देश पर चढ़ाई की; किंतु वे परास्त हो कर लौट गए । कुछ काल धीतने पर गोरखों की सेना कालीनदी पार हो कर गंगौली और कालीकमाऊं होती हुई अल्मोड़े में आई । कमाऊं का राजा मैदान से भाग गया । उसका संपूर्ण राज्य गोरखों ने लेलिया । चौदह वर्ष तक नेपाली हुकूमत रही । सन १८१५ में अंगरेजी सरकार ने कमाऊं और गढ़वाल जिले को गोरखों से छीन लिया ।

मजखली धर्मशाले से आगे चीड़ आदि बड़े बड़े वृक्षों से भरा हुआ हरित जंगल है । चट्टियों के अतिरिक्त किसी जगह आग सुलगाने अथवा तम्बाकू पीने का हुकुम नहीं है । धर्मशाले से १ मील आगे एक झरना; २½ मील आगे १ हीज और २½ मील आगे तिर्भुहानी सड़क है । उससे दहिने पीछे की तरफ रानीखेत ११ मील और बाएँ तरफ अल्मोड़ा १८ मील है । दोनों तरफ बैलगाड़ी की सड़क है । मजखली से ३ मील आगे झरना पर पुल; ४½ मील आगे वहता हुआ पानी; ४½ मील आगे बहुत छोटे २ झरने; ४½ मील आगे दहिने एक दूसरी सड़क; ५ मील आगे २ छोटे झरने; ८ मील आगे तार का खंभा और ९ मील आगे सीतला-

चट्टी है । धर्मशाले से वहाँ तक सुगम चढ़ाई उतराई की सड़क और जगह जगह समथल भूमि और एक जगह १ मील कड़ी चढ़ाई है ।

सीतलाचट्टी—सीतलाचट्टी के पास चीड़ के बड़े बड़े वृक्षों का बाग, १ पक्का और २ लकड़ी फूस से बने हुए मकान और १ झरना है । मैं वहाँ से काठगोदाम जाने के लिये ३१ रुपये पर एक टट्टू किराया करके उस पर सवार हो आगे चला ।

सीतलाचट्टी से २ मील आगे १ झरना; २१ मील आगे छोटा झरना; २१ मील आगे नीचे १ अच्छी वस्ती और ४ मील आगे बाएँ तरफ कोशलानदी है । वह नदी अल्मोड़ा होकर आई है । उसके बाएँ किनारे अल्मोड़ा की सड़क है । चट्टी से ६१ मील आगे कोशला नदी पर लोहे का पुल, जिसको पार होकर आगे चलना होता है और ६१ मील आगे कांकरीघाटचट्टी है । सीतलाचट्टी से ११ मील सुगम चढ़ाई के बाद कांकरीघाट तक कड़ी उतराई है ।

कांकरीघाट चट्टी—वहाँ मैदान में २ पक्के और ४ पलानीवाले मकान, १ गुफा, कोशला नदी का पानी और अल्मोड़े की सड़क पर एक मोदी का मकान और १ झरना है ।

जो आदमी बांसुरीसेराचट्टी अथवा मजखलो की धर्मशाले से अल्मोड़ा जायगा, वह इसी जगह वालीवाली सड़क पर घुमाव रास्ते से ऊपर होगा । यहाँ चौमोहानी सड़क है, पहली पीछेवाली सड़क, दूसरी १३१ मील की अल्मोड़े तक की सड़क, तीसरी १२ मील की खैरना तक गाड़ी वाली सड़क और चौथी ६१ मील चढ़ाई उतराई वाली खैरना तक की सड़क ।

कांकरीचट्टी से ११ मील आगे पहड़ियाचट्टी पर एक मोदी के पलानी से छाए हुए २ मकान; ४ मील आगे चमड़ियाचट्टी पर एक मोदी की ३ पलानी, एक नदी और २ झरने; ४१ मील आगे बड़ा झरना; ६१ मील आगे छोटा झरना और ६१ मील आगे खैरनाचट्टी है । कांकरीघाट से वहाँ तक सुगम चढ़ाव उतार का मार्ग है ।

खैरनाचट्टी—खैरना में पन्द्रह बीस पक्के मकान, डाकखाना, पुलिस की चौकी, बाजार और कोशलानदी है । कोशला नदी पर लोहे का कैचीदार

पड़ा पुल है । पुल होकर लोग रानीखेत जाते हैं । झारहाट के पास रानी-
खेत की सड़क लुटी थी वह वहां मिल गई । वहां से एक गाड़ी की सड़क पूर्व क-
थित कांकरीघाट चट्टी होकर अल्मोड़े को गई है । बैलगाड़ी काठगोदाम से
नैनीताल, खैरना, रानीखेत और अल्मोड़े को जाती है । खैरना से रानीखेत
२७ मील ऊपर की ओर है । गाड़ीवाली सड़क से काठगोदाम ३४ मील
नीचे है, परन्तु चढ़ाई उतराई वाली सड़क से वह केवल २४ मील पर है ।
कोशला नदी खैरना से छूट जाती है । उस नदी में एक तरह के सफेद और
काले पत्थर बहुत हैं । आगे की तरफ से १ नदी आकर वहां कोशला में मिल
गई है । काठगोदाम जानेवाले लोग उसी नदी के सन्मुख उसके दहिने कि-
नारे होकर आगे चलते हैं । खैरना से आगे गाड़ीवाली सड़क पर चलना
होता है । आगे की ओर से तार आकर रानीखेत और अल्मोड़े को गया है ।

चौमोहानी सड़क—खैरना से १ मील आगे १ मोदी और १
पलानी; १ मील आगे गरमपानी चट्टी पर ३ मोदी, पांच छ पलानी और झरना; २ १/२
मील आगे रामगढ़ चट्टी पर १ मोदी; २ पलानी और नदी पर १२० फीट
लम्बा कैचीदार पुल; ३ मील आगे ऊपर डाकवंगला और नीचे १ दुकान,
१ झरना और १ झरना हौज और ३ १/२ मील आगे चौमोहानी सड़क है । उस
से आगे दहिनी ओर १ सड़क नैनीताल को गई है । उस सड़क से गाड़ी
नहीं जाती है । नैनीताल वहां से १२ मील है । चौमोहानी सड़क के पास
१ मोदी है, ऊपर चढ़ने पर थोड़ा घूम कर गाड़ी वाली सड़क फिर मिल जाती
है । पीछे की तरफ १ सड़क रामगढ़ को गई है ।

चौमोहानी सड़क से १ मील आगे एक चट्टी पर १ झरना हौज, २ मोदी,
६ पलानी और २ झरने, २ मील आगे १ झरना, २ १/२ मील आगे छोटा झरना,
३ मील आगे पानी झरता हुआ पर्वत और ३ १/२ मील आगे कैचीचट्टी पर १ मोदी,
२ पलानी; खैरना वाली नदी और १ झरना है । वहां यात्री लोग गाड़ीवालों
सड़क छोड़कर चढ़ाई उतराई की सड़क से १ मील रास्ते का बचाव कर लेते हैं,
आगे फिर गाड़ीवाली सड़क मिल जाती है । चौमोहानी से ४ १/२ मील आगे
पानी झरता हुआ पर्वत; ५ मील और ५ १/२ मील आगे बड़ा झरना और छोटा

पुल; ६ मील आगे निंगलाटचट्टी पर १ मोदी, ३ पलानी, १ झरना और भि-
दान जगह; ७१ मील आगे छोटा झरना और ८१ मील आगे भिमौलीचट्टी
है। खैरना से भिमौलीचट्टी तक गाड़ी की सड़क है। खैरनावाली नदी
वहां से छूट जाती है।

भिमौलीचट्टी—भिमौलीचट्टी पर १२ कोदरी वाली १ धर्मशाला, ३
मोदी, टट्टुओं के टिकने के लिये कई पलानी, पेड़ों के नीचे बड़ा मैदान, १
ट्टी हुई छोटी धर्मशाला, साधु की समाधि, बहुत छोटा शिव मन्दिर और दो
तीन झरने हैं।

भिमौली में ५ सड़कों का मेल है। पहली सड़क पीछे खैरना को, दूसरी
बाईं ओर पीछे की तरफ २५ मील अल्मोड़े को, तीसरी २२ मील की गाड़ी
की सड़क नैनीताल के नीचे होकर काठगोदाम को, चौथी चढ़ाव उतार की
७ मील की सड़क नैनीताल को और ५ वीं चढ़ाव उतार की सड़क भीम-
ताल होकर काठगोदाम को गई है।

नैनीताल ।

भिमौलीचट्टी से ७ मील और काठगोदाम से भीमताल छोड़कर सीधी
सड़क से १२ मील कमाऊं जिले में नैनीताल एक स्वास्थ्य कर स्थान है। भी-
मौलीचट्टी से जाने में करीब २ मील की चढ़ाई पड़ती है। काठगोदाम के रेलवे
स्टेशन से २ मील रानीवाग तक देश समतल और रानीवाग से आगे सड़क
चढ़ाव की है। काठगोदाम से ९ मील तक टांगा पर और अन्त के ३ मील
डण्डी में या टट्टू पर नैनीताल जाना होता है।

नैनीताल में पश्चिमोत्तर देश के गवर्नमेन्ट के रहने के लिये कोठी बनी हुई
है और एक छोटा फौजी स्टेशन है। गर्मी की ऋतुओं में पश्चिमोत्तर देश के
लेफ्टिनेन्टगवर्नर और दूसरे बहुतरे युरोपियन वहां रहते हैं।

नैनीताल की झील करीब १ मील लम्बा और ५०० गज चौड़ा १२० एकड़
के क्षेत्रफल में फैला है। इसकी सतह से अधिक गहराई ९३ फीट है और
इसके सलाव का सतह ६४१० फीट समुद्र के जल से ऊपर है। कसबा झील
के किनारों पर पहाड़ियों के दगल में बसा हुआ है। झील के पश्चिमोत्तर प-

धान आवादी है । नैनीताल के पश्चिमोत्तर की चिनाजो चोटी समुद्र के जल से ८५६८ फीट और बेवपत्थर चोटी ७५८९ फीट ऊँची है । कमाऊं विभाग का बड़ा हाकिम कमिशनर साहब नैनीताल में रहता है ।

नैनीताल की मनुष्य-संख्या गर्मी के दिनों में बहुत बढ़ जाती है । सन् १८८१ की फरवरी में मनुष्य-गणना के समय केवल ६५७६ मनुष्य थे; अर्थात् ५६३९ हिन्दू, ८११ मुसलमान और १२६ कृस्तान; किन्तु सन् १८८० के सितंबर में खास मनुष्य-गणना के समय १००५४ मनुष्य थे; अर्थात् ६८६२ हिन्दू, १७४८ मुसलमान, १३२८ युरोपियन, ५७ देशी कृस्तान, ६४ युरेसियन और ५ दूसरे ।

भीमौलीचट्टी से आगे १ मील पर एक झरना; १ मील पर परसौलीचट्टी पर एक मोदी, १ बड़ी पलानी और १ झरना; २ मील पर आगे बंगला की सड़क; ३ मील आगे से मैदान; ४ मील आगे चार पाँच पक्के मकान, १ सुन्दर झरना, पहाड़ी के ऊपर बंगले और पुलिस की चौकी; आगे खेत के मैदान में बड़ा झरना, जिस का पानी आगे जाकर भीमताल में गिरता है और ४ मील आगे भीमताल है ।

भीमताल ।

भीमताल करीब १ मील लम्बा और औसत में १ मील चौड़ा है । उसकी सब से अधिक गहराई ८७ फीट है । तालाब के पूर्व किनारे पर भीमेश्वर शिव का मन्दिर, ३ बंगले, १ सफाखाना और बारह चौदह पक्के मकान हैं । तालाब में पानी रोकने की दीवार और पानी निकलने के रास्ते बने हैं । तालाब के पश्चिमोत्तर १ दुकान और १ बड़ी पलानी; दक्षिण-पश्चिम १ मोदी, १ पलानी और सफाखाना और चारों तरफ सड़क है ।

संक्षिप्त प्राचीन कथा—स्कंदपुराण—(केदारखंड, प्रथमभाग, ८१ वां अध्याय) एक भीमतीर्थ है, जहाँ पूर्वकाल में भीम ने महादेव जी का तप किया था; वहाँ भीमेश्वर महादेव स्थित हैं ।

नवकुंचियाताल—भीमताल से दो मील पूर्व नवकुंचियाताल है ।

उसमें नव कोने होने से उस का नवकुंचिया नाम पड़ा है । उसकी लम्बाई लगभग १००० गज, चौड़ाई ७५० गज और सबसे अधिक गहराई १३२ फीट है । उस के अतिरिक्त उस देश में छोटे बड़े कई झील हैं ।

भीमताल से २ मील आगे छोटा झरना, २½ मील आगे और ३½ मील आगे एक एक झरना, ४ मील आगे नवचंडी चट्टी पर नवचण्डी देवी का छोटा मन्दिर, १६ कोठरी वालो १ धर्मशाला और ३ दुकानें और ५ मील आगे रानीवाग है । भीमताल से ४ मील तक कड़ी उतराई है ।

रानीवाग—रानीवाग में पन्द्रह बीस पक्के मकान, डांकवंगला और नदी पर लोहे का लटकाऊं पुल है । वहां १ नदी नैनीताल की ओर से, दूसरी भीमताल से और तीसरी गोगंगा नामक नदी दहिने से, आकर मिली है । नदी में एक सरकारी पनचक्की है । वैलगाड़ी की सड़क जो भिमौली में छुटी थी वहां वहां मिल गई । रानीवाग से पहाड़ छूट जाता है, आगे बराबर जमीन पर चलना होता है ।

काठगोदाम ।

रानीवाग से २ मील काठगोदाम का स्टेशन बाजार है । वहां जखरी काम के दुकानदार और १ छोटी नहर है और एक और टमटम वाले बहुत रहते हैं । वहां से सड़क द्वारा आगे की ओर वरैली ६३ मील और पीछे नैनीताल १२ मील है । गाड़ीवाली सड़क से नैनीताल कई मील अधिक है ।

काठगोदाम से उत्तर और कुछ पूर्व एक सड़क भोट, नीती और तपोवन होकर जोशीमठ को गई है, जिस द्वारा भोटिये लोग बदरीनाथ के देश में व्यापार करते हैं और गोरखे लोग काठगोदाम में आकर रेल पर चढ़ते हैं और वहां रेल गाड़ी से उतर कर अपने देश को जाते हैं ।

बदरीनाथ से रानीखेत, अलमोड़ा और नैनीताल छोड़कर काठगोदाम का रेलवे स्टेशन १६८ मील है । दस ग्यारह दिन में यात्री लोग बदरीनाथ से काठगोदाम पहुंच जाते हैं ।

काशीपुर ।

काठगोदाम से लग भग २५ मील पश्चिम कुछ दक्षिण और मुगादावाद शहर से ३१ मील पूर्वोत्तर पश्चिमोत्तर देश के कमाऊं विभाग के तराई जिले में प्रधान कसबा और तहसीली का सदर स्थान काशीपुर है । काशीपुर से लग भग १७ मील पश्चिमोत्तर पर्वत के नीचे कमाऊं जिले में विलिकिया है, जिसको रामनगर भी कहते हैं ।

सन १८९१ की मनुष्य-गणना के समय काशीपुर में १४७१७ मनुष्य थे, अर्थात् ८३७१ हिंदू, ६३२५ मुसलमान, ८ जैन, ७ सिक्ख और ६ कृस्तान ।

काशीपुर में एक पवित्र सरोवर, कई एक देवमन्दिर और एक खैराती अस्पताल है । काशीपुर से गल्ले दूसरी जगहों में भेजे जाते हैं और वहां मोटा कपड़ा तैयार होता है । काशीपुर में एक जमींदार राजा है ।

तराईजिला—पश्चिमोत्तर प्रदेश के कमाऊं विभाग में तराई एक जिला है । जिले का क्षेत्रफल ९३८ वर्ग मील है । इसके उत्तर कमाऊं जिला; पूर्व नैपाल राज्य और पीली भीत जिला; दक्षिण वरैली और मुगादावाद जिले और रामपुर का राज्य और पश्चिम विजनौर जिला है । जिले का प्रधान कसबा काशीपुर है; किंतु गरमी की ऋतुओं का सदर स्थान नैनीताल है । उस जिले में लग भग ५०० वर्ग मील भूमि खेती के योग्य है, जिसमें से ३०० वर्ग मील में खेती होती है ।

तराईजिला पहाड़ियों के कदम के साथ साथ लगभग १२ मील की चौड़ाई में ९० मील पूर्व से पश्चिम तक चला गया है । उस जिले में बहुत छोटी छोटी नदियां हैं और जंगलों में हाथी, बाघ, भालू, तेंदुए, भेड़िया इत्यादि वन जंतु रहते हैं । तराई का जल वायु खराब है । सन १८६१ में तराई एक जिला कायम हुआ ।

उस जिले में सन् १८९१ की मनुष्य-गणना के समय २१०८२७ मनुष्य थे, अर्थात् ११५७९७ पुरुष ९५०३० स्त्रियां और सन् १८८१ में २०६९९३ मनुष्य थे; अर्थात् १३१९६६ हिन्दू, ७४९८२ मुसलमान ३४ जैन और ११ कृस्तान ।

जातियों के खाने में १८३२० चमार, ९०२० कुमी, ८७२२ कहांर, ७९७१ वनिया, ६८९७ ब्राह्मण, ६५६४ माली, ४५०८ लोधी, ४२९५ राजपूत, २५७२ गडेरिया, २५४० कायस्थ शेषमें दूसरी जातियां थीं । जिले में काशीपुर के अलावे यशपुर एक बड़ी वस्ती है जिसमें ७०५५ मनुष्य थे ।

हलद्वानी ।

काठगोदाम से ४ मील दक्षिण पश्चिमोत्तर देश के तराई जिले में हलद्वानी एक कस्बा है । काठगोदाम से हलद्वानी की ओर चढ़ाव का मार्ग है, इस लिये रेल-महसूल चारही मील का ८ आना लगता है । प्रायः सब यात्री दो तीन आने भाड़ा देकर एक्के पर काठगोदाम से हलद्वानी आते हैं । पहाड़ी व्यापारी या साधारण लोग हलद्वानी से वैलगाड़ी, टट्टू और कंधों पर विविध प्रकार के जिन्स और निमक पहाड़ में ले जाते हैं । हलद्वानी के अधिक मकान दो मंजिले पत्थर के बने हुए हैं और टीन तथा पत्थर के तख्तों से छाए गए हैं । वहां सन् १८९४ ई० की बनी हुई वच्चीगौड़ की दो मंजिली धर्मशाला है । धर्मशाले के पास एक अठपहली दिग्गी और एक गुंजन दार मंदिर है; मन्दिर के चारो ओर उसमें लगा हुआ मेहरावदार दालान बना है ।

—०—

काठगोदाम से लखनऊ भोजपुरा जंक्शन और वरौली होकर २१२ मील और भोजपुरा जंक्शन, पोलीभीत और सीतापुर होकर २४१ मील है । अधिक लोग सीतापुर होकर लखनऊ जाते हैं क्योंकि “रुहेलखंड कमाऊं रेलवे” का महसूल प्रतिमील दोहो पाई लगता है । लखनऊ से पूर्व-दक्षिण ८३ मील अयोध्या, २०२ मील बनारस, २०९ मील मुगलसराय जंक्शन और २९६ मील विहिया का रेलवे स्टेशन है । मैं विहिया में रेलगाड़ी से उतर कर उस से १२ मील उत्तर गंगा के दूसरे पार अपने जन्म स्थान चरजपुरा चला आया ।

साधुचरण प्रसाद,

—०—

भारत-भ्रमण पांचवां खंड समाप्त ।

—०—

विशेषद्रष्टव्य ।

विदित हो कि पश्चिमोत्तर प्रदेश बलिया जिले के अन्तर्गत चरजपुरा निवासी बाबू साधुचरणप्रसाद ने संपूर्ण भारतवर्ष अर्थात् हिन्दुस्तान के भिन्न-भिन्न प्रांतों में ५ यात्रा करके भारतवर्ष के प्रायः संपूर्ण तीर्थ स्थान, शहर, और अन्य प्रसिद्ध स्थानों को देख कर और बहुतेरे अङ्गरेजी, उर्दू और हिन्दी की किताबों से आवश्यकीय बातों और ऐतिहासिक वृत्तान्तों तथा २० स्मृतियों, १८ पुराण, महाभारत, वाल्मीकिराമായण इत्यादि धर्म पुस्तकों से प्राचीन कथाओं का संग्रह कर ५ खण्डों में भारत-भ्रमण नामक पुस्तक बनाई है। इससे भारतवर्ष के भूतकालिक और वर्तमान काल के वृत्तान्त भली भाँति से ज्ञात होंगे। इसमें स्थान-स्थान पर नक्शे और तस्वीरें भी दी गई हैं।

पुस्तक मिलने का ठिकाना—

गणेशदास एण्ड कम्पनी बुक्सेलर
चांदनी चौक के उत्तर नई सड़क
बनारस सिटी ।

दूसरा पता—यशेश्वर प्रेस, मिश्रपोखरा, बनारस सिटी ।

तीसरा पता—भारतजीवन प्रेस बनारस सिटी ।

भारत-भ्रमण का पहला खण्ड छप गया है उसका
मूल्य केवल प्रेस का खर्च १।७ माल है ।

भारत-भ्रमण का दूसरा खण्ड भी छप गया उसका भी
मूल्य केवल १।७ माल है ।

ग्राहकों को कुछ आवश्यकता होवे तो बाबू तपसोनारायण
(गांव चरजपुरा, डाकखाना बैरिया, जिला बलिया)
से पत्र व्यवहार करें ।

central figure of the story ; it was the twelve plain men, as they went out two and two to heal diseases and to expel devils, that at present fascinated his imagination. He had already proved that he had imaginative insight into character and delicate precision in the drawing of attitude ; he was now trying to express the sense of joyful power and self-consecration which a common man must feel in discovering that he can deliver and save.

One morning Willie appealed to Oriane for help. He ran in by Miss Kennedy's garden gate, bareheaded as usual, and bounded upon the sill of the breakfast-room window, to appeal for Oriane's help. He wore a jacket of purple velvet so plentifully ornamented with bright splashes of paint that he almost did duty for the flowers that were out of season.

'Do you think that if you asked him, and if you came to read to him at every sitting, he would sit to me—I mean the Apostle Peter?' He bubbled over with further explanation. 'I've just a perfectly splendid conception of another Apostle. This idea has been simmering ever since I first saw him. I couldn't have the impudence to ask him myself. I've tried to sketch and snapshot him when he didn't know, and it isn't what I want. O Oriane, friend of my infancy, life-long friend, do ask that dear old man to sit to me!'

'You don't deserve it. You said nasty things about him when he first came ; you said he ought not to have come.'

'I recant ! I recant in dust and ashes—no, I think you recant in ink ; it's something else you

do in dust and ashes, but I'll do them all. I'll cleanse my double-minded heart—no, the heart and the mind cannot be the same thing—although'—with rueful face—'about the internal organs of penitents I know very little!'

'Go and tell him how much you need him. If he only knew, it would give him pleasure to satisfy you. We are all like that, more or less.'

'Most of us much less,' said Willie. 'For instance, there is nothing would give Compton greater pleasure than for me to sit to him once a week in church, but I won't.'

'You don't call that sitting "to" him; my Scotch aunt calls it sitting "under" him.'

'I should certainly feel fearfully sat upon if I had to do it.'

'But then, that is against your principles—the more's the pity.'

'I haven't got any principles. If it were made worth my while I'd do it in a minute—no, even then it would take ninety minutes. There's the rub—ninety minutes once a week. And I want the apostle to sit to me for ninety minutes half a dozen times in a week. I haven't the face to ask him to do six times over what I wouldn't do once.'

'Minus one multiplied by six isn't what you mean.'

'Well then, if you understand mathematics and I do not, it is for you to go and persuade the apostle.'

'What has that to do with mathematics?'

'All that I want is to get the right figure, and please bribe him by promising to come and

read to him every time. Poor Diana, you know, feels so wretchedly ill ; it's no use expecting her to read aloud.'

And at the mere mention of 'poor Diana's' futility Oriane's compassion caused her to go upon his errand.

She said to Mr. Ward, 'Poor Willie Latimer has no religion at all. He feels inclined to jest at our religion most of the time, and that is not very agreeable to us. But, on the other hand, it is not very surprising, because, if you will think of it dispassionately, it is only the truth of religion that keeps it from being absurd.'

'I can see a glimmering of what you mean,' said the old man, 'for I've felt inclined myself to chuckle over my neighbour's capers when he, good soul, thought that, so to speak, he was dancing before the Lord. But it only needs that we see his gyrations from his point of view and then we respect them.'

'I'm awfully sorry for Willie,' said Oriane. 'His wife is so beautiful, and she might be quite well and make him happy if she would only think so. The doctor says there is nothing the matter with her, but that she will certainly work herself into some of the diseases she is always fancying. Isn't it tragic?'

'Poor thing! there's more suffering in that than we know.'

'Yes, it's worse for her than for him ; but that doesn't make it better for him ; and he always tries to be so cheerful. I feel sure that it is because there is something wrong with our religion that he

is not religious. He said the other day that if our religion were what the Gospels represent it to have been, he'd go to church. And now he wants to put you in a picture. He wants you to sit as a model. I am sure Willie needs the money he gets for his pictures.'

Mr. Ward rose and said, 'I'll go at once.'

Before Oriane could explain that she had only hoped to make an appointment for the next week she saw him walking across the green churchyard. Willie Latimer also saw him coming and began dragging about his canvases and easels. In his big white studio he made a brilliant figure, his fair complexion almost as scarlet with exertion as his red morocco slippers. He went flitting hither and thither in his paint-splashed purple coat, the very epitome of joyful expectation.

The next day Willie again accosted Oriane. 'You didn't come to read!'

'I never intended to. You must talk to him : it will do your soul good.'

'I should shock him. I put a cork to my lips for fear of doing so.'

'You needn't be afraid. It was awfully kind of me—I gave him a thoroughly bad opinion of you to begin with, so that you can easily make friends with him now. I told him the very worst of you.'

'Goodness! what is the worst? I haven't the slightest notion which vulnerable heel your gifted tongue could take hold of me by!'

'There ought to be limits to the abuse of metaphor.'

‘It is more charitable to abuse a metaphor than a man. If you told him the very worst of me there can have been no limits to your abuse. But you ought to have come and entertained him, for I was so awfully respectful to him that I hardly dared to speak, and only said, “Hi, there ! that’s exactly the attitude I want.” Every way he turned was just the way I wanted him. He might be called a model man.’

CHAPTER XXI

A ONE-SCHOOL DISTRICT

THE dissolution took place early in December, and the General Election was to come on in January. Mosford was a 'one-school area'; and the whole community, under rival religious leaders, was agitated about its school.

There is a main line of cleavage that runs deep in the religious instincts of the human race. By it all men are divided, as we may say, into two classes—conformists and nonconformists. The one class, realising that God must be reached by some material means, hold instinctively that some particular means must be necessary to His plan of imparting Himself to man. The others hold as instinctively that, because worship must be spiritual, all means must be equally the servants of God and man in their mutual approach.

The dividing line is not apparent. A man may spend his life outside any commonly received creed or cult, and in the practice of the presence of God, invent for himself nice observances that become to him as the essence of all true religion. Again, a man may sincerely practise the most

formal of religions for a lifetime, and yet at bottom be so hostile to its forms that a touch or word reveals his aptitude for finding God as easily under another guise. The touch or word only comes in times of revival and upheaval; only then are the latent forces of these two armies felt. Even then the line remains unseen, for many men continue by accident in ranks to which they do not properly belong.

Broadly speaking, to the nonconforming mind any institution which claims some one symbol to be God's chosen means of blessing must, sooner or later, appear to be a spiritual despotism; while the conforming mind finds itself always cast back by the waves of experience upon some such outward sign as upon a barque which offers the only means of safety from an angry sea. To the mere onlooker the Christian documents seem to be patient of both interpretations; had it not been so, many more poor souls might have made shipwreck of their faith.

The misunderstanding of the motives at work within himself and his enemy characteristic of the human warrior is conspicuous in the religious warfare between these two types of Christian mind. It is seen in the conviction that haunts the mind of the dogmatist that what opposes him is a definite system, an organised party, upholding a counter-creed and eager only to supplant his 'ism' with an 'ism' of their own. The Dissenter, again, finds it difficult to believe that devotion to the form need not degenerate into lifeless formalism. A clearer knowledge of the issue between them must help

the practice of that charity by which alone man finds his highest good.

In Mosford there were now two men who were almost typical of this difference. John Compton could not even conceive of a Church which was propagated only by personal character; a society that consisted only by the inner bond of spiritual apprehension was to his mind no society at all; whereas to the mind of Jarvis Cole personal character was the only force that could be used by Divine character, and the bond of inner spiritual apprehension was the only bond that could really unite men into a society whose outward forms might be many. For Cole, devotion to the person of the Leader and obedience to the ideas which His character embodied were all that was needed to ensure the inspiration of the whole Church. For Compton, the character of the Leader was only fully expressed in a visible order, in whose divine economy human devotion to His person could alone find adequate expression.

To the conforming class belonged the old man with the beard and the considerable following of worthy and pious folk which he had gathered: these were rigid ritualists in the importance they attached to the negation of certain ritual; they were bigots in the application of their tests as a measure for divine grace. To the nonconforming class belonged by nature Miss Kennedy and the squire and his son—the first two devout souls of the Anglican Church, the other ‘an agnostic. The position was illustrated by the fact that Mr. Compton really suffered more sorely

under the laxity of Miss Kennedy and Mr. Latimer concerning his control of the school than under all the attacks of the opposition; while Mr. Cole found his own cause more weakened by the absurdities of his ultra-Protestant allies than by other forms of ecclesiastical tyranny.

Christmas came and brought no Christmas peace. At a large dinner at the Hall Compton's political sentiments found such strong expression that one or two of the neighbouring landowners afterwards discussed the danger that these fire-brand parsons were to the community, and a young man of some parts, who was thinking of seeking orders, decided that he would take to the law. Yet Compton, because he was obsessed by the notion that the opposition were only animated by hatred of his Church, thought that he had spoken most moderately. The Browns were so cold and stiff to the women of a Liberal family who commonly drove in from some distance to Mosford Church that in a little while they ceased to come. There was another absence from church, one which the present ardour of the vicar and his district visitors made it difficult for them to perceive: the unspeakable presence that we call spiritual life, which had been wont to meet the quiet church folk when they joined in prayer and to uphold the vicar and his helpers when they taught the children—this had gone away. In its place there was a fever of zeal that had much semblance of life.

Nor was the state of affairs among the

Methodists any better. There was no limit to the unkind thoughts they had got into the habit of thinking about the Church people ; and out of full hearts their mouths spoke more often and with more bitter effect than they realised. The class meetings grew hopelessly chill. The son of one of their leading men began to frequent the 'Red Cow.' The young grocer whom Mr. Cole had rescued from a life of dissipation fell back into his evil courses, none knew why. His father, harassed by domestic trouble, his small head turned by political rancour, was so rude to Mrs. Compton over his counter that she was obliged, at great inconvenience, to withdraw her custom. Ethel was wholly innocent, and indeed long-suffering ; but the Methodists laid it to her charge as a part of that unconstitutional pressure which the Church was bringing to bear on voters.

Mr. Jarvis Cole was always on the platform of any meeting held in the Liberal interest, and his wife swelled the chorus of every choir that 'enlivened the proceedings,' as the reporters said. Muriel Cole was a good singer, indeed she was one of those singers who, commonplace in every other function of life, excel in song. Her soft-throated notes were not only beautiful in themselves, but they always seemed to express a depth of soul which at no other time did she appear to possess. At this election the 'songs of the people' were a marked feature of the Liberal meetings. The Tories really suffered everywhere through having nothing to correspond to them, either in wit or in depth of sentiment. A choir,

largely composed of young men and women of the chapel, under the leadership of Mrs. Cole, attended the steps of the Liberal candidate whenever he drew near to Mosford. In the coldest wintry weather they would march, or drive in a brake, to any neighbouring hamlet, and stand for an hour in some cold barn or on marshy village green, making the welkin ring, and cheering on the village Radicals with their music. In these songs sacred and secular alternated without causing singers or audience any sense of incongruity. That magnificent hymn, 'God save the people,' pealed in the wintry air with all the appropriate fervour of prayer, when a few minutes before a ridiculous political parody had been rendered with melodramatic spirit.

One real weakness of the Church position in Mosford was that its adherents were specially eligible for certain ancient 'charities' which annually bestowed flannel or coal on the deserving. It had never been the habit of those who controlled these charities in Mosford to let their sun shine alike on Churchman and Dissenter, on the clean and neatly clad who hobbled to church and the clean and neatly clad who hobbled to chapel. Therefore it could not be presumed that those who 'voted yellow' would be assured of remembrance at the next distribution of benefits. The consequence was that, instead of adherence to the Church being connected in the mind of the Mosford working man with independence and heroism, it was associated with self-interest, which repelled the better class of workmen from the

Church. The present vicar had not inaugurated the system but inherited it, and, to do him justice, had no wish to show sectarian partiality ; but it was his duty to select the most deserving cases, and he had naturally more opportunity of knowing those among the worthy who went to Church, or at least sent their children to the Church Sunday School.

Another disadvantage to the Church was that the only school in Mosford was the 'National School,' still, as a 'provided' school, under the vicar's management. The vicar and his friends were constantly saying that had it not been for the Church, which had founded the school in 1820 and had since kept it up, there would have been no education in Mosford. As, however, the dear, innocent old squire and the women of his class made no secret of the fact that they thought the chief evils of the world arose from 'too much education for the poor,' there was a large section of working men in Mosford who had a general impression that the vicar and his school had for thirty years stood between them and the better education which otherwise might have been theirs.

'They wants nought but to keep us their servants,' said a stout ploughman to old Mr. Ward. 'There's two strapping lads of mine and three little maids. Squire thinks they'll all make good servants at the Park or the Hall—neat and trim and obedient—if they don't get too much learning.'

'I suppose, from the way you talk, sir, that you are a Liberal,' said Mr. Ward with a courteous

inclination of his broad shoulders. He stood half a head taller than the yokel.

'Naw, sir ; I've been a truth-telling man all my life, and I'll not vote yaller and tell Squire I voted blue. I'll vote blue, for I think it'll be worse for my children if I lose my place. Squire won't have no yaller folks on the estate if he knows it. Squire's a good master ; but I tells my lads to learn all they can and ship themselves off to the colonies, where they can vote the way they have a mind to.'

'You have had a good education yourself. Where did you go to school ?'

'Naw, sir ; I've no learning. There was no place for me to go to but the school here, and they teach more things now than they did then.'

'They taught you to sacrifice a great deal rather than tell a lie ! I can tell you I think that is the grandest sort of education. And if you are not a learned man you have learnt the advantage of knowledge ; you want it for your children ; and you are able to look over the edge of the one small place in which you live and to know something of what goes on in the world. Do you know, sir, I think the school was a good one in your time.'

The labourer was soothed and scratched his head with delight.

CHAPTER XXII

DUCKLINGHOE

WILLIE LATIMER, his imagination always roving amongst religious scenes and characters, his satire always levelled at religious inconsistencies, began to take an interest in the fray. A Conservative by inheritance, he had not concerned himself much with local politics until of late they had taken a religious complexion, and now he was often standing, like an idle boy, gazing with interest at the stir and excitement whenever it happened to eddy into an excited crowd. Just as no form of beauty delighted him so much as that which caught its glow from some sacred theme, so no folly amused him so much as that which was perpetrated in the name of Heaven.

‘You ought to be out, Miss Kennedy,’ he cried one day, as he ran in for a hasty cup of tea. ‘I tell you Mrs. Brown has been giving an oration in the market-place. No—you don’t believe it? I tell you these three saints of the name of Brown—fine women, as I’ve always remarked—brought to bay, before my very eyes, a set of yokels singing a Liberal hymn. Now you must know

that these very chaps had all promised, severally and collectively, to vote for the Church. When these benevolent ladies go round canvassing they bring coal and blankets to the minds of the "independent electors"; so these worthies say, "Yes, yes, ma'am," to all that they're told and all that they're asked to promise, because they mostly know by this time that the ballot is secret. Well, they had a half-holiday this afternoon, and the lilt of that Methodist woman's song is too much for them, so they came swinging round the corner singing,

For we'll beat the Tories back,
With the honest Union Jack,
And we'll purge our flag of the stain of tyranny,

and, lo and behold, the Browns! with all sorts of charitable doles depending from their skirts, so to speak. You should have seen the faces of those men when they met the clergywomen in full force! There stood Mrs. Brown, perfectly pink under her widow's bonnet, with St. Anna on one side of her and St. Theresa on the other, each in her most bewitching picture hat, bought to entrance these very fellows. Mrs. Brown made a speech there and then. I'd have given half I possess to have been able to paint the exalted look in that old lady's face when she was preaching. She used pretty tall language, that I shouldn't care to repeat, about the divinity that hedges round the Church and the attitude of the Supreme Power towards all who vote "yellow," and about the Tory monopoly of King and Flag and National Anthem.'

Next day he insisted on driving Oriane over to a village called Ducklinghoe, to a Conservative meeting, because he understood that the Mosford Liberals had arranged to assist at a Liberal meeting accidentally arranged for the same place and time. 'The time,' cried he, 'is this afternoon; the place is a triangle of muddy green sward in the middle of Ducklinghoe. There is no power in the land can prevent them both occupying the same green at the same time if they choose. It will be a case of who can shout loudest. The Ducklinghoe parson is sure to be there, and bound to keep order; and if we don't have the exchange of Christian amenities between him and our Rev. Jarvis Cole I'm out of it.'

Oriane went out to find as many of Willie's pretty children in the trap as could climb into it. The horse was a young one, more graceful than reliable. Its mane and tail had never been cut. Willie always insisted that he would not drive a horse that went to the barber's. Oriane had enough to do to hold the little ones snug in their seats in the open trap. When they got to Ducklinghoe, her office indeed was no sinecure; for she must now hold the reins while Willie made hasty sketches in a note-book.

There were few people about the green. Two men were leading away a horse that had just drawn a large waggon to a central position.

'There is the stout old vicar,' ejaculated Willie. 'He's monarch- of all he surveys, or thinks he ought to be. Now he's mounting into the waggon. See how majestically he paces its length.'

He is considering how many supporters of the Constitution it will comfortably hold. I wonder if he's got wind of the Liberal meeting yet! That sprightly cad comes from the Liberal agent's office. His eyes are too near together; he's a sharper of some sort—I see it in his eyes. He looks rather taken aback at finding the vicar and his waggon on the field. Nobody will lend the Rads a waggon under the eye of the vicar.'

'That's the sort of thing that makes me almost feel sick of our party,' said Oriane. 'Our new parlour-maid told us last night that, at the village she comes from, a small farmer, who lent his barn to the Liberals, had such a bad time of it, both with the parson and the squire, that his wife spread the story that he had been well paid for the barn and was glad of the money, though as a fact he'd not had a penny.'

'Well,' said Willie, light-hearted and judicial, 'the other side will do it when they have the power. My dear old dad does a good deal of that sort of persecution himself, and out of pure goodness of heart, for he is quite convinced that the Rads will ruin both the farmers and the labourers. Why should you let men go to their ruin if a little honest persecution might save them? For my part, I think there is a good deal to be said for the Holy Inquisition in all its branches. Now there, I've got the vicar to the life! Look at the round of his waistcoat and the business-like expression of his fat eyes! My word, look at the vicarage gate. If I'm not mistaken, there are St. Anna and St. Theresa over for a spree. I begin

to be really sorry for the vicar, for when he hears about the Rads' meeting he will think it his duty to prevent the people disturbing them; but it will also be his duty to prevent them hearing what the Rads say. He'll have a time of it! Now, the saints Anna and Theresa will be much better off, for they have no conscience at all; they will do their level best to get the Rads hounded off. Just look at the Christian tip of St. Anna's nose!

'There's a band coming in the distance,' said Oriane. 'I certainly won't hold this colt while a brass band goes by.'

Willie jumped down and went to the horse's head. 'It's an awful nuisance,' he said, smiling affectionately at his children, 'to have so many children that there is never room for the groom. It wouldn't be any fun for me, Oriane, if you were not here to testify to the truth of my sketches.'

'You'll not make many more sketches,' said Oriane. 'Here is a regular river fog arriving punctually, as usual, at three o'clock.'

Willie made a hasty effort to prop his sketch-book on the horse's neck and to draw 'the saints,' as he called them, while he murmured an apostrophe to the fog, beginning—

O Isis, mother Isis, to whom the Britons pray,
Wet blankets are not just the thing to rig us for the fray.

The fog rolled rapidly over the green, and the Liberal agent's clerk came forward, kicking a stout barrel before him. A number of villagers slouched nearer, making an obvious effort to secure a place half-way between the two hustings. Mr. Briggs,

the vicar, came over to give a friendly welcome to Willie's party, and at his approach the sketch-book was hastily closed.

'What's that barrel for?' asked Willie.

The vicar surveyed the barrel for the first time, and then said comfortably, 'I suppose we may have a few hecklers on the fringe of our crowd. I fancy they think to get a hearing by jumping on the barrel. I shan't order them off—fair play, you know, we all believe in fair play; and a little opposition adds interest. But I hear a band; our folks are coming, and the Miss Browns have suggested that we should go and meet them and head the procession on to the green with flags. That sort of thing tells nowadays, you know. You perhaps think it is not quite the right thing for "the cloth," but, as the Miss Browns say, we must sacrifice ourselves for the common good.'

He hurried off to join the 'clergywomen,' who were now unrolling small Union Jacks attached to light walking-canes. In the distance the brazen notes of 'God Save the King' drew nearer, and the fog rolled in luminous but thick.

'Now, look at that, Oriane,' said Willie. 'You see neither he nor the clergywomen have heard that the Rads are coming in force. Now, that's just typical of your whole clerical atmosphere. I'll wager a good deal every one else in the village knows, and no one cares to tell the dear old vicar anything unpleasant. The Anglican Church thinks it holds England, just as this vicar goes on thinking he holds this green.'

'I expected you to challenge him for saying so

magnanimously that he wouldn't order the opposition off: of course he has no control over the village green,' said she.

'Oh, that's just a part of his fool's paradise, poor old chap. Why should I disturb it? it will vanish soon enough.'

'Some one must be "cock of the walk" in Ducklinghoe,' said Oriane, 'and no one can bear that honour more worthily than Mr. Briggs. Every one knows he's a straightforward, honest man and respects him.'

'“Cock,” did you say? He's waddling down his walk exactly like a drake with a curly tail. But the majestic Browns are, I will admit, hens, not ducks. See them poke their crested heads this way and that to see if all their little world is following! They've got the choir-boys and all the roughs in the village, I believe. See the train go forth—our trio with banners at the head! They will wheel about and lead the triumphant host as it advances. Thank Isis! we can still see across the green. But hark, Oriane, is not that band our familiar Methodist clamour? Surely I recognise the quality of their brass! What a shock for our friends if the enemy arrive first in the moment of their own expected triumph!'

'You ought to have warned the vicar, Willie.' Oriane prudently lifted the children out of the trap and secured the sketch-book. The young horse began to fret and plunge.

The Tory candidate and his followers were expected to arrive from the railway station a mile away; the Liberal candidate, on the other hand,

was coming from Mosford by road. Willie Latimer was filled with joy for some minutes, anticipating the encounter of the two processions. 'It's rather too bad of the Rads to come up playing the National Anthem,' he said. 'It's the one good song our party have to sing, and we're all convinced it's our party song.'

Some men were laying a slant gangway of boards to make an easy way into the waggon. From the misty precincts of the cottages which skirted the green, men, women, and children began to emerge hesitant, sidling along with non-committal faces. A boy suddenly ran out from a hedge behind Willie. With the frankness of youth the boy declared that he belonged to the Liberal procession and had cut across a field to herald their near approach.

'I don't understand it,' cried Willie. 'I can't make it out; for here come our friends certainly—the waddling drake and the hens, with their flags waving, and the schoolboys of Ducklinghoe in battle array. Here they come triumphant, singing at the tops of their voices, and not a Rad in sight, not a creature to challenge their monopoly of flag and anthem. It's too bad if the Rads have turned back; I've brought you out for nothing; we can see the Christian exultation of a few familiar Tories at home.'

For a moment more he grieved, and then he cried, with a little shriek of delight, 'Oriane, I vow they've all got mixed in the fog!—that's certainly the Methodist woman's voice.'

The schoolboys marching after their vicar, had

put quite an interval of fog between that worthy gentleman—who, as Willie remarked, was flanked by a flag-waving lady on either side—and the visitors. As the procession came up the vicar ascended the waggon, while each of the Browns, by a pre-concerted signal, led off half the boys, filing in a triumphant circle around the goodly red vehicle. Some straggling followers and the band, with their instruments, naturally stood aside, and then, to the astonished eyes of those assembled on Ducklinghoe green, the Mosford Methodist choir in full song, and the Liberal candidate, calmly ascended the waggon so evidently prepared for their reception.

It was obvious to any unprejudiced spectator that the Methodist band and the Liberal orators, absorbed each in their own part of the performance, were quite unconscious of the nature of the vanguard which had joined itself to them, nor did they suspect that the improvised platform to which they were led was not intended for them. A few moments more made the sentiments of their opponents also, alas! quite obvious to any spectator. The same enthusiasm which had caused the Miss Browns to mistake the first procession they met for their own party, and thus to lead the good and short-sighted vicar into a vast error, now prevented them from seeing the simplicity of the mistake and the simple humour of the situation. A laugh on both sides, a word of friendly explanation, and no dignity would have suffered. Instead of this, Miss Brown, who was standing on the ground on that side of the waggon that Willie and

Oriane could see, caught sight of the face of an arch-enemy in the person of the Methodist singer, and began explaining the matter to the poor vicar, who stood just above her, crowded into the front part of the waggon. Her explanation was incoherent with fury. She saw deliberate trickery in the mistake. In a minute more her sister was to be seen at the back of the waggon, demanding in shrill tones the exit of its still jubilant inmates. Those to whom she first spoke were not Mosford people and did not know her; and when the Mosford people observed her behaviour, they naturally did not recognise her authority. The band was still playing; the singers were still singing at the tops of their voices, intent upon attracting the attention of Ducklinghoe. The candidate was preparing his notes for an oration; his immediate bodyguard were rapidly arranging a programme. The unfortunate vicar found himself eclipsed from the sight of all the waggoners by Mrs. Jarvis Cole, who, in huge picture hat and feather boa, stood in front of his corner, still exercising her function as choir leader. She had her back turned to him and so did not even see him. Although Miss Brown had already imparted somewhat of her fury to him over the waggon edge, he still essayed with self-control to demand of his neighbours an explanation. None heard his voice; the broad back of a woman penned him in; he rapidly conceived the idea that the whole affair was a deliberate plot, and that the huge woman in front of him had been placed there to hide his body from view and drown his voice

with her lusty song. Had the leaders of the plot been decent enough to confront him with a man he could have pushed him aside: hidden behind the back of a woman it was impossible to maintain clerical dignity.

The acting Liberal agent, in the meantime, had left his barrel and rushed forward to explain matters to the candidate; but the cordon of Church defenders skilfully posted round the waggon by the Miss Browns, recognising in him only an enemy, beat him back, and he was quick enough to allow these rabid young Tories to defeat their own ends. His mean eyes sparkling, he capered away from them as if in abject fear of their insults and missives.

But if the vicar of Ducklinghoe could not assail Mrs. Jarvis Cole, or even arrest her attention, Miss Brown could assert his sacred rights from the ground. Agile in her anger, she sprang upon the axle of the wheel, and, clutching the waggon-side with one hand, she demanded Mrs. Jarvis Cole's attention with her umbrella. The action of the umbrella might have been called a poke, or it might have been called a blow; but in any case it caused an indignant *volte-face* on the part of Mrs. Jarvis Cole, while she still had sufficient presence of mind, as leader of the choir, to finish the last strain of her song. Mrs. Cole's responsibility as choir leader naturally did not occur to Miss Brown, who felt, as she afterwards phrased it, that it was profane of that vulgar virago to shout 'God Save the King' in the very face of the vicar of Ducklinghoe.

The instant the song ceased Mrs. Cole on her side found words to express her view of the situation. She said in a loud, deliberate voice, 'If those who ought to know better—calling themselves ladies too—can't keep their tempers better than to strike us with umbrellas, we shall have the Tory mob throwing stones in a minute!' She pointed out Miss Brown. 'She began beating me from behind with her umbrella!'

'Madam, she did nothing of the sort,' said the vicar. 'Your words are a slander. Are you aware that you and your friends have no right whatever in this waggon?'

Mrs. Cole looked at him with infinite disdain. 'I am not aware of that, sir,' she said, which was perfectly true, but it appeared both to the vicar and Miss Brown to be the wickedest thing she could have said. What coarseness there was in Mrs. Cole's nature was roused. Her speaking voice was not sweet but loud, and she used it with oratorical effect. 'I suppose,' she continued in loud and withering tone, 'that you think we have no right on the village green, or no right to breathe the air of Ducklinghoe or even to stand under its sky!' Her singers around her emphasised her jeers with a defiant titter.

Now this was the more offensive to the vicar and Miss Brown, partly because she had stated what in the depths of their souls they really did think, and partly because, with her feathers and furbelows, she was still penning the vicar into an ignominious corner. Miss Brown made a gesture of wrath almost wordless. She indi-

cated the vicar and gasped, 'Let the parish priest speak.'

Mrs. Jarvis Cole now turned full on the vicar, recognising him for the first time, and pointing to Miss Brown's umbrella, she inquired, 'Do you encourage free fighting in Church defence, sir?'

The vicar began to try to assert his rights over the waggon by waving his hand to dismiss its occupants, and Miss Brown was heard to use the words 'infamous' and 'profane.'

But by this time the attention of the Liberal speakers was riveted on the younger Miss Brown, who, at the back of the waggon, had come into violent altercation with the bandsmen. Every one in the waggon was now under the impression that the Miss Browns were the ringleaders of an ill-mannered and concerted attack on the Liberals. Mrs. Cole, commonly a serene, bovine sort of woman, became rapidly infected with the growing excitement. She had been aware a moment before of being somewhat violently disturbed by the end of an umbrella; she was now convinced that she had been thumped by it. The Liberal candidate, who had not yet caught a glimpse of the vicar, thinking the only way to quiet the mob was to engage their attention, began his speech, raising his voice in an energetic harangue which silenced all other voices and riveted the attention of the crowd.

Willie Latimer, in an ecstasy of interest, had led his pony nearer and nearer to the waggon. The colt in its restlessness had knocked off his hat, and holding the animal with both hands, he

stood looking from one face to another, absorbed in each turn of countenance, in the flash of anger and flush of excitement that appeared on every face. Although the fog grew wetter Oriane had some difficulty in recalling him to the necessity of going home.

When they were driving along in the gathering shadows of the early winter evening, between hedges that dripped under the silent fog, Oriane felt ruffled by the incidents of the afternoon. 'It hurts my dignity,' she said, 'to see people who are worthy and full of good intentions carried by those very intentions into bad actions. The behaviour on both sides was bad and will lead to worse.'

'Truly,' said he, 'the false witness they will bear about one another will be appalling. I wouldn't have missed this afternoon for the world.'

Not far from Ducklinghoe they met the belated Conservative procession. Willie had to hold the horse while the band passed, their instruments looking fantastic in the mist. They were not playing, but hastening their steps to recover lost time. He hailed the candidate, a personal friend, as he passed, shouting that the Rads had stormed Ducklinghoe and were in possession of the place.

'You have only added fuel to the fire,' said Oriane severely. 'You ought to have explained the mistake.'

'It's too late,' said Willie. 'They will none of them listen to explanation now; but it will be rare to hear the tales they will tell! There is

nothing more picturesque than the things people see and hear when they are excited—things that have no more existence than the rats and spiders of “d.t.”

‘But the difference between you and me,’ said Oriane, ‘is this—if I heard of a respectable neighbour having “d.t.” I shouldn’t enjoy it. I don’t see how you can.’

‘I don’t see how I can help enjoying the umbrella and the feather boa,’ said Willie. ‘Neither can you.’ He bubbled over with laughter, and Oriane laughed in spite of her better self.

CHAPTER XXIII

STRONG DELUSION

DURING these days Ethel Compton was very unhappy. The keen party spirit which had hitherto pleasingly animated many an otherwise dull passage of her religious and social life was now at war with her new, overmastering desire to satisfy Mr. Ward by her own behaviour and to display her husband and his parish in an aspect calculated to win his respect. All things within and without seemed to contend against her purpose. In girlhood she had had to wear eye-glasses to correct the natural defect of short sight. She remembered vividly how she had at first been afraid of stumbling and fumbling in her dealing with all objects that had not before come within her short range of sight—so unfamiliar did her world appear. In the same way the judgment of old Mr. Ward's gracious heart was now put before her mind's eye many times a day. As she learned to focus her sight to it she shrank from what she saw, and at first became more and more afraid to act on her new power of vision.

The story of the quarrel at Ducklinghoe was

the first thing which pushed Ethel from the contemplation of her new purpose to its active pursuit. The next morning found her in Miss Kennedy's drawing-room.

'Have you heard what happened yesterday at Ducklinghoe? Cumnor has gone to a meeting at Leicester; I don't know what he will say when he hears of it. You know'—she drew her chair a little nearer to Miss Kennedy's and lowered her voice—'Mrs. Cole, the Methodist minister's wife, positively used bad language to Miss Brown. Miss Brown had just touched her with her umbrella to draw her attention because the vicar wanted to speak to her, and Mrs. Cole's behaviour passed all the bounds of decorum. I feel dreadfully distressed about it; the mere fact that the Coles belong to our parish makes it discreditable to us.'

'Perhaps Miss Brown did not understand; I hear the Browns and the vicar made a very awkward mistake and joined the wrong procession.'

'It was a decoy! They were actually flying our flags and singing our songs in order to get possession of the platform the vicar had had put up. For no one in Ducklinghoe would have lent a plank to the Radicals; they are all staunch for the Church there. But, Miss Kennedy, it is not the election I am thinking about; it is the scandal. Do you think I could do anything to smooth it over?'

'I think you have got the story wrong. Our gardener tells me that when the Conservative candidate did get there, the crowd for the most part sided with the Liberals.'

‘The Browns have been telling me all about it. They would have had a splendid meeting had it not been for this mean trick. They say that the Nonconformists were not straightforward, that they took advantage of them—which seems certainly to have been the case—and then said what was not true about it. Of course I can’t judge of party tactics, and of course I know how bitterly the Coles hate us; but I do feel that a personal quarrel with Mrs. Cole appears disgraceful, even though Anna Brown was not at fault. What do you advise me to do?’

‘Perhaps, if you had already made Mrs. Cole’s acquaintance, you might call and hear her side of it; but as you have never been in her house, I don’t see what you can do.’ Miss Kennedy naturally did not hope much from Ethel’s intervention.

‘It seems to me very shocking,’ said Ethel; ‘although we know wrong religious principles must lead to wrong action sooner or later, and we ought never to be surprised if people who seem fair outwardly fall suddenly into the worst faults, when their very religion itself has an evil tendency—yet I cannot help feeling that this quarrel is a disgrace.’

Miss Kennedy was amazed to see tears in Ethel’s eyes.

She said afterwards to Oriane: ‘If you had been here you might have given your testimony against the Browns, but I was afraid to say much. Ethel’s general attitude to the Coles would be so offensive to them if she betrayed it that at this

juncture I felt the best way was to soothe her and keep her quiet.'

Later on Willie Latimer came in to see Miss Kennedy. He said : 'I felt I must hear the Methodist tale, so I stopped Jarvis Cole on the station road this morning. He wasn't at Ducklinghoe, you know. I got him to be open by saying I was there myself and saw that there had been a misunderstanding, and I asked after his wife. The gist of his story is, first, that the vicar of Ducklinghoe says now he didn't know the Liberals were coming at all, which, says Cole, is absurd ; he must have known. Secondly, when they got there the vicar led the way into a large waggon that had been provided as a platform ; and, having got them in a trap, he and his friends tried to rouse the crowd to refuse them a hearing. Cole added that if their candidate were not so scrupulous to behave as a gentleman these tactics might have succeedēd, but the people believed his word when he said it was a pure mistake, and he got the best part of the crowd round him in the end, though he had to speak standing on a barrel. Cole added darkly that he wouldn't say what treatment his wife received from some of the Churchwomen of Mosford. "Oh, but do tell me exactly what happened," said I ; "I've always admired Mrs. Cole's singing so much, and I'm sure to hear the other side of the story, you know." So at that he went deeper into the philosophy of events, and said that, to tell the truth, nothing had happened but what was consistent with the way in which Church defence was being

carried on generally. It seemed at the first glance very astonishing that a lady in Miss Brown's position should so far forget herself as to strike another woman in public ; but, having thought it over, he felt sure that the explanation was to be found in the fact that when really good people give themselves up day after day to upholding injustice and tyranny, an evil spirit takes possession of them, and they really are, for the time being, beside themselves ! I must tell Compton that he must practise exorcism on the Miss Browns ! It is a case for bell, book, and candle evidently ! I said, in my most sympathetic manner, that I sincerely hoped Mrs. Cole was not seriously hurt. He said, "Oh no ; nothing serious. Certainly her arm was very stiff and sore and had a great blue mark across it ; but that is nothing, and we have agreed to say as little as possible, because of course my wife is a favourite with the people, and Miss Brown might be mobbed if the facts were known ! ""

'Now, Willie, you are drawing on your imagination.'

'So far from that, I have simply given the dry bones of his talk.'

'I am sure he would not tell a deliberate lie, and her arm can't be blue.'

'Oh, she felt convinced she was hurt, and the symptom arrived to match the conviction ; it is a common result of nervous excitement.' Then he sheered off the subject and rattled quickly on, vexed that he had, for once and by accident, admitted that he was familiar with the phenomena of such hysteria.

Because of their great pity for him and for the beautiful wife who was always conjuring up dire symptoms, Miss Kennedy and Oriane let him rattle on, and were themselves carried away by his gaiety.

CHAPTER XXIV

THE VICAR'S HOLIDAY

THE days of the General Election passed over, with the tremulous looking for returns, and the bitter disappointment and the glad triumph that they brought. For a few days Compton was almost stunned by the enormous Liberal majority. He believed what his party papers had said, that every Liberal was at heart hostile to the Church; and the Church for him represented the whole interest that God had in the nation. With the help of his newspapers he began to revive, being reminded that governments with unwieldy majorities did not last long, that the majority of voters would soon come to a better mind and be ready to reverse the wicked judgment they had given. What above all calmed him and renewed his hope was a trumpet-call in the Church weeklies to begin an agitation against the Education Bill which the new Government were about to bring in. The year was hardly well begun before the sense of defeat was lost in the courage of renewed warfare.

Every one, in speaking of the vicar of Mosford,

said what a good man he was. His piety was of an eager, practical nature. His theological training had imbued his mind with the doctrines of the visible Church and the apostolic priesthood as held in the Anglican Communion; and because these doctrines were imperfectly understood by almost every one in his parish, he had come to dwell upon them more than upon other doctrines in which he believed. His life was rich in the gift of himself to the Church, and his zeal grew year by year more lusty.

Mosford was a lonely place, and Compton had certain differences with his clerical neighbours, especially with him of Ducklinghoe, which had made him feel terribly alone. Now they were all drawn very close together by the agitation about the schools, and that companionship was in itself more cheerful. The vicar of Ducklinghoe had arrived at his view of the matter by honest inheritance of class prejudice; Compton had arrived at the same view by doctrinal argument. The majority of men are not half so good, and are no better informed, than were these rural priests, and they are not exposed to such cruel and subtle temptations as must always assail men set apart to be the successors of the Apostles.

Compton was already in touch with the larger clerical mind on the Education question; he had himself written letters to *The Church Chimes*, and of late he had composed paragraphs for his parish magazine warning his flock against the wickedness intended by the sects. His magazine had influence

because his self-denying toil was obvious. His parishioners knew that he was the first to welcome the new-born babe, the last to kneel by the dying; he was constantly among the children, and when they coughed he gave them sweets. These things sink deep into the heart of the common people; they believe such activities to confer a divine sanction on a man's words. Yet there was no one in the parish who suited him as a companion. For this reason it was a rare delight for him when a large meeting of the clergy of three counties was called to consider the new Education Bill. No one who has not lived an isolated life inspired by a great idea, yet feeling scarce a touch of corporate excitement, can conceive Compton's exhilaration when, in a great fraternal meeting, he felt his heart beat in unison with hundreds of other hearts, and joined his voice in a chorus of voices in cheer or song that had but one motive and conveyed but one thought.

The gathering was a successful one. Most of the sentiments expressed would not have been arrived at by any one man of them alone, nor would the meeting have arrived at them had not every member of it been receiving cumulative mental impressions from the religious and secular party press.

When Compton was returning, Jarvis Cole was in the railway carriage with two little daughters. There were also two market women and a stout old farmer. Cole offered Compton an evening paper. Compton that evening would as soon

have touched a red-hot poker as have received a courtesy from one of the enemies of Christ—that was, in substance, what Dissenters had been called by his comrades that afternoon. In his rigid gesture of thanks his feeling was more clearly expressed than he was aware. The soft eyes of Cole's little girls grew hard with dislike as they gazed at him. The market women, when Compton was not looking, nudged one another, and one of them gave apples to the children. Compton, quite unconscious of the offence he had given, was buried in a reverie concerning the afflictions of the militant Church and the certainty of ultimate victory.

They all turned out on the platform of the junction. It was already growing dark, and none of them noticed that among the travellers already waiting there was the Bishop of Elminster. He was a small, thin man, with a wonderful force of spirit in his withered old face. He had a way of getting himself into corners where he was overlooked; but those who knew him said he never overlooked any one or anything that came within the range of his keen intelligence. Compton strolled down the platform one way, Jarvis Cole and his children the other. Cole was not an ill-natured man, nor in the habit of magnifying small things; at any other time he would not have given Compton's stiff behaviour a second thought. Just now the air was charged with ill-feeling. In this atmosphere Cole felt that the civil offer of his newspaper was the utmost bound to which his charity could extend, and that he might jeer at

the result. On the platform he found The man with the beard in conversation with a farmer of 'Liberal views.'

'Look at this !' said Cole, holding up his paper, the *Evening Standard*, for inspection. 'The Liberal papers were all sold out at Reading, so I had to buy this rubbish. When I had read it, in comes our vicar, so, as it was suited to his palate, I offered it to him. Well, what do you think !'—Cole's eyes sparkled—'he wouldn't read his own party jargon because it had been in my hands.'

'No ; that he wouldn't,' said one of the market women, who had listened with glee. 'Ye were dirt beneath his feet—I see'd it in his face.'

The man with the beard became tense with indignation. He said in a slow, vibrating tone, 'It is their policy just now to try to bring us into contempt with the people by insulting us in every public place !'

The moment The man with the beard spoke Cole felt inclined to mutter, 'What rot !' but in warfare sympathy, even of fools, is grateful, and he made no protest.

The story of ill-treatment was fast hatching itself into an evil thing with swift wings when Cole felt a slight touch on his arm from a little old gentleman who could not pass until the group gave him room.

'I heard you say, sir, that you had a copy of the evening paper. I should be much obliged if you would allow me to glance over it.' The well-bred intonation of the voice, its perfect gentleness combined with what seemed a tone of accustomed

authority, a shovel hat, and a pair of thin little birdlike shanks in gaiters, revealed the Bishop.

'I have read it, sir. Do not trouble to return it, sir,' said Cole. For the life of him Cole could not have helped saying 'sir' twice in one short sentence, although, when the little dignitary had taken the paper and trotted past, Cole took occasion to explain to The man with the beard that he honoured the Bishop as a great scholar.

The Bishop slipped down the platform till he stood at Compton's elbow, and with kindly small talk elicited from him some description of the meeting from which he was returning.

'These big meetings that are called successful are dangerous places,' said the Bishop. 'A crowd is a powerful engine for generating passion; and there are only two passions in this world—love and hate. When you came out of your meeting, did you love God or man better than when you went in?'

Compton said, with some hesitation and with some dignity, that he had certainly received a strong impulse to love the right and to do the works of righteousness.

'An abstraction from the concrete,' said the Bishop. 'Whom do you love? If one of your fellow-churchmen turned Radical, would you love him to-day? If Jesus Christ came to you disguised as a Dissenter, would you love Him to-day? If the children in your school took to shouting Liberal songs, would you bless them? Men come out of these meetings hating a good many people more than when they went in, and they don't love any real person a bit more.'

The Bishop's keen, aquiline manner was like a dash of cold water on Compton's glowing heart. He was bound to listen, but in no mood to believe. He answered that if the facts were candidly considered, it would be seen that he and his fellow-clergy were not given over to that animosity and spite in which the Nonconformists were banded together to destroy the Church.

'But, indeed, Mr. Compton, I never heard that the Pharisees were welcomed into the Kingdom because they were a little better than the Sadducees.' When the Bishop had said this he unfolded his newspaper.

Compton's heart swelled with indignation, even while he reflected that it was his duty to examine himself and make sure that there was in him no ground for the Bishop's warning.

When he left the train he had a walk of a mile in the winter darkness. A storm broke suddenly with a bluster of hail, and he was forced to seek shelter at the door of a Dissenting workman whose marriage with a young Churchwoman had been a trouble to him. He stood in the porch while she, now a buxom young matron, begged him to enter. The man was not in. Compton thanked her, but said he would respect her absent husband's feelings, who, he supposed, would have no welcome for him.

'My husband's the kindest man, sir. None ever said a hard word of him but you. He'd welcome any dog out of a storm.'

Compton remembered the Bishop, and felt the call of duty. Humbly as a dog he took a seat by the fire. 'Yet,' said he, 'I cannot be here, Mary,

without asking you why you have lately absented yourself from church?'

'Well, sir, if you'd keep from saying ill of Jim and the people he belongs to, I'd come to church as I've always done.'

'I have said no ill, only the truth. It is your husband who bewilders you with false opinions. Ah, Mary, I warned you how it would be before you married; and now both you and your children are being drawn away from church.'

She held by the back of a chair, standing respectfully. This man had prepared her for confirmation, buried her parents, baptized her children; he represented all the sacred memories of her past, and with trembling voice she stated her trouble. 'You said in the magazine, sir, that Jim and his people were lusting after the property of the Church——'

'I said that the Dissenters were lusting after it. If the description fitted——'

'No, sir; it doesn't fit. What you say of Dissenters you may say of Jim and his people, and it isn't true.'

'I am glad if Jim and his family are better than their sect.'

'No, sir; they are no better—that's not the way any of them feels. Jim's old father is a "resister"; and you are saying that they hate all true religion and law and order—that isn't true.'

'I have no personal feeling against these people, Mary; indeed I do not myself know them; but I have spoken on the authority of those who do know them. It is confirmed by what I heard a

very well-known bishop say only to-day, and I could show you, any day, evidence of what I have said in the newspapers.'

'I don't know who write the papers, or what sort of a man that bishop is; they're not all like our bishop, who wouldn't hurt a fly, Jim says; but if you could show me what you say in the Bible I couldn't believe it.'

'No; that is just the sad fact, Mary. You were a good girl once, and loved your Church; but you dallied with temptation when Jim courted you; you yoked yourself with an unbeliever, and now——'

'Jim isn't an unbeliever; he believes in the Bible just as much as you do, sir; and you can't say he hasn't been good and often come to church with me, and let me do as I liked with the children—if he is a Dissenter. But now I've taken the children from school myself, and I won't go to church any more.' She was growing angry.

He was indignant, but he spoke in a way he thought gentle. 'I cannot dispute with you, Mary. I was about to say, when you interrupted me, that you have dallied with error until, as you say yourself, you cannot believe the words of Scripture.' He took the Dissenter's Bible from the shelf and pointed her to the words, 'He that climbeth up some other way, the same is a thief.' There were tears in his eyes, although his manner had elevation, while he reminded her that she had once known their proper meaning.

When he was gone, the woman, frightened by the sacred words, lost her self-control and began

to sob, calling her absent husband by endearing names. Her two little children, who had been listening, came creeping in their night-clothes down a ladder stair. They understood nothing more than that the vicar had in some way hurt their mother. While her eyes were covered they clenched their little fists at the door whence he had gone. The Bible had fallen upon the floor, and the eldest boy, knowing that it had been, in some way, part of the offence, privately stamped upon it with his small pink foot.

When Compton got home, very weary but uplifted in heart, he told Ethel, as was his wont, all that had happened to him during the day. He was more surprised than words can say to find that his account, especially the last part of it, gave her pain. She sat silent, with burning cheeks, and at last burst into tears.

She also was weary by reason of her bewilderment. The hope of £6000 a year was a great eye-opener; she no longer approved her husband's course. Yet when he begged to know the cause of her tears she did not at first explain it.

'I do not know what is the matter,' she cried. 'I am only foolishly depressed.'

But when he had accepted this explanation and was going on to speak of other subjects, she suddenly raised her head and said vehemently :

'Cumnor, you ought not to have spoken to poor Mary like that.'

'My dear, I have told you I said no more than was necessary to show her——'

She interrupted hotly, 'You may depend upon it you showed her nothing—nothing—but that you were a hard man, and that her husband was dearer to her than she ever knew before. I am a wife, and I know. She will join the Dissenters, and it will be your fault.'

BOOK IV
THE WILL AND THE WAY

CHAPTER XXV

WHERE THERE'S A WILL

THE passion of tears to which Ethel had yielded over the open altercation with her husband, had cleared her mind. She no longer halted. Timidity and hesitation were over.

The next day, armed with a little frock she was making for one of the children, she went to sit cosily in Mrs. Ward's parlour. She was aware that in the friendship she had now to cultivate there was some back way to make up ; but, apart from that, she supposed her gracious companionship to be entirely desirable from Mrs. Ward's point of view. The old people had always been as pleasant to her as if she had not neglected and affronted them in many small ways. Till recently she had taken this to mean either that they were unobservant, or that their motive in wishing to be on good terms with her was so strong that they were not to be repulsed. Now that she knew them to possess the power of wealth she did not find these former explanations tenable.

She could detect no suggestion of restraint or offence in the old couple's welcome that day. No

allusion was made to the fact that until that afternoon she had been almost a stranger in the house. At last, bewildered by this treatment, Ethel herself opened the subject.

‘You know, Aunt Ward, I did not realise at first how good uncle is! You will think me very stupid, I know, but I believe I am usually slow to make new friends.’

The old lady, who had been examining the contents of her own work-box, now displayed two bits of hand-made embroidery. ‘I think, dear,’ she said, ‘that either of these patterns would finish off that little frock. Will you let me measure and see which is the best length?’

‘Oh,’ cried Ethel, ‘how exquisite your taste is! It would look simply lovely. But no—you are too kind; I won’t take it. I do not deserve it, and my children must learn to be simple in their tastes. Do you know, uncle,’—she looked up prettily at Mr. Ward—‘I believe aunt would quite spoil me if I had time to come here often enough!’

The old man looked down at her indulgently. ‘It is never kindness that spoils us, my dear, but something in ourselves which turns kindness into an excuse for pursuing the highest things less strenuously.’

Ethel grew grave. To her mind the old man was too ready to talk about the highest things, and it seemed to her impossible to discuss them with him. In her anxiety not to show her disapproval, or to incur his, and to steer him off a religious subject, she said, ‘I try to teach my

children not to be lax in anything—that they should be earnest and active’—and she added hastily—‘in all things.’

The old man chuckled. ‘I think I’d let them relax in some directions,’ said he.

Ethel was one of those good women who suspect the laughter they do not comprehend of implying either a jeer or a sneer. She flushed eagerly. ‘I thought you believed in the strenuous life, uncle?’

‘Burglars, ballet-dancers, and bricklayers are all strenuous,’ said he; ‘but a ballet-dancer, for instance, might be allowed to be lax in the matter of cooking dinners.’

‘Not if it were her duty to cook her husband’s dinner, surely?’

‘He’d be a brute if he did not sit down in a corner contented with a Belony sausage.’

The old lady interposed soothingly, ‘He only means that a bricklayer might be excused from cultivating his talent for music, even if he had one. Leave him to his odd ideas, my dear, and trim the little frock.’

Ethel was accustomed to have all her moral remarks received seriously, especially by those who lived in a humble way. With a confused feeling, as of losing her feet in water, she strove to gain some moral ascendancy. ‘But, uncle, I don’t see what that has to do with my little girls.’

‘I do not really think it has anything to do with them. Has the little one planted the rose-trees yet?’

‘Yes. How kind you were to bring them!’

I am so anxious that my children should be fond of gardening. I think it is such a refining occupation.'

'It is fashionable at present!'

'Oh, I should never consider fashion in a matter of that kind!'

'They are as nice chick-a-biddies as I ever saw,' he said.

Ethel became aware that neither of these old people cared to know whether she regarded fashion or not. In the wake of this suggestion came another—the suspicion that, in spite of their kindness, they were bored by her moralities. Then the idea that their kindness proceeded from hearts which could not be other than kind, and had no reference to her charms or deserts, began to haunt her mind. The idea was repugnant to her. She could not clearly realise it or believe it; but as far as she did so she was spurred by it to desire the more to make her worth known to the old couple, for she supposed that only by so doing could she secure their settled favour.

The missionary enterprise which had been discouraged by Miss Kennedy recurred to Ethel's mind; if she could persuade Mrs. Cole to repent and confess and be reconciled to the Browns, what a good deed it would be! Every one would be happier if some of the parochial animosities were thus healed. God must be pleased and the Church benefited by such an act. The Wards would certainly be delighted, and they could not then fail to understand how hard she was trying to do right, and how high her ideals were. They would

respect Compton, too, more if this effort for peace came from the vicarage.

That night Ethel said to her husband, 'From the point of view of Christian love it is a great pity that Anna Brown and Mrs. Cole are so angry with one another. I am sure it is the sort of thing that will make your uncle feel that our religion is not worth much.'

'Has Oriane been disturbing your mind again on the social question? We must all admit that all ill-feeling is wrong. The question is, what is ill-feeling? Uncle Ward, I fancy, would have thought our blessed Lord in the wrong when He denounced the scribes and Pharisees; but we cannot think so.'

'But we were only discussing Anna and Mrs. Cole,' said Ethel.

'It seems clear that Mrs. Cole told some very ill-natured lies about Miss Brown,' said the vicar. 'Unless she repents and confesses the wrong, I cannot think that the Browns are called upon to seek her acquaintance.'

Ethel was thinking of the tact and courage that would be required in her mission, while she said, 'No; of course what you say is true, Cumnor; Anna cannot take the first step. Yet I think your uncle is right if he considers it hardly desirable for two Christian women in the same town to be at open enmity.'

The phrases 'Christian love,' 'Christian women,' struck Compton as imported from Mr. Ward's conversation. 'Well, you don't suppose I think it desirable?' said he, nettled. 'Really, Ethel,

the common duties of tolerance and Christian love were not first proclaimed in this parish by my uncle !'

He seldom spoke in such an angry tone. She was wounded. 'Did I ever say they were?'

'No, not in so many words ; but one would think——' The vicar stopped. The inward conviction that he was surly did not at the moment put him in a better frame. He left her abruptly.

CHAPTER XXVI

MRS. COLE ON MISS BROWN

AFTER much thought and, let it be said clearly, much humble and earnest prayer, Ethel started on her mission to Mrs. Cole. The training which years of parish work had given her enabled her to speak and act on her convictions as people who have not had such training cannot easily do. To give addresses at mothers' meetings and girls' clubs, to lecture choir boys and direct the domestic arrangements of the poor, had become easy by long habit. All these activities required the courage, tact, and patience that she was prepared to call to her aid as she stood at the Cole's door. The duties of her position, however, had not taught her to see herself as others saw her. That was one experience that she was not prepared to meet. She entered the house buoyed up, not only with faith and determined good-humour, but with the conviction that, present strained relations apart, her religious reputation and social rank must make her a most welcome guest.

When Mrs. Jarvis Cole came into the room Ethel was looking at various pictures and books

in quite a little ecstasy of surprise and admiration.

The greeting over, she cried, 'I have been looking at your beautiful things until I hardly know where I am.'

Mrs. Cole's response was dry. 'You are in Mr. Jarvis Cole's dining-room.'

'If you had been buried in Mosford as long as I have, you would understand my delight in finding such a room as this.'

'I should have supposed there were more beautiful things at the Hall or at the Park.'

Ethel gasped at the bare idea of such a comparison. She could not see that her air of surprise had been patronising; she only thought that Mrs. Cole was in a bad temper. There could not be any amiable beating about the bush.

'You are perhaps busy, but when I explain why I came—if you will have the great kindness to listen with patience—I am sure you will not blame me.'

'Will you sit nearer the fire?' asked Mrs. Cole.

'Thank you; it will be more cosy. Mrs. Cole, I have been thinking long and very sadly about the unhappy differences that have arisen amongst us. I am sure you must feel as I do.'

'It is unfortunate.'

'Oh, Mrs. Cole, are we not all too liable to blame fortune for what may perhaps be in part our own fault? One of the cottagers told me the other day something Mr. Cole had said in one of his sermons. I was very much touched by it.'

‘What was it?’

‘It was old Grantham told me. He said that Mr. Cole had explained to them that it was not enough to sing hymns and utter prayers, but that true religion requires us to live in simple truthfulness and perfect love with every one. I thought it so beautiful.’

‘Mr. Cole preaches in that way twice every Sunday. Is the idea new to you?’

Ethel’s cheeks flushed, but she succeeded in a little laugh. ‘I did not mean that I thought the sentiment very original, but beautifully expressed. Of course I have not attempted to reproduce the language.’

‘I should hardly think old Grantham capable of reporting Mr. Cole’s language, but I am glad you liked what you heard.’

‘It is the idea that truth and love must be at the bottom of our relations to one another that I felt to be needed by us all just now. If the differences amongst us arise from a lack of these, surely we may seek to surmount them.’

Ethel’s musical voice and pretty pleading began to atone for her first blunder. Mrs. Cole opened her mind. ‘Well, I am sure if you really want to get to the bottom of things and make them better, I’ve no need to object. Mr. Cole and I both think that party feeling is a very bad thing.’

‘It will be easy if you really think that,’ cried Ethel with a note of joy.

‘What in the world did you suppose we thought?’ asked Mrs. Cole, but not in her first dry tone.

'I don't know,' said Ethel pleasantly. 'I don't know, Mrs. Cole, exactly what I thought, only it seems to us——' She paused.

'I should be glad to do my very best to help you ; but if it seems to you that we do not understand the first principles of Christianity—after all the good work Mr. Cole has done in Mosford—I'm afraid it isn't a very promising look-out, is it?'

Ethel could not conscientiously admit that Mr. Cole was a Mosford benefactor. She looked with grave, childlike eyes and said, 'It seems to me, Mrs. Cole, that in the healing of this bitter feeling we must each do our own small part. The question for each of us is, "What is my part?" If we would each conscientiously ask our heart that question, and then try to do our part, I think we should not fail.'

'Yes, I suppose we ought. We can begin by asking the Lord's direction and blessing ; that is the one thing we can each be certain is right. Mr. Cole is very fond of a petition from your Litany ; he uses it frequently in these times—that the Almighty may be pleased to turn the hearts of our enemies and slanderers in order that they may be forgiven.'

Ethel wondered for a moment if this was meant as a deliberate insult, but a look at Mrs. Cole's face convinced her that it was not. Mrs. Cole was, in fact, looking much more good-natured than she did at first.

It was necessary for Ethel to introduce that particular point which she had decided was her

part in this drama of reconciliation. How could she respond cordially about Mrs. Cole's prayers? She did not feel assured that they were acceptable to God. As Mrs. Cole grew more willing to enlarge on her own religious sentiments, Ethel became more fluttered and hurried.

'The truth is, you see, Mrs. Cole, I don't think there is much virtue in prayer until we are resolved to do right—each to do his or her own part, you know, to set things right.'

'Mr. Cole says he doesn't see exactly what we can do except lay it before the Lord.'

'But, surely, Mrs. Cole, if you were to make it up with Miss Brown——'

'Oh, I'm perfectly willing to make it up. I shouldn't think of harbouring an unforgiving spirit; it would be very wrong, and even if it wasn't wrong it would be silly; I've far too much to do to worry about Miss Brown. But, as Jarvis says, you can't go about telling folks that you forgive them, because till they want to be forgiven they resent it. Whenever I come in sight, Miss Brown holds her head as if she were a pea tendril feeling for some support behind her. I can't sing out, "I forgive you, I forgive you," as I go past.'

'Miss Brown is one of my closest friends,' said Ethel with quiet dignity.

'I beg pardon; I didn't mean to malign your friends. I used to think she was friends with you, but from what you've been saying I supposed she couldn't be. However, if you think it would do the slightest good to tell her I am willing to forget all about it, you may.'

Ethel took her courage in her hands and said, 'I could not tell her that, indeed, Mrs. Cole. I do not think Miss Brown was in any way to blame.'

'In what way, or when, do you think she was not to blame?' asked Mrs. Cole.

'I thought you were referring to what occurred at Ducklinghoe. I do not think it was Miss Brown who was to blame.'

'Oh!' said Mrs. Cole; and then, after a pause, she said, 'Oh!'

'I think that, although Miss Brown may naturally have shown impatience—we all do in moments of excitement—she cannot really be blamed.'

Mrs. Cole said nothing. She did not look annoyed; she seemed merely to be awaiting Ethel's further remarks.

Ethel talked a little longer, and then she also waited for an answer.

'Well, you see, Mrs. Compton, what you think about Miss Brown depends entirely on what your standard of good behaviour is. When we came to Mosford we were told that the Church standard was—well, very different from ours; but of course, never having spoken to you before, I did not know how far the report was true.'

Ethel looked up helplessly at the large, calm woman before her. If she had meant to be rude—as Ethel feared she might in the first part of the interview—Ethel would have met the attack with patience and dignity; but it appeared evident that Mrs. Cole—now quite at her ease—was simply

saying what she thought. Ethel reluctantly perceived that her courageous stand as the champion of Miss Brown had not raised that lady in Mrs. Cole's estimation at all. Her opinion went for nothing! How could that be? Bishops and archdeacons had listened respectfully to her opinions. Mr. Glynne himself took counsel with her at times. To all her husband's friends she was an occasional adviser and guide. Here sat this Methodist woman totally unmoved by her opinions. It dimly dawned on Ethel that perhaps the reason why so many admirable people respected her judgment was that it agreed with theirs. She did not in this way agree with the Coles, and it was evident that her judgment went for nothing with them. Was it possible that her character and Cumnor's character and position were not so obviously superior as to carry more weight than this?

'I think perhaps I had better go for to-day,' she said gently. 'You will think it over, Mrs. Cole, won't you? and I will come back.'

'Oh yes, I'll think it over. I'm sure I'm most willing to do what I can. You can call again if you think of anything you would like to say.'

Ethel felt instinctively that this reiterated promise to do what she could was more hopeless than any snarl of ill-temper. She was surprised that Heaven had not seconded her laudable efforts more effectually.

On her way home she met old Mr. Ward. Since she began to fear failure she was glad that he should know of her effort. She could tell all

her good intentions, all her hopes, and recount the interview of that day quite frankly.

'You have been doing the Master's work,' said he, beaming down on her, 'and you must not be surprised if no one blesses you for it now. The time will come when they will thank you.'

'Oh, I wish I could bring about a better feeling in these people. I have not thought about it so much till lately; but now, the more I think how to reconcile Miss Brown and Mrs. Cole the more I see how deep is the Nonconformist distrust of the Church. Why, uncle, Mrs. Cole had no more respect for my opinion that if'—she looked round vaguely—'than if I were not Cumnor's wife!'

'Aye, my dear,' said the old man, 'it's not these two women but Church and Dissent that you want to reconcile; and the more you try, the more you'll see that the bottom's deeper than you know. You may find that your own feet are not on the rock of that reverence for every human soul which the Master taught. But persevere! If you get the Christians in Mosford to respect one another, you will make those who are not Christians respect Christianity. You could not do a more blessed work.'

At these words Ethel's ambition soared beyond the reconciliation of two women. She saw in vision a united Mosford; church and chapel lying down together; and in that day the old man would contentedly leave his money to Cumnor. She did not use these words, or any words; she only went on to renewed effort, soothed and elated

by the old man's benediction. She was also stimulated by the growing perception that Mr. Ward was a very old man. That wonderful look that came on his face when he blessed her—did it mean that he would not live long? She had no time to lose.

CHAPTER XXVII

MISS BROWN ON MRS. COLE

NEXT day the following note was sent from the vicarage:—

Dear Mrs. Cole—Since talking with you, I have decided that I should like to invite Miss Brown to come here to tea some day to meet you if you will come; and I will ask her to apologise to you for anything in which she may have been remiss. But of course I cannot do this unless you would be willing to make some acknowledgment on your side about the words you used in speaking to her. I am sure you know that I only ask this for the sake of the kindly feeling which we both desire to bring about.

That evening Ethel received a call from Jarvis Cole. Stalwart and very clerical in appearance, he stood with Ethel's note in his hand.

'It is impossible for me to say how warmly I appreciate your present efforts, Mrs. Compton. That you should go so far out of your own way to seek to establish a better state of feeling in Mosford my wife and I feel to be a direct answer to our most earnest prayers. I have only come now as my wife's messenger, to ask you the meaning of a phrase in your note. You say, "the words you used in speaking to her"—(Miss Brown).' Cole

read the sentence and looked at Ethel. 'What words?' he asked.

Ethel looked bewildered.

'It is better to come at once to an amicable understanding about this sort of thing,' said Cole. 'My wife has no recollection of using any words that could reasonably offend Miss Brown; although, of course, at such a moment, and being in pain, she may easily have spoken unwisely. She would be sorry for that. If you will kindly tell us exactly what words she is accused of using——'

'Oh, Mr. Cole, I do not think the repetition of such things could ever be desirable.'

'Do you mean that you think my wife said anything that it would be improper for you to repeat?'

'We only now want to forget that such words were ever uttered.'

'You say "such words"; perhaps you can tell me what kind of words you so much wish to forget?'

Ethel faltered. 'I never heard exactly what it was Mrs. Cole said.'

'If Miss Brown was your authority, perhaps you will be kind enough to find out from her what the improper words were. We are entirely at one with you, Mrs. Compton, in our desire for Christian amity; but I have been told that Miss Brown has spread abroad a story that my wife uses bad language. This report has not reached my wife, and I will not tell her. Such an accusation can only react on Miss Brown's own reputation and that of her friends; it cannot hurt us. But if you really wish my wife to meet Miss Brown, you must first let me know that she has not spread

this report, and also exactly what it is she complains of.'

'I will speak to Miss Brown,' said Ethel humbly.

She felt a great desire to be rid of the inquiring Cole. Yet when he had gone she could not recollect that in tone or look he had betrayed any ill-feeling.

Feeling that her air-castle was falling about her pretty ears, and with the fear of losing Mr. Ward's approval lying on her heart like lead, she went to try her influence with Miss Brown.

'I have come, Anna, to speak about that affair with Mrs. Cole. You know, I really find that our quarrel with them is doing the Church an immense lot of harm in the village.'

With those whom she liked Miss Brown was really a delightful person, warm-hearted and impulsive. In appearance she was both handsome and active, in spite of the fifty years honestly worn in the natural lines of a healthy face and in the silver threads that enriched the sober black of her abundant hair. Like many men and women, she preferred to be generous both in love and hate to being just in either; justice was not a virtue in her eyes. When Ethel came in she was playing on the piano with brilliant execution, and she now whirled round on the old-fashioned revolving stool.

'What sort of harm? That is certainly a very becoming hat, Ethel. I think you grow prettier every year, my dear.'

On an earlier day Ethel would have expanded in this genial atmosphere. To-day the deceitfulness of riches was already taking the spring of

youth out of her heart, but she was acquiring strength of purpose.

‘I am sure the mischief is very deep. Even Cumnor’s reputation and my own are suffering. People do not regard us with the same respect that they did; and that, you know, must react on their love for the Church.’

‘Is that awful Cole woman the author of all this? She must be telling dire lies about you! But why should people believe her?’

‘I think perhaps it is rather uncharitable of you to speak of her as—well, as telling lies.’

‘She does tell lies, whether I speak of it or not; but I think you said that was what you had come to speak about?’

‘Surely, Anna, you would be glad to be on friendly terms with her. To feel nothing but animosity toward her is hardly right.’

‘Of course one does not wear one’s heart on one’s sleeve in these matters. If you wish, however, to know my real attitude, I can honestly say I feel no animosity. There is no one for whom I really feel more profound pity. I would willingly do anything in my power to bring her to a better mind; but as for the result of her slanders, I don’t think you need trouble about that. Even the common people are not long taken in by that sort of thing.’

‘I went to see Mrs. Cole,’ said Ethel perseveringly, ‘and I was on the whole favourably impressed. She was not very polite, indeed she did not treat me with respect or attention; but, do you know, Anna, I am on that account

the more inclined to think that she is not deceitful.'

'She must be a little off her head, then.'

'But, Anna, what proof have you that she tells lies?'

'I heard her tell Mr. Briggs that day that I had injured her arm, and we know that she has spread that report everywhere. I quite expect soon to see a Dissenting cartoon of myself violently laying about me with Gampish umbrella. There is nothing these Radicals won't believe; and one can't blame them much, because they can have no idea what it means to be a gentlewoman. Still, I quite agree with you that it is most unfortunate.'

'You know, Anna, Cumnor always deprecates that expression "unfortunate," because we are all liable to use it about things that are, in some part at least, our own fault.'

'My dearest Ethel, if you wish to preach to me that I ought to have had more sense than to have come into any connection with that woman, you will only say what I already see. It is but prudent to give such people a wide berth, and I blame myself very much for giving her the least handle for calumny. What did you go to see her about? I should have strongly advised you to keep away.'

'What exactly did Mrs. Cole say to you, Anna, —I mean when you got into that quarrel with her?'

'I couldn't tell you exactly now. I've tried to forget the whole thing—Mr. Compton said that was the best way.'

‘But what sort of things?’

‘Oh, Billingsgate—I think that’s the correct term.’

‘But that implies the use of words that are either profane or indecent, doesn’t it?’

‘Does it? I don’t pretend to know its precise significance. She was most abusive.’

‘Can you remember any name she called you?’

‘I shouldn’t allow my mind to dwell on it even if I could remember; but I don’t know really that she called me names. Oh yes, I think “virago” was one of them. But, my dear, if you had only seen the woman, the way she flaunted and flouted the poor old vicar—I thought for one moment that she was going to fell him with her fist. She is big enough to fell an ox, you know.’

Ethel was silent for a minute. If this conversation had occurred a week before, the picture of Mrs. Cole as she existed to the inward eye of Miss Brown would have easily transferred itself to her own mind. Soothed by her friend’s esteem, and by familiar and pleasant surroundings, she would not have analysed her friend’s impressions or the free and easy expression of them. But Ethel was a new creature; every hour her mind was growing more sensitive and acute on this vexed question. She really thought that God must be giving her a more charitable heart, a keener sense of truth—and who shall say it was not so? At last she said:

‘We cannot blame Mrs. Cole for anything that

you thought she might be going to do. She didn't hurt Mr. Briggs.'

'Of course not. When I spoke of her making as if she would fell him, that was merely a figure of speech.'

'And I think I remember that you told Cumnor that Mrs. Cole was a virago.'

'Yes; now that you speak of it, I think "virago" was my word about her. She said so many things, I get mixed.'

'You told us at the time that she used bad language.'

'No; I said "abusive language."'

'Dear Anna, I remember perfectly telling Miss Kennedy that you said, "bad language." I was so distressed about it.'

'Then you ought to tell Miss Kennedy that you forgot what I said and made worse of it.'

'Do not be impatient with me, Anna. I am only trying, with a very sore heart, to make things in the parish a little better. You know you certainly gave Cumnor and me to understand that Mrs. Cole had used profane language.'

'I said "abusive"—that was my word; and that her rude conduct to Mr. Briggs as a priest was profane; and by that I shall abide. There's no use your trying to twist my words.'

'I am not trying to do anything but get at the truth.' Ethel's voice trembled. 'We might almost as well not say our prayers if we are not willing to do our best to put a stop to the awful stories that are afloat.'

'Is there any story afloat except that I chas-

tised Mrs. Cole? No sensible person will believe that.'

'Yes, I understand that they say you have spread a report that Mrs. Cole uses bad language.'

Miss Brown laughed good-naturedly. 'Well, it seems, on your own confession, that we have tracked that report to you—you told Miss Kennedy!'

'But Miss Kennedy would never repeat it. In any case I am sure I got it from you.'

'Oh no; I never thought for a moment that the woman swore at me, if that's what you mean; and if you said so to Miss Kennedy, you may have said it also at the Park. Lady Sarum tells her maid everything, and then it gets round. You remember that your news about Lady Alicia's last baby got round. But how could you think that a Methodist would be likely to swear?—it wouldn't be serving the interests of the schism.'

'But you think it likely that she tells lies, and I feel convinced that she does not. She strikes me as quite truthful. As to her arm, you know if you accidentally hit your arm a comparatively slight touch will sometimes give acute pain. Then, also, you probably hit her harder than you knew.'

'You seem to think you know more about it than I do, although I was there and you were not. But what is it that you are driving at? As to your desire to help the poor woman to a better mind, I assure you I should be very glad to do anything I could to that end.'

'It is not only Mrs. Cole; the state of feeling all round is very bad.'

'We are not responsible for the bitterness of the Dissenters, and therefore cannot mend their manners. However, I am entirely at one with you in deeply deploring the state of affairs. I shall be only too glad to do anything that I can.'

'Then, dear Anna, don't you think you might be willing to say to Mrs. Cole that you are sorry for anything you may have done to offend her?'

'I did nothing to offend. I can't act a farce by confessing what I did not do.'

Miss Brown was growing vexed, so Ethel, with weary detail, told her of her first effort to wring an apology from Mrs. Cole and its result. 'I only want to do right,' said poor Ethel. 'I think, Anna, as my friend you ought to help me.'

'As your friend I advise you to leave these people alone! They are more wily than you are. They will lead you on till you do something that can be called an encouragement to schism.'

Ethel's temper had been strained too far. She cried petulantly, 'For Church people to behave in an un-Christian manner is the best way to encourage schism. I think your condition of heart is most uncharitable.'

'Well, then, go yourself and confess that you set about the tale of Mrs. Cole's profanity. It's only fair to me that you should vindicate my honour in that respect. If Mrs. Cole is clamouring for a sop to her pride, you had better apologise to her yourself. I would help you if I could, but I don't see what I can do.'

'Very well!' cried Ethel. 'In so far as I have

been in the wrong I shall certainly admit it and try to put it right.'

It was one of the first mild days of spring, when languor steals upon every one, but Ethel, indefatigable, at once called on Miss Kennedy to explain her mistaken report of Mrs. Cole's language.

'I am very sorry to have made you think what was not true,' said Ethel.

Miss Kennedy was surprised into saying, 'You did not make me think so. I never supposed it was true for a moment. I have always had a pleasant word with Mrs. Cole when we meet in the street.'

Then Ethel had to walk all the way to the Park. The reflection that Miss Kennedy took her words so lightly did not make her walk more cheerful. Very tired and fretful, she made her confession to Lady Sarum, only to offend the old lady by betraying her fear that the confidential maid had been indiscreet.

'Call Simmons,' said Lady Sarum in peremptory anger.

Simmons, the maid, was a person of influence not only with her mistress but with Lady Alicia Glynne. All Ethel's tact did not suffice that day to placate the Countess and Simmons.

'It is a most unfortunate bit of scandal,' said Lady Sarum. 'I am very sorry that you and Miss Kennedy set it on foot. But Simmons and I are incapable of repeating such tales.'

Ethel was sent home in the carriage, and so much in need of comfort was she that she went

at last to her husband and told him the whole pitiful tale—that is, she told him of her desire to bring about peace and the miserable result. She ended the long story with the little wail—

‘I am at my wits’ end. I can’t even go to Mrs. Cole and say that I said it and am sorry, for she does not know that it was ever said.’

Compton would not have been a good man or a good husband if he had not gathered the impression that his wife was taking an angelic part, and that, compared with her, every one else was selfish and unkind. While he caressed and comforted her he mused over the story in no little surprise.

‘I had no idea that you had these most unfortunate political and theological differences so much on your mind.’

‘Oh, Cumnor!’—with a little sob—‘don’t you say “unfortunate”; the word has got on my nerves! It seems to me that even you may be to blame somewhat. We have both’—she sobbed again—‘I am afraid we have both been too willing to take up a reproach against our neighbour!’

‘Perhaps so,’ said he sadly. Ethel’s pretty head was leaning against his breast, and he went on stroking her hair. Yet now he did not feel quite so sure that she was all in the right as he had done a minute before.

At last he gave his advice on the whole matter. ‘You have acted from the highest motives, and you think you were directed by Heaven to do this. But you know, dearest, there are nearly always two factors in the Divine direction—the impression on our own hearts, and the opening up

of circumstance. Now it may be that your own heart has led you to run in advance of God's working. There is something in what Miss Brown suggested ; there is a danger of getting into a position where we might do real harm by appearing to endorse the Dissenting ministry. You see circumstances have not opened the way before you. You say yourself that you do not know what to do next. I would counsel you to wait quietly before that shut door. Wait upon God, and if He does not open the door, be content to await His time. It is enough just now to watch our own hearts and be careful not to harbour unjust or unkind thoughts of these people.'

'Oh, Cumnor !' she wailed, 'what is the good of watching your own heart if you don't take the trouble to find out what is just and unjust to these people ? I will not give up. My heart is set upon this mission now.'

'Your heart is set only upon pleasing God. If God Himself bars the way with thorns, you must submit.'

Ethel was silenced but not convinced. How could she wait idle when the end was not attained ? Had she been seeking a less desirable end she might have been satisfied by her husband's argument. As it was, every thorn that helped to bar her way convinced her that she was doing right to push on, because it distracted her attention from the real motive of her action and made her course appear the more self-denying.

She went to Mr. and Mrs. Ward, and told her whole story out to them, omitting Compton's last

advice. She did not wish them to know that Compton was at all callous on a subject on which she and they were so sensitive.

Mr. Ward gave her very different advice. After some thought he suggested that she should persuade Mrs. Cole to sing at the next weekly mothers' meeting. 'If she will come next week,' said he, 'you could announce her kindness this week to your women, and take the opportunity, while you explain that you do not approve of Methodism, to say a word about her high character and well-known kindness.'

'That is capital!' cried Ethel. 'I am sure I can do that; and I can give my lecture on feeding babies at her mothers' meeting in return, if she asks me.'

Ethel did not trouble Compton with these details. He was very busy preparing for the diocesan retreat, which was to be held in Mosford the ensuing month.

BOOK V
ORLANE'S PERVERSION

-

CHAPTER XXVIII

THE VICAR'S TRIAL

ALL this time Mr. Ward was looking eagerly for signs of greater grace in the nephew whom he longed to adopt as a son. As the old Methodists would have phrased it, he gave himself much to prayer for this nephew and his family. He was a man who believed in prayer, and he had no great confidence in the efficacy of giving advice except when it was honestly sought. Yet when he saw that John Compton's wife was beginning to take upon herself that attitude of humility and love toward her neighbours which, to his mind, was only the most obvious Christian duty, and saw also no sign that the vicar's heart was moving in the same direction, he began to inquire more closely what the cause of the divergence might be. Having carefully perused the various prints his nephew was in the habit of reading, he felt the word of remonstrance stir within him.

One morning he went to the vicarage, and deliberately settled himself in the vicar's study.

'I can't bear to hear you take the sacred Name upon your lips nowadays, Johnnie,' he began. 'I

nearly got up and went out of your church last Sunday morning. For if a man is bearing false witness against his neighbour all the time, he can't be the servant of God. You can't be a Christian in watertight compartments. God will have your whole heart or none of it. There can be no out-pouring of His Spirit while the poison of asps is under your lips.'

'I have not knowingly borne false witness,' said Compton stiffly. 'To what do you refer?'

'Yes, Johnnie, in the bottom of your own common sense you must know well enough that, taking one political Dissenter with another, there are just as many honest, kindly, and reasonable men among them as there are in what you call *the* Church. You must know that the members of the new Government are just as godly and honest, take them man for man, as the members of the last Government. You must know that; and yet, in these little allusions to Dissenters as a class that you are always throwing out now, you know very well that you're trying to make your women-folk, and any man that will listen to you, believe that, with rare exceptions, the political Dissenters are mostly scally-wags, and that to be a Liberal is to decry your Church.'

John Compton felt exceedingly unhappy, and he looked exceedingly stiff and cross. He sat at one end of his study table, holding a pen in his hand, but turning his face toward the old man with the most obvious determination to show courteous attention.

'I am not sure that I can define the term "scally-wag,"' he said.

'Can't you? For our purposes you must know that a scally-wag is an untrustworthy person, or rather, a person who can be trusted to save his own skin and to act generally from low motives.'

'A person may have fairly good motives in general, and yet in certain respects be so misguided as to do what is mean and to use dishonest arguments. That is certainly how the political Dissenters, as a body, are acting towards the Church to-day—just now.'

'That is certainly how your friends, in print and on platform, say they are acting; but of course you know, in your sane moments, what that sort of political jargon is worth. Partisans on the other side say the same things of you Churchmen, and with quite as much reason. Little boys in an English school talk of Frenchmen as if they were all cowards and sneaks; and little boys in an American school talk of the English as if they were all dunderheads and bullies. The jargon of party is worth just that, and nothing more. But you'—and there came a sudden fire in the old man's eyes and a sudden tenderness in his voice—'but you—for you to live is Christ, and it matters nothing to you what any church or sect may gain or lose in material things as long as Christ is magnified. What is required of you in order to glorify Him is "that your love may abound yet more and more in knowledge and in all judgment, that you may be sincere and without offence till the day of Christ." Now, Johnnie, there is neither love nor knowledge nor judgment in slandering your neighbours—neigh-

bours who are just as good, and just as honourable, and just as intelligent, and just as sensible as you Churchmen are. That may not be saying a great deal'—the old man spoke with tremendous earnestness;—'indeed, it isn't saying much; but that much, at least, may certainly be said for them. As I was saying to that old minister who teaches me Latin, it's nonsense for him to talk as if all Jesuits were liars; it is just as foolish of you to talk as if all Liberals were enemies of religion.'

'Why do you not go and say this to your own people?' asked Compton sadly. 'It is they who, for political reasons, got up this whole agitation; it is they who defame us as a class. There is on the Church side, so far as I can see, no bitterness. We are indignant at the injustice proposed to our schools. The Church only asks for the same treatment as every one else. But the other side are bent on her ruin.'

'To say that is, of course, to beg the whole question. To assume that they are bitter while your indignation is merely righteous is to assume a slander as the basis of all your arguments,' said the old man. 'With that slander in your heart God can give you no blessing. Even supposing that slander were true; supposing their intent is to persecute you and spitefully use you, do two wrongs make a right? Is there any reason why you should spitefully use them? You ought to remember that historically the Church began the persecution all along the line, and try to make up for that now.'

‘But,’ said Compton, ‘if, as I think, there is only too good reason for my belief that the Dissenters—or at any rate, the political Dissenters—are actuated more by enmity against the Church than by any better motive, it is our duty to expose them and warn the people of England against them, so far as in our power. Is the Church of God to be slandered, her right and duty to instruct the people to be denied, and those who love her be forbidden to defend her prerogative?’

‘I’m not trying to decide, Johnnie, whether there ought to be political Dissenters or political Churchmen; in other words, whether it is right for them or for you to fight a political battle over any matter when your consciences differ. Let us agree, for the sake of argument, that it is. I am saying that your weapons are not truth and love. When you throw those down and take up the weapons of falsehood and spite, you have ceased to fight on the Lord’s side, and nothing you can do in that way will really help the cause of Christianity. Man for man, woman for woman, child for child, the Dissenters of England are quite as fair-minded as your Church people. To try to make people believe anything else will not serve any good cause. You had better heed my warning, Johnnie; the looker-on, you know, sees most of the game.’

‘I can easily see that, having lived but a few months in England, you may take this view of matters; but, as I said before, I cannot accept the statement you have twice laid down as the basis of your argument. Although any of us Churchmen

may sin against the Divine grace given to us, and so be morally worse than the better Dissenters, yet it remains true that the Dissenters, as a body, have deliberately cut themselves off from the means of grace, and it is natural to suppose, therefore, that there is less grace among them.'

'I have heard your argument about neglected channels of grace before,' said Mr. Ward. 'I had a neighbour in Canada who was a Roman Catholic priest, and we used to have great talks. He believed that all Protestant ministers were more or less insincere, and the Church of England parsons were the worst. He used to say that they could not be anything else but self-deceived in all the finer issues of life when they had cut themselves off from the Church ; and those that pretended to be Catholics were, to his mind, the most open to moral defect. You know, Johnnie, it's a wonderful education to live in a new country and to knock against all sorts of folk.'

'From his point of view your Roman Catholic neighbour was quite right ; his mistake lay in having too narrow a definition of the Church.'

'I brought him in here,' said Mr. Ward, 'in order to ask you if you think he was right in attributing to you a lower moral level without taking the trouble to find out what your level really was. He took his views of English parsons chiefly from what people of his own way of thinking wrote and said.'

'But I do not take my opinions ready-made,' said Compton. 'I review facts and think for

myself. Strange as you may think it, my dear uncle, in this matter I think for myself.'

'If you do, and still in all things fall into rank with your party, you are a very remarkable man, John Compton. But the fact is, you might think all your life and think wrongly, if you think only about those facts which your party spirit leads you to emphasise. The trouble about your theory of God's grace, and that of my Roman Catholic neighbour, is that you have to look at all that pertains to human nature with blinkers on if you are to believe it; and our Father in heaven'—the old man's voice grew soft—'never told His children to believe anything that wouldn't bear looking at all round with the utmost power of thought and eyesight that we can spend upon it. If you are right about the channels of grace, you must square that with all the facts, and not simply with what you assume to be the facts.'

Compton did not immediately speak. He had no wish to enter on a discussion of this nature when, from his point of view, it seemed likely to be futile.

His uncle went on. 'It is just in order that you may review the facts and think for yourself that I have come here this morning. I have come to make you a fair offer. The Free Churches have got a big convention at Birmingham this week; they're going to spend some days praying and preaching; come over with me—I'll pay expenses; come and hear for yourself what they're praying for, and what they're exhorting one

another to do and be ; and after that form your judgment of them.'

'My dear sir, your motives are, no doubt, excellent ; but, to use your own phrase, it won't do. Personally I am certain that the mass of Dissenting parents had no grievance against the Church schools till political Dissenters made the dissatisfaction.'

'The mass of the parents did not care ; but the dissatisfaction was got up, not by politicians, but by religious men who thought it right to educate them into caring. To say that the leaders on either side of this education controversy are merely political is a lie, and a silly one. It was men whose religion moulds their politics who were at the bottom of it. The parents have no objection to the religious teaching in the Council schools which you despise ; the agitation against that is the work of the religious men on your side. The longer I live the more clearly I see that the devil never really does much harm except when he works through the passions of a saint.'

'You can hardly expect me to agree with you that the devil has as much to do with those who seem to me to be fighting for God's truth as with those who, blindly it may be, are fighting against it.'

'Will you come with me to Birmingham, and listen with an open mind to the men and women who you think are fighting against God?'

'No, my dear uncle, I will not go. I could not do so with a good conscience. I must teach the truth, and defend the truth, as I know it, and

leave those whose practices and beliefs differ so widely from my own to the judgment of God and their own consciences.'

'Then leave them to God,' said the old man sternly. 'Don't say they are bitter while you are only indignant against injustice ; don't say theirs is a mere political agitation while yours is a protest against irreligion ; don't say they are acting merely out of spite to the Church while you are working for the salvation of the children. Don't think or speak of them as if they were not animated by God's grace because you believe them to be deprived of the means of grace. And, above all, don't say or write what leads your women-folk to repeat these things over their teacups. Remember what the Master said about those who cause the little ones to offend.'

CHAPTER XXIX

THE VICAR'S CONSCIENCE

MR. WARD had intended, with his wife, to stop in Birmingham for the week of the Convention; but Mrs. Ward was nursing a serious case of illness in one of the cottages, which she could not leave. The old man, worn and fagged with the political atmosphere in Mosford, could not deny himself the refreshment of going daily to Birmingham for the meetings. He started very early each morning and reached Mosford again by eight o'clock in the evening, an arrangement which to his friends seemed exhausting, but when his old face visibly regained the lines of peace and happiness which it had worn when he first came to Mosford, they were satisfied.

He made a point of calling at the vicarage on his way from the station the first evening, to say he had come back safe and had had a good day, and if possible to elicit from his nephew some questions concerning the meetings he had attended.

'Well, uncle,' said Compton, 'did you find your way about Birmingham easily?'

'I hadn't far to go. I got to the morning

meeting at 11, and then we had time for a bite between 1 and 2; then there was a prayer meeting, followed by a conference till 4.30, so that I just caught my train back comfortably.'

'I suppose,' said Compton grimly, 'you heard them say things about us as uncharitable as I say about them?'

'They might have done if they'd been talking about you, but they weren't.'

'But of course they must have said something about the school question?'

'It wasn't that sort of a meeting. What they were conferring about was how to get on a higher level of experience, of faith, and the power faith gives. To-day, being the first, was devoted to the search for the inspiration that cleanses the individual life of its secret sins and infirmities and follies.'

'Oh indeed!' said Compton, and he asked with sincere curiosity, 'Was there a penitent form? or were you all asked to take a pledge against drink and tobacco?'

'I guess the folks there had got beyond that. They were mostly ministers and Christian workers, you know.'

'About how many were there?' Compton spoke with increasing curiosity.

'I was told between a thousand and fifteen hundred. There was a good deal of going in and out. The afternoon meeting was the biggest.'

'But you don't mean to say,' cried Compton, 'that you had a crowd like that morning and afternoon, and that they didn't talk about their

attack on the Church, or about the evils of Church doctrine !'

'If they'd wired into the Church I'd be quite willing to tell you what they said, but they weren't even thinking about it.'

When the old man was gone Ethel said, 'I never thought of it before, but I suppose Nonconformists really must have something else to talk about. Do you think there really is no reason for people to be Dissenters at all except their opposition to the Church?'

Compton did not answer audibly. He felt nettled by what the old man had told him, and could not analyse his vague irritation of temper.

The next evening, when his uncle had expressed his continued pleasure in the meetings, Compton said, 'I am sorry that I cannot enter into your feelings. These people are not my sort ; indeed, just now they are doing their best to thwart us and the cause of true religion ; and I rather naturally suspect that your easy colonial good nature is reflected in your impressions of them and their meetings. But of course, in so far as they are truly devout, one would wish to acknowledge it. Still I am sure in these two days you must have heard very bitter things said against the Church—things compared with which my warnings in the parish magazine are not so uncharitable as you thought them.'

'Well, you see, to-day the time was taken up with the subject of full consecration and the higher life. To-morrow they are to be searching

for the best means of doing spiritual work and winning souls for Christ.'

'Still, as these people must acknowledge that their one justification of their separate position is the antagonism they feel to the doctrines and institutions of the Church, this must colour all their thought, and it is impossible they should have days of public meetings without warning their followers against what they think pernicious and urging them to stamp it out.'

'I didn't stay for the evening meetings,' said the old man, 'but I see from the papers they got on politics, and said "amen" to some of the things their party papers are saying, which are bad enough.'

'But was there nothing of this at these day meetings?' persisted Compton. 'You cannot be telling me all, uncle; and since you have lectured me so frankly, I have surely a right to ask what the opposition are saying about us.'

'They said nothing about their opposition to the Church,' said the old man. 'They don't call you "the opposition," you know; they regard the devil as the opposition. But, any way, they never said a single word about you from first to last.'

'As they seem to have been going over all their beliefs and convictions, they cannot have omitted the chief item of their creed?'

'My dear Johnnie, do you really think that unfriendliness to you is the chief item of their creed?'

'Certainly, it must be; otherwise, why are they not with us?'

‘ You might just as well ask why you are not with the Jews, because you are not always fulminating against Judaism. You are not with the Jews because you believe you have got a bit farther on. You are sorry for the Jews, and you wouldn’t want to see Judaism set up as the national religion ; but you’re grateful to them for all the truth and goodness you’ve inherited from them, and you concern yourself with worshipping God and directing your own lives according to a purer and higher revelation than theirs. That is exactly how the Dissenter feels towards you. He may be right or wrong, but he thinks that the Reformation was the rebirth of the purer truth that Jesus came to give, which in the Early Ages had got badly mixed up with Paganism. He thinks the Church of England is not clear of Paganism yet ; and so he naturally does not want an institution he thinks effete to be ruling in the land. That affects his politics only ; his religion is his effort to worship and serve God.’

Ethel had gone to bed. The two men were alone ; and Compton unreasonably experienced in the depths of his soul a distinct temptation to hatred. He called God and reason to aid ; he quenched it instantly ; but he knew by the swift inward glance of self-examination which he was accustomed to practise that he would gladly have called down the fire of heaven upon the old man and his friends.

When one human being tries to do good to another, to cast out an unclean spirit by nights of prayer and the brief but fitting word of exorcism,

it is seldom that the result in any way resembles his anticipation. Yet it is probable that it is even more seldom that the effort is futile. The 'mysterious way' of God, of which Cowper sang, brings about wholly unexpected results in the interstices of human emotion. Compton sat there looking sour, and his manner was cold and silent ; but he had realised now quite clearly that his own temper toward his religious antagonists was not right, that he was capable of that inward hatred which the Master he held divine had pronounced as sinful as is outward violence. He did not grasp the old man's point of view, in fact he did not give his attention to it ; his opinion about Dissent had long been formed, and he was not a man to reconsider his opinions ; but the degree of offence he felt startled his conscience and awakened him to prayer and vigilance.

CHAPTER XXX

IN NEW PASTURES

THE series of meetings which gave Mr. Ward so much delight were, in the phrase of their promoters, held 'for the deepening of the spiritual life!' When the vicar refused his invitation to go to them, the old man had carried the same offer to the Reverend Jarvis Cole.

'I know it may be hard for you to give the time, Mr. Cole ; but it shan't cost you anything in the way of expenses. It is worth while, at a crisis like this, to try to get a bit away among people who have a high outlook. There is a great test of Christian love coming upon the nation, and unless we take some special care to prepare ourselves, we may miss our greatest opportunity.'

Jarvis Cole understood the old man's phrases better than did John Compton ; but just because he was familiar with his way of thought he missed its force. His gratitude for the invitation was warm, his great regret in refusing it genuine. He asked with interest to what test of national Christianity Mr. Ward referred.

‘It will be over the schools,’ said Mr. Ward wistfully. ‘The question is going to be, whether you are all going to ask yourselves how much you can conscientiously give up rather than how much you can conscientiously claim.’

‘If a man’s conscience is honest, it would come to the same thing,’ said Cole with confidence. He was standing on his own doorstep in the morning sunshine, a healthy, good-natured fellow, and well satisfied.

‘I have observed,’ said Mr. Ward, ‘that in every transaction the question, How many points may I honestly insist upon? totals up very differently from the question, How many points may I honestly yield?’

‘These meetings are not held in connection with the Education question, I think?’ asked Cole.

‘No; that is the value of them for men like us. We want to get away a while from our rights and our wrongs into a more quiet and spiritual place.’

‘Just so, sir,’ said Jarvis Cole; ‘I quite agree with you, and I only wish that I could accept your kindness. Unfortunately I am responsible for a united Temperance meeting; and then I have promised to say a word at my wife’s next Zenana meeting, and the Christian Endeavour——’ He paused, feeling the list was too long to be profitable. ‘And yet, Mr. Ward, speaking of yielding our rights’—he became somewhat pompous—‘I conceive that we are only justified in doing that in matters where our own welfare alone is concerned. You cannot think it right to yield one

jot or tittle where the right to teach superstition to the helpless little ones of our nation is claimed !'

'To put it that way is to beg the question, Mr. Cole, isn't it? If we take a few days in which to realise the things of God we may learn that, because His eternal ways are so much higher than ours, our way in this strife is not entirely one with His.'

'That is true,' said Cole, 'I often think of that, my dear sir.' He quite expanded in general size, so sympathetic and genial was he. 'Yet of course, in all practical affairs, having used the best light we have, we must come to a decision and stand by it with courage and persistence.'

'Yet when so many equally good men are of another mind we should surely ask ourselves whether we may be allowing a partial view of God's way to warp our conscience and nerve our will.'

When confronted with this general view of a question on one side of which he was firmly enlisted, Cole did what nine men out of ten in like case will always do—left the general for the particular and defended his own position. 'We are not contending for the privileges of any sect of ours, but for the religious freedom of the nation. Our opponents have personal loss and gain to warp their minds; they imagine their prestige, their influence, their very office is at stake, although I think that in all these things they would be the gainers. We seek nothing for ourselves, therefore our eye is more likely to be single.'

'Well; suppose that your principle is the right one, and is to be agreed to by every nation as it

progresses, there is still for the Christian something more important than contention for a measure of civic justice for which the times may not be ripe. If St. Paul had turned aside to insist on the abolition of slavery he would never have converted the Western world.'

Cole held to his partisan contention. 'The mere fact that they are all accusing us of spite and hatred proves to me that they have no valid argument. The *argumentum ad hominem*—especially when it is so far beside the mark—is always the last resort of an unjust cause. Why in the world should we hate them? If some of their rich men would endow a nice little private school for every parson in the land to teach, in I should congratulate them heartily. So long as the secular teaching was up to the mark, and so long as there was a public school alongside it where my children could go without religious prejudice, I'd shout for joy at such an arrangement. But I have no right to yield my children's civic rights to please any set of parsons, however much I may like and respect them. It is for that reason that I feel it my first duty at this season to remain in the forefront of the battle, and'—he added airily—'I deeply regret that I cannot retire with you, even for a day, to the mountain-tops of God.'

The old man withdrew sorrowfully, and for the first two days of the conference the thought that he alone went from Mosford to enjoy his feast lay heavy on his heart. Then he received a most unexpected offer of companionship from Oriane Graham.

On the morning of the third day Ethel Compton met Miss Kennedy in the village street. Ethel was intent upon her weekly marketing—the problem of never-failing interest, how to make twopence do the work of threepence without being mean to the tradespeople. Ethel had a great horror of petty meanness; she thought it ill-bred. But it was only in her dealings with things that could be seen and handled, like coppers and legs of mutton, that she perceived the temptation of her poverty and made efforts to rise above it. This morning she was cheerful and serene. She knew that her simple morning dress was pretty; she had a dancing sprite by her side—her eldest little girl, whose hand had to be held lightly in ‘mummie’s’ because her little feet had so much run and jump in them. At the back of the marketing problem Ethel held in abeyance the exhilarating prospect of collecting the signatures of the school children’s parents to a petition to Parliament praying for the rejection of the new Education Bill. She had planned to go with one of the Browns to some outstanding hamlets on this mission from door to door. Upon seeing Miss Kennedy she stopped, in the happiest humour, to ask if Oriane would motor them over. Oriane’s car had been absent upon sick-leave for a few weeks, but Ethel knew that it had come out of hospital a day or two before.

‘I am sure Oriane would have been delighted,’ said Miss Kennedy, ‘as she likes any and every excuse for driving; but she started early this morning for Birmingham.’

‘For Birmingham,’ repeated Ethel ; and then she added, ‘With Mr. Ward?’

‘She is going to meetings with Mr. Ward. He seemed so much set up with his meetings that her curiosity was aroused. He likes to have her with him ; his nature is so genial that he never enjoys anything so much when he is alone. Then, too, she thought the motor less tiring for him than the train.’

Ethel’s lip quivered and her eyes filled with tears. Miss Kennedy was touched, for Ethel did not easily weep. The suddenness of a blow will sometimes bring tears from women who have none to shed over deliberate grief, because they have formed the habit of covering any irritant matter with thoughts which either soften their hearts or flow into some pleasurable activity, just as an oyster covers a grain of sand with successive coating of smoothness. Dissent in general was a real trouble to Ethel, but she had long ago covered the trouble with the notion of the inferiority of Dissenters and the belief that God was on her side.

‘I do not understand it.’ Her voice had no animus, her manner no resentment. ‘Why should Oriane go to these meetings ? Is not our Church enough for her ? Oh, Miss Kennedy, why should she go ? Why did you let her go ? I don’t know how to tell Cumnor ; it will hurt him so much.’

Ethel’s grief was so unaffected that Miss Kennedy’s heart went out in sympathy. ‘Don’t cry, dear,’ she said. ‘People must work out their own salvation, you know. I should not think of

allowing any wish of mine to influence Oriane in such a matter. If it hurts you to tell the vicar, I will tell him myself, and smooth it down as far as I can.'

Miss Kennedy accordingly made an excuse to call at the vicarage and mention Oriane's defection to the vicar. She sugared the news with a heart-felt expression of respect and admiration for the vicar's kinsfolk, and this was grateful to him. 'I do not think,' she said, 'that I ever met two people who lived so entirely above the level upon which the distinction of social class and political party can be seen.' She would have inserted 'religious divisions' had she been speaking to any of the Latimers, but, as she told Willie later, she remembered in time that the vicar thought that the higher the plane the clearer the religious division. 'I do not think I ever met any one who could speak to the "Red Cow" reprobates as Mr. Ward does, and not be conscious of it. He shows greater courtesy than he would to Lady Sarum, and it is his unconsciousness that makes it so fine.'

When Miss Kennedy was gone the vicar was more convinced than ever that part of what he had felt the evening before to be righteous indignation had been ill-temper, and that he must fight the devil by prayer and fasting. In that inner heart which lay below his conscious thought he was deeply moved by his uncle's pleading, but the right path was not more plain to him. He thought that his indignation must be, in part at least, righteous! He was in the midst of the battle;

there was little time for reflection ; he was being constantly struck and must constantly strike out for the right. In such a predicament it is very distressing to be pierced by the conviction that some of your blows would be better unstruck and some of your energies better directed into another channel.

In the meantime Oriane was sitting beside Mr. Ward in a meeting in which everything was entirely new to her. The inward peace and inspiration which she thought she had detected in the old man's life had caused her to come there upon a sudden impulse. She had not been seated half an hour before she felt persuaded that what she wanted was not to be had there. A common concert hall, garish by daylight, had been hired for the conference. It was filled with people of a sort Oriane could not class. She had expected parsons in white neckties and a few women in neat garb or in some decorous deaconess dress. She saw instead a great many women, all dressed more or less in the fashion of the day, and was still more amazed by the number of men in lounge suits, who put bowler hats under the seat. She found herself questioning what this sort of man had to do with religion on week-days. Both men and women were sitting on the platform, and a woman was giving an address. Mr. Ward said the speaker belonged to the Society of Friends, but she wore a pink rose in her hat ! Oriane glanced about, puzzled and disheartened. A side door was constantly opening to admit late comers. At length a man entered who was not a

stranger to Oriane ; it was Professor Pye. He sat down on a bench by the wall. Oriane had not seen him for years. No sooner did she recognise him than she realised that it was natural he should be there, but in her restless, uncomfortable mood she plagued herself with the idea that he might think she had taken this unwonted step in the hope of meeting him.

He did not see her. He had no sooner possessed himself of a printed agenda and a hymn-sheet than an old woman came in, and he gave up his seat and possessions to her. As soon as he was again seated an infirm man entered, and the scene was re-enacted. Oriane felt annoyed that there was no doorkeeper. She was also vexed because she could not fix her attention on the address, could not keep herself from watching the door. Mr. Pye was now standing by the wall. Two over-dressed young women came in, rustled and creaked about for half a minute, leaned against the wall beside the Professor, asking him questions in disturbing whispers. Oriane marvelled that religion could take such divergent forms. How any one could possibly worship God or obtain peace of mind in such an assembly as this she could not conceive. Yet she saw Mr. Ward wrapped in attention to every word the Quakeress said. She saw, too, or thought she saw, that Mr. Pye wished to listen ; his eyes sought the platform even while he was answering the fussy young women.

Then she too listened to the words of the voice that pervaded the hall. The speaker said :

‘I do not think I exaggerate when I say that all unbelief arises from the obvious failure of Christian prayer. We should all give in our loyalty at once to the Christian society which made visible the results of its faith in joy and health and power and love as Jesus commanded the Church to do. It is a visible Church that we want. The result of the real, inward, spiritual secret of a man’s soul becomes quickly visible in look and word and action. If the visible is not beautiful, the secret source is troubled. The inward spiritual life of a society has its concomitant visible result. Let us never be misled by any marvellous glamour thrown over the invisible in the talk of those who are so satisfied with what is unseen and remains impotent, that they have never gone forth to seek the potent vision of the Holy Grail. Every one of us ought to be successor to the disciples our divine Master first sent forth. Are we, by the power of our faith, teaching men to observe all that He commanded?—all?—to observe the life of self-control, the life of mutual love, the life without worldly care, satisfied, like the birds, with enough, asking no more; the healing of the mind, the healing of the body? It is those who have visibly observed all these His commandments by the power of faith who compose the visible Church. It is only as that Church increases that the world will be convinced.’ The voice paused. ‘My friends, is there an invisible Church? There is a great host of feeble souls who have sought only a partial salvation, who have believed, but only with a flicker of unpractical faith, who have mistaken words for things and

shadows for realities. We dare not think that this indistinguishable host are not within His Church, but we must realise that the world will only be saved by those who make the victory of prayer visible.'

Oriane was lost in the utterance of the Quakeress; when she again became conscious of herself Mr. Pye was apparently gone.

Lunch time came, and she left the place with Mr. Ward. They took a bun and a cup of milk at a restaurant, and had a walk in one of the principal streets. Oriane did not see what was in the shop windows; she was thinking of what she had heard and seen and trying to assimilate some new ideas with her first impressions of the meeting. The old man had bright eyes for everything. He criticised the restaurant; it was not pretty and attractive and airy, as, to his mind, a place ought to be where poor, over-worked shop-girls took their lunch. He stood entranced before a florist's window, and then, noticing some poor children gazing hungrily at the flowers, he bought some and gave them each one. Oriane stood in the shop door and watched the little crowd of gutter children gather from nowhere and surround him in the slop of the winter street. A yellowish gleam in the flying cloud above made the wet pavements and windows glisten, and the childish faces looking up, avaricious of the sensations that colour and fragrance give, caught light from the low, reflecting clouds. But the light in the old man's face was of another sort. The brightness of his black eyes was like a perpetual spring of

youth. He seemed satisfied with delight—his own and the children's.

Two women behind the counter craned their heads for a minute to see through the foliage that screened the window. The elder, a dark, sad person, said, 'That gentleman won't live long—I never see that sort of face but I know.'

Oriane moved out of hearing. She felt annoyed that even a breath of this sort of croaking superstition should be anywhere within the vision of her old friend's radiant face.

They walked back toward the meeting. Oriane was still perplexed and spoke, hardly knowing what she wanted to say.

'If the joy and power of the Christian life is—well, what the people in these meetings seem to find it, ought not one—the world is so destitute in its ignorance—ought one not, in giving flowers to children, for example, to say something to them about the love of God?'

'Perhaps one ought,' said Mr. Ward heartily. 'I never do all that I ought.' Then he added, 'But somehow, the more one learns about God, the more one knows that He fills in the gaps.'

CHAPTER XXXI

THE ARCHÆOLOGIST

AT the meeting that afternoon Oriane felt that she learned a secret which lifted her heart to a new level, from which this life wore a different aspect. She was aware that such a sense of change is a common psychical phenomenon and was therefore not certain that it might not be a mere fancy; while going out she hugged the new experience, fearing it might not last. Mr. Ward dashed off from the entrance, saying he wanted to catch a friend, and Oriane groped about in the crowd, not knowing how to meet him again. While so doing she had a curious experience of realising that what she had gained—she knew not what it was—made her feel more at home in the commonplace of the world: even common people whom she usually despised seemed attractive to her. As the place cleared Mr. Ward came back at a swinging pace, bringing Professor Pye.

‘My dear young lady,’ said he to Oriane, ‘I have just discovered that Nathaniel Pye is to preach this evening. With your permission, we must stay for that. I’ll send a wire to Mosford.

Now, Nathaniel, you and this lady are not strangers; she wants a good rest and a good tea—which of your diggings can afford as much?’ He was off again to send his telegram.

‘I am sharing the quarters of a friend who, happily, does not dig,’ said Pye with a twinkle. ‘His den is on that account the more habitable. If you are not afraid to trust yourself to Mr. Ward’s guidance——’

‘He has left me no choice,’ she said with a thrill of amusement in her voice. ‘Oh yes, I would go contentedly into Nineveh with Mr. Ward—I think you chiefly live there?’

‘In Nineveh people neither eat nor rest. They speak, but only on certain occasions of their lives.’

‘But it is your duty to imagine the other occasions and reconstruct the conversation for us.’

‘I leave that to the historians. For my work there may be no softening touch of the imagination. I live in desert places, sometimes with the Arab goat-herd of to-day, sometimes with the harsh, brick voices of past millenniums.’

‘I do not think we have ever had an opportunity of thanking you for so kindly introducing us to Mr. and Mrs. Ward.’

‘It is I who am greatly indebted to you for your kindness to them.’

‘You must have heard their garbled account of it. I don’t know any one who can garble so prettily as Mr. Ward—and be so unconscious of the falseness of the impression he gives. But

indeed I am your chief debtor ; he has taught me more than I can ever tell.'

Professor Pye made no further remark on this subject. He was thinking that it was greatly to her credit that she could appreciate Mr. Ward, but it did not occur to him to suggest this.

'It is not by the Tigris that I am living now. Mine, indeed, is always a nomad life ; I strike my tent all too often, passing from century to century and mound to mound ; but now I want to live in one place and one generation for a time. Are you interested in our spade work ?'

She was perfectly interested while he described to her a pleasure place of summer palaces built by a prince who was thought to have married an Israelite princess and so become a patron of Hebrew lore.

'Who was he ? Who was she ? Where are these palaces ?'

'The tablets relating to him are very imperfect,' he said.

'But you spoke as if you knew.'

'I have made a new reading of the tablets. I have made sure of the man, and I believe I have the site of these lost palaces.'

She had begun the talk supposing that his work was done within the walls of his study, that it was only in thought that he was an habitual traveller ; but as he talked she began to suspect that the love of the East had bitten him more intimately. They were in the almost empty entrance hall when they saw Mr. Ward returning. There was a glow on his face which Oriane had seen before and always

interpreted as a sign of health ; now the croaking of the shop-woman recurred to her mind.

‘You must make him rest,’ she said to her companion ; ‘at his age he must need rest.’

They walked for a few minutes by unknown turnings, went up in a lift, and reached a somewhat stately lodging above a pile of city offices. A fragile man, with white, pointed beard, delicate features, and hands almost transparent, received them without surprise ; and while a staid house-keeper laid a substantial meal upon such corners of tables as were not covered with books and objects of art, Oriane was glad to see that Mr. Pye did not forget to put Mr. Ward into a deep-cushioned armchair and lull him to silence and rest by determinedly engrossing the conversation. Because she had spoken of Nineveh he told her of the fields of ochrea, and of the great gourds on which the green and rosy water-melons grow beside the Tigris in the plains of Aram Naharaim.

No two men could be more unlike than the delicate, almost ghost-like, owner of these rooms and Nathaniel Pye ; but there seemed to be a good understanding between them, for when Mr. Ward dropped into a child-like sleep the one remarked it to the other by the slightest gesture, and the fragile host took Oriane into the next room to look at some pictures hung there.

Professor Pye remained quietly eating pigeons on toast. Oriane could see him, for the rooms were divided by a heavy curtain which hung aside. She resented his good appetite, and then chid herself for such folly when she might have been

looking at a Corot which she would probably never have a chance to see again.

'The nymphs are of no importance here,' said her host. 'They merely indicate the spot on which the sight must focus; then the landscape becomes exquisitely translucent and clear.' Both figures and landscape looked to Oriane blurred and confused with one another. She realised her ignorance of French impressionist painting. Then she saw Mr. Pye coming noiselessly over the floor rugs carrying a plate of eggs in aspic.

'You have had a poor lunch and little breakfast,' he said to Oriane. This room was not so full as the other; he found a small table and made her eat.

Oriane forgave him his own appetite when she perceived that she was still hungry. Their host went back to watch by the old man, and Nathaniel Pye succeeded in the silent transport of a fine old pewter coffee-pot and some Dresden cups.

'I should never expect to find coffee in that thing anywhere else,' said Oriane.

He did not make the obvious retort, but said, 'When I saw you so unexpectedly to-day I thought that I should like to lay the outline of a pressing question of right and wrong before you and ask your opinion. If I remember rightly, you see things without the complexity which often confuses others.'

'I should like to help, but indeed I am the worst person for that sort of thing; I have no talent for ethical problems.'

'That is just what I thought. People who

like to consider nice points of conscience are seldom able to give sound practical advice.'

'But surely your own judgment——'

'Even if it were sound I am too near to see the thing in right proportion. But I will not burden you if——'

She stopped him with a smile. 'Tell me all about it.'

'I do not want to tell you all—only what is essential. I believe I know where these buried palaces are. I have newly read a tablet which I feel sure gives the needed indication. The spot is an almost inaccessible bit of desert, and it would be a most expensive excavation. If I had fifty thousand pounds at my disposal I could make sure; I think I could secure inestimable treasure and some kudos for our archæological school; and, as I think,—but this is my own opinion only—help to establish some facts which would have their bearing on the truth of our sacred records. That is one side of the question. Another side is, that if I have not the money I must begin to proclaim my view as to the locality of this city. After agitating for years, and going through much unnecessary debate, one country or another will break the ground, and by slow degrees the facts I want to bring to light will be established, perhaps by better men than I, perhaps more surely because so much more slowly. Now, the point at issue is this,'—there was a little silence in the room; Mr. Pye was looking at the carpet—'I have a friend who would give me this money for this purpose, as certainly and as easily as he would give me a

night's lodging, if I asked for it. But it would not be possible for me to lay the archæological problem before him in such a way that he could estimate for himself the value or the probability of the results accruing. He might think he made an estimate, but he could not, really; he would have to take my judgment. He is at present devoting his income to causes which both he and I believe are certainly promoting the coming of the Kingdom of God. He intends this money to go to his nearest relative, who has plenty of use for it. Ought I to ask him for it,—while I know that, if I obtain it, it is possible that it may be merely wasted?’

‘Would he give you this fortune as pocket-money if you asked him—merely out of friendship, not asking or caring what you did with it? If he would consider the money well spent in giving you pleasure, that surely gives you a right to use it as you like.’

‘However that be, a man could not ask in that way.’

‘No; I see that—a man could not. There are so many tailor-made creatures nowadays who are constantly introduced to us in books, that we women do not always remember that the real thing does not act from motives of convenience.’

He waited, still studying the carpet, and she felt that she had made an intolerably feeble remark, the more because it might be construed into a fulsome compliment.

It was perhaps unfortunate for him that he had asked her then. The long day among crowds

who were, or appeared to be, taking the Kingdom of Heaven by violence and actually winning their way into the golden vistas of its future, had had an exciting effect on Oriane. She was undergoing the throbbing phase of exaltation which the first sense of life in a new element gives. It seemed to her that she had seen, as never before, the vision of the risen Christ. She felt all the solemn duty and exhilaration of a new vocation, and she very naturally fell into the fallacy of Quietism—if God willed this thing God could provide the means. She remembered now what Mrs. Ward had said about the giving and taking of money, and she felt ashamed of her former self that had not been able to respond to the old lady's sentiment. There was a higher stage to be reached than high-minded begging.

'It is Mr. Ward of whom you speak,' she said. 'Are there not men who would give money for your purpose who would never give it to the missionary efforts Mr. Ward helps? Is it not your duty to appeal to them first?'

'A public appeal would bring no satisfactory result. I believe I could gain ten talents with money which at present may be only gaining five; but that is only my personal opinion. Many religious people would not agree with me, even supposing my digging were successful—and about that, to begin with, there is risk.'

She had no means of knowing what Mr. Ward possessed. The sum required seemed to her likely to equal half his fortune. 'If I were the Comptons,' said she, 'I should think you ought

not to ask.' Then, feeling obliged to give her deepest reason for dissuading him, she said, 'It is not a case of honour—there would be nothing dishonourable in your asking for it; even the Comptons could not say that—but what men who care only about honour might do, it seems to me you, who are trying to live a life of apostolic faith, cannot do.' Lamely and hastily she added, 'Of course I know most religious people make a virtue of getting money that way for good objects; but you—God can send you what He wants you to have; you cannot beg.'

'Thank you,' he said.

He showed no emotion; yet she knew, or thought she knew, that this scheme was the dearest thing on earth to him. Nevertheless she was eager that he should not fall from his high estate by asking for money. He sat beside her, making, at intervals, a few remarks about pictures. They both felt their community of worship and of ideal.

Very soon Mr. Ward woke up cheerily, and the three went out again to the hall of conference.

Oriane found herself wondering whether it would be an effort to her former lover to preach in her presence. When he began to preach she forgot him in his subject as entirely as she forgot herself.

He took as his text the prayer attributed to Moses, 'If thou go not with us, carry us not up hence.' He described in some detail an ancient world in which all men believed in gods who belonged to the land. When men went forth 'on trek' they were forced, he said, to think they

had to leave behind the god they loved. He spoke of the religious necessity which first pushed into speech in such a prayer as the text. The true heart of man must think of his God as too precious and too powerful to be left behind. Simple human affection, attributing itself to God, thought out a deity who loved His people too well to remain behind when they went forward. The preacher described this need developed and spiritualised by the religious experience of centuries and embodied in the young Christian Church, unable to conceive of its Saviour as a mere creature of time and space. His argument was that a true human instinct, seen recurring again and again in the highest emotions of the race, is of itself proof of the Divine response. God must be more than man's highest hopes, and must fulfil such human need. Towards the end Oriane's attention turned to a muse on what had been said. Then she was aware of hearing him say, 'The human need to-day is not a Christ that is a mere human ideal—everything, everywhere, that a man may chance to desiderate, nothing that he does not naturally admire. Our ideas mould us. If we mould them, if no other hand be laid upon them to do violence to our puny dreams and coerce them into grandeur, it is ill for us. It is a transcendental Christ, the personal Jesus whom we require—one who, going with us, will offer resistance to our wishes and make us greater than we are. We cannot hark back to the past for any final letter or final institute. All history shows that when a religion begins to look back-

ward to its golden day it is decadent. Yet let us not go into a future unless He goes with us—Jesus of Nazareth, who will as surely contradict our ideals as He contradicted the ideals of His time.’

Oriane’s enthusiasm over this utterance was heightened by that of the congregation about her more than she was at all aware of. The speaker’s extremely quiet manner led her to suppose that she was forming an independent opinion. She thought she had found in this doctrine a clue to all the mazes of Christian dogma.

CHAPTER XXXII

THE NIGHT RIDE

THE heart is apt to be light when a crowd in heartfelt chorus pours forth its doxology. Till the meeting was over Oriane had felt reckless about the return journey to Mosford ; but she was immediately forced to recognise that she was not accustomed to driving in the dark. Mr. Ward had no fears ; it had not occurred to him that they could not speed home as easily now as in the daylight, and Oriane saw nothing to be gained by distressing him. As is so common in an English winter, the cloud wrack which obscured the sun had vanished along with the light and warmth of day, and the moon, dimmed by the city smoke, hung clear, giving promise of all her light on the country roads. But this was not enough to satisfy Oriane's prudence. She had realised that Mr. Ward ought to be cared for rather than leaned upon. She tried to hire a chauffeur at the garage, but the occasion was unfortunate ; no trustworthy man was available that night. She looked into the street, troubled now, not knowing in the least where courage ended and foolhardiness began.

Then she spoke guardedly to Mr. Ward, who was patiently awaiting her pleasure.

‘You are very tired—shall we stay all night at the “Queen’s”?’

He looked down with a smile. ‘This benighted country of yours—incredible as it seems—affords us no means of telegraphing until morning. Alack, that in my old age I should ever have to come to such a backwoods settlement—no telegraph office open, and not one telephone wire to Mosford!’

‘When you wired, did you say we should come?’

‘I never thought of anything else; so now, unless it is impossible, we ought to go. Your aunt and my wife will be hunting the roads for our scattered remains if we don’t turn up.’

‘It is a benighted country, I admit.’ She looked about, not knowing where to turn or whom to ask.

As they stood in colloquy the old man did not need to make the gracious droop of head and shoulders that was his natural attitude in speaking to women. Oriane stood straight and tall, like a youth ready for some athletic game. Her long fur-lined coat, open and thrown back, made a rich frame for the firm, rounded curves of her slender figure. Against the sable of the collar her golden hair shone in the lamplight. Her fair face was crowned only by a small hat of folded cloth. All that she wore was brown, except the long, white veil she absently held in her hand. The deep rose bloom of her fair cheek, the bright-

ness of her eye, spoke the stir of emotion within. Some one who was then approaching did not fail to observe every line and tint of the picture she made.

Down a long passage between the hotel and the garage she saw an ungainly figure coming at a fast, business-like trot, and she recognised the preacher. Her heart leaped. It was a moment when she, usually so independent, was ready to appreciate a guardian oversight.

'Ah, I am in time. I was not sure where to look for you first. I believe you said that you had no servant with you?'

'I am taking care of her,' said Mr. Ward.

'I came to ask——' He hesitated and looked at Oriane.

She moved a little back and briefly laid the situation before him. His solution of the difficulty took her quite by surprise. 'Will you be so kind as to take me with you? Mrs. Ward has frequently invited me, and to-night—perhaps I may as well be straightforward—I do not think you ought to go alone with the dear old man. Should any difficulty occur, he ought not to exert himself.'

Oriane felt glad, but at the same moment incredulous. The man she was speaking with had presented himself to her almost entirely as mind; it had not occurred to her that he could be of any muscular use. She had pictured him as living exclusively in libraries and pulpits. In that moment he became real to her as he had not been real to her during all the years of their separation.

'Are you willing to commit yourself to my

driving?' she asked. 'I never drove in the dark except the last few miles into Mosford, where I know every inch of the road.'

'I don't think you will find it difficult. There will be no traffic, and we need not hurry.' He added, 'If you cannot manage it, I can.'

'Can you?' she said. 'Can you really?'

'Oh, I do not know your car. I do not want to interfere unless at your bidding; but such things have been known as full stops on a motor drive, and in that case you would need help.'

Oriane could not get over her surprise. 'You don't,' she murmured faintly—'you don't motor in Babylon, do you?'

He smiled at last. 'Do you not know that the next ship of the desert is to combine the virtues of the camel and motor? I have been broken in to both, and I am thinking of taking out a patent for their combination.'

'The next thing you will tell me is that you can wield a spade and pickaxe; but I should not believe you, for I know that the only thing you ever do is to stand under an umbrella and give orders to your myrmidons.'

She was in her happiest humour, and together they wrapped the rugs about Mr. Ward in the back seat. Oriane cautiously drove the car out of the great, damp, smoky town; and soon the leafy district of Arden lay around them.

Oriane stopped to investigate an unlawful click. They both got out, while Mr. Ward leaned over, pleasantly jeering at their anxiety.

'The number of queer sounds that a machine

can make without doing itself or anybody else any harm is a thing to make one pensive,' he said. 'Personally, I think that the little demons which don't inhabit men any more get into machines and amuse themselves by chuckling at odd times. Do one of your incantations for us, Nathaniel, my boy. Is it the *shedu*, or the *ekimmu*, or the *utukku*?' He clicked out the names almost as a machine talks.

'And to think,' went on the old man, as he bent over Oriane while she examined a back wheel—to think that we are in Arden! And it isn't "as you like it," but as the motor demon likes it. "When we were at home we were in a better place, but travellers must be content."'

They could not discover that the demon was doing any mischief. They took their seats again. The night stretched fair before them under a dome of burnished silver sprigged with faint constellations, lit by Dian's lamp of pearl. The country they were traversing was glorified by verse and story, as well as by its present physical beauty.

'You have had a long day; are you tired?' the Professor asked Oriane.

'Not at all. I never felt fresher in my life; and I'm not afraid of driving now.'

Then it occurred to her that, as he was a hard-working man, and had always as many engagements as he could perform, he had probably given them his protection at some inconvenience. With an access of gratitude she suggested this to him.

'Yes,' he said, 'there are several other things that I ought to have done if I ought not to have

done this ; but——' He paused, and then said deliberately, 'Providence has given me some hours of perfect joy ; I had no reason to expect that such delight would ever be mine.'

Oriane understood these quiet words to be a declaration of his continued regard for her. She made no reply. She had now a sense of perfect security as to his intentions ; it only remained for her to estimate her own will in the matter. For the first time she acknowledged to herself how strong her sympathy for him had always been, how whole-hearted was her present respect and liking. Her emotions began to blossom out into happiness, and her imagination was filled with involuntary images of beauty. She did not feel the slightest desire to say anything, or that he should tell her more than was already told. The joy of motion in the pure night air, the beauty of the way, enthralled her. Whether in leafy lane or in the open by the silver river, whether passing by the battlements of ancient story or by the quiet cottages where domestic peace lay sleeping, Oriane drove on, more than content with the luxury of silent understanding.

The winter night sped past them as they went ; and Oriane never thought that its silver moments, which (as he said) were pure joy, were few and to be treasured as a miser treasures gold. It seemed to her rather that the joy of a lifetime, nay, of immortality, had just begun ; that what was so heavenly a gift had been given after the manner of heaven, without measure or stint.

Mosford was safely reached. As Mr. Ward

had foretold, his wife's lamp was burning brightly, and she herself looking out for his return. Oriane had the pleasure of seeing the happy old man enter his own door with springing steps.

Miss Kennedy's stables were upon a side street, and, after waking up the groom to receive the car, Mr. Pye walked round to the house door with Oriane.

'We shall see you to-morrow,' she said.

'No; I have no choice; I must go by the early train.' Then he spoke again in that same deliberate tone that told her his heart was speaking. 'I have had an untold pleasure—more than I ever hoped for. It will always be a golden memory—the happiest memory of my life.'

He went away slowly. Oriane stood, holding her latchkey, looking out from the jasmine-covered porch, looking at heaps of leafless snow-berry bushes translucent with the level light of the setting moon. All her life afterwards she disliked to see the moon set.

CHAPTER XXXIII

A SOLITARY

WHILE Oriane busied herself about the house and garden during the next days, and volunteered little detailed information of the day at Birmingham, the aunt waited. She was aware that Mr. Pye had preached the sermon that ended the conference, that he had been more or less in their company during the day, that he had come to Mosford in Oriane's car.

'Why don't you ask me about the meetings?' said Oriane at last. 'I don't exactly like to launch out into any description of them, because I can't get my various feelings and ideas sorted into order. If one tries to find expression for the highest one can understand, and in the same breath speak about the new Education Bill and the pleasure of meeting distinguished and interesting men—when one tries to talk of all these things at once, it seems to belittle the highest theme; it seems to accuse oneself of shallowness.'

'Let us take them one at a time,' said Miss Kennedy. 'I should like so much to know your impressions of the religious aspect of the meetings.'

‘The meetings hadn’t any aspect except a religious one,’ said Oriane; ‘but if I tell you that I seemed to get hold of something at them which I never saw, or even dreamed of, before, and which has made everything seem of more vital importance and more sacred, I am afraid that you will think that I only imagined the religious aspect because I was excited and delighted in other ways. I have very nearly become a Liberal; I am not at all sure I shall not begin lecturing in favour of the new Education Bill. I did not hear a single word said about politics or the Education Bill; but what I saw of the people who advocate it has made me consider the question. I am beginning to realise the Liberal point of view. Then when I go on and confess to you that I was very much flattered by Professor Pye’s kindness to me, and also by finding that he had a quiet way of talking to me as if I was better able to understand some of the points that specially interest him than others are—that flattered me. I say it quite openly—I expand with vanity when I think of it. Therefore I feel convinced that if I try to tell you what was really more important—what I do not in the least confound with these other things myself—that after we had sat all day at the conference, and at the end old Mr. Ward got up just in his own seat and said a few words about what the love of God meant to him—then I knew for the first time that if I had ever worshipped anything before, it was for me only an idol, and that if I should never again see the sunshine or feel an hour of pleasure, life would still be inexpressibly rich and

well worth living—I know that you will think that all this impression was in some way mixed up with the breeze of new political ideas and the glow of gratified vanity.'

Miss Kennedy had been thinking how little vanity Oriane had. She looked with critical eye at her as she stood in the centre of the white drawing-room. The pure white evening-gown which she wore was not of more delicate tint and texture than the shoulders and arms that it displayed; the pink rose in the golden hair was not brighter than the rosy cheek. Had she realised her own claims to attention—her singular freshness and beauty, combined with a mental poise which most women only attain with the loss of their freshness—she could not have been in the least surprised, nor much gratified, by any adoration that a man could offer—at least so the aunt thought. She said, 'After all, everything that we call trivial, or relatively trivial—the common things of life—must be a sacrament, must they not? I think the Bishop said that in his last confirmation address, didn't he?'

'Whenever you say anything that you have really thought out, you try to make me believe we heard it from a bishop or somebody else,' replied Oriane.

There was, in fact, one very strong resemblance between the aunt and niece, a common inheritance, perhaps developed by companionship. It consisted, not so much in shyness as in an instinct of extreme reserve in purely personal matters. Few who did not know them well suspected the strength and

tenacity of this reserve, and neither woman was entirely sure of its extent in the other. Just now Miss Kennedy did not know whether Oriane was in love with Nathaniel Pye or not, and Oriane was aware that she had never been sure how much her aunt really cared for an exclusive Church doctrine or her political party.

Miss Kennedy went on, 'I am not sure that you can divide things as clearly as you say; not because I think you are likely to confuse them as much as most people do, but because I doubt whether there is any division, just because we cannot get at what is spiritual except through what is material. I doubt if our impulse to distinguish between them is as reverent as we are inclined to suppose—to distinguish, for example, between religious impressions and impressions that certain people or sets of people make on us.'

'You are, no doubt, right,' said Oriane, looking out of the window.

'The inanity of the remark is atoned for by the absent expression of your eyes,' said her aunt.

Oriane laughed. 'But I want to ask you, did you ever realise that, while we hear so much talk about schismatic sects, all those sects can, despite their differences, join each other in the Holy Communion, and that they invite us to join with them while holding our own views. Mr. Ward tells me our clergy are invited to preach in their pulpits, but cannot; we are invited to join in their worship, but we will not. For such occasional union they do not demand of each other or of us any change of belief or practice, but

simply to cross, for the time, the barriers that exist. This has made a great impression on my mind. Unity in diversity is nature's law. Compared with it, the idea of external conformity seems to me so artificial, so paltry. It would appear that we who refuse to say our prayers with them are the only schismatics.'

'Have you travelled so far?' asked her aunt in astonishment.

'Oh,' said Oriane hastily, 'I do not say yet that I have travelled at all. I am only looking over the garden wall and telling you what is outside; but I feel that I should like to begin telling our own set of people what I see.'

'If it is not really against your conscience, I should personally be much obliged to you if you would refrain from addressing audiences this year. By next year you will have made up your mind and must do what you think it your duty to do. Ethel would grieve herself into an illness; Willie would laugh and sketch you with your mouth open; the Browns would attack you with umbrellas; you cannot be quite sure that it is your duty to hurt them so deeply by telling the truth until your new principles are a little older.'

'Would it hurt you, my beautiful?' asked Oriane with intense curiosity. 'Do you care which side I am on?'

'It could not hurt me,' said the aunt; 'for although at present I am extremely loyal to my party, your new mission would necessarily begin at home; until you had convinced me you would

not go further, and after you had convinced me I should agree with you.'

Oriane laughed. 'You are such a dear worm !' she cried. 'I never can get you all out from underground.'

In all this Oriane betrayed nothing of the storm that was raging in her heart. She knew that she had freighted one hope with all possibilities of earthly good, and that the frail barque had in some way suffered wreck. He had said that those hours with her would be his happiest memory. The word 'memory' echoed in her heart ; it held no hope. More than once in those days, when she found herself alone, she stretched her arms above her head as if to relieve a sense of suffocation, and said audibly, 'How terrible to be a woman !' It seemed to her that she could face any open grief that she could understand and estimate more easily than this inexpressible desire to question him and explain herself. Whatever he had or had not meant to impart to her, he had given her no right to question or protest. She supposed that some women in her case would have feebly sought occasion to write notes to him on trifling matters, saying smooth things to give him further opportunity. She had no such low opinion of him or of herself. She believed that a sensible man could make his own opportunity. If he did not speak, he must have good reason for silence.

She knew him well enough now to understand how very deeply he could be hurt by an offence that many men would easily recover from.

Having been hurt at first, and shrinking from all that would reopen the wound, how could he have foreseen that she, of her own free will, would wander into his path of life? She did not blame him if meantime he had forged some fetter for himself in a way of life which he could not share with her.

Her greatest pain seemed to her to be, not her lonely fate, but that the strongest emotion of her life found no place for expression. His whole manner had made her think that he did not suppose for a moment that he commanded her interest, still less her affection. She could not rejoice, as many women would have done, that she had kept her secret. Again and again she said to herself, 'If he had only questioned me by look or word, if I could only let him know, just for once, that this sorrow is mine more than his, I should be content.'

Whatever the cause of his present attitude, she was sure that the cruelty, the wickedness from which she suffered, were not his, but bound up in those principles and habits of thought which so far had been her environment. The revolt of her spirit was silent and intense.

BOOK VI
ETHEL'S SUCCESS

CHAPTER XXXIV

A HOUND ON THE TRACK

So great, so very great, is the power of whole-hearted perseverance on the part of one human being in appealing to the better mind of any community, that, by the time a month had passed, Ethel had created a new soul of generosity and love among the religious women of Mosford. Miss Brown herself had made cheerful music for Mrs. Cole's mothers' meeting, and played the accompaniment when Mrs. Cole sang to the applause of the Anglican mothers. Lady Sarum had given a tea to the children of Mosford, and Mrs. Cole had had the presentation of half the tickets, while Simmons had helped Ethel to cut up the cake.

Old Mr. Ward was as happy as a king, not only because he thought a better day was dawning in his nephew's parish, but because Ethel's children were constantly in his company.

No news came to Mosford of Nathaniel Pye. Oriane ceased to upbraid herself for thinking of him; she succeeded better in turning her mind away from the personal issue to an increasing

interest in his work. She supplied herself with books that bore upon it. Each indication that Ethel was trying to be more friendly to her relatives, and to steer a course that must meet their approval, gave Oriane a sense of stronger and stronger distaste for her friendship. That Mr. Ward should take Ethel's golden repentance so kindly made her feel a little jealous ; Oriane had begun to be very fond of the old man, and to regard him as her special friend. Then came an invitation to pay a long visit to some relatives in the north, and Oriane felt the more glad to avail herself of it because she was out of gear with her surroundings.

Oriane went to Dunachan Castle, where there was a large house-party. She took her aunt's maid with her, a concession to fashion, for she never allowed a servant to touch her hair and would have preferred to travel alone. She shot some poor little live things with great gusto ; she golfed very badly, but was very keen on it ; she tramped over grey moors, feeling a wild joy in the frosty wind. The one thing she found herself quite unable to do was to pretend that a life of pleasure and leisure was a respectable form of existence for the able-bodied. She knew she was expected to amuse one or two quite nice men who had no further aim in life than amusement ; she found herself taciturn and scornful of their busy idleness. She had the bad luck to be suddenly and greatly admired by an oldish man with lots of money and only a vague connection with borax. She was kind to him because he was one of the

few who did not talk party politics ; she thought he made an ill return. She listened in silence to all the rabid Tory abuse of opponents, and wondered how to sift out the truth that must be in it. While she rejoiced in the Scotch winter and the Dunachan moor, she spent what time she had to herself in reading archæology. She was making up her mind that she could not be happy until Mr. Pye had the money he wanted for his excavations, and wondered if it was in her power to lift any stone under which it might be found. One day, Sir Somebody Borax made some remark to her about her personal beauty and the grace of her carriage, and Oriane gathered together Miss Kennedy's maid and her few possessions and went back to Mosford.

Three weeks had passed. She said she had had a delightful visit. For some days she kept Miss Kennedy laughing as she depicted with graphic humour such amusing situations as she had seen. Then one evening, as she took her work-basket in her hand and was going upstairs for the night, she said :

‘I am sadly afraid, auntie, that I was what they call “really converted” at those meetings I went to with Mr. Ward. I can’t somehow see things as I used to take for granted that they were, and as all our people see them. It’s rather a misfortune, but, do my best, I cannot help being convinced that most of our friends look at things through the wrong end of a telescope. Then, too, I feel as though all the people we know could be classed and paired, or put into different boxes ;

but there is no box for me, and I don't pair with anybody ; I am left out. Yet I can't be at all good, for I feel so superior that I do not want their society.'

'It doesn't sound like what the good books call "conversion,"' said Miss Kennedy.

'No ; that is exactly why I am afraid it is terribly real. I don't want to go away and be a hospital nurse, or a ministering angel to any set of people, or to give jam to the poor, and I'm quite determined to give up my class in Sunday School. I think it's very right to do those things, but just now for me they don't go deep enough or far enough to touch either the terrible pain or the terrible joy of life.'

'So far your grace seems rather negative,' said Miss Kennedy.

'Good and evil seem to me so much more real than ever before, and so terribly different from one another ; and the good, you know, is so much greater that if people would only bask in it and take it in and grow in it, they would set about the reform of the whole of life in a different way. They would go about it as gently and effectually as the mushrooms when they lift up stones. Just now we are all running about like ants, and the stones are not rolled away.'

'Ah,' said Miss Kennedy, and the twinkle softened in her eyes.

'I am so little permeated with the sunshine that I must just bask for a good while yet.'

'St. Paul went into the land of sunshine,' said Miss Kennedy.

‘Of course I—I am a very small person indeed, and I think the smaller you are, the longer you need the sunshine of Arabia,’ said Oriane.

She went away ; and the aunt knelt by herself and read psalm after psalm of thanksgiving, for she believed that Oriane had received the true vocation.

Finding that the Wards were interested in every side of human life, Oriane told them about her visit, told it without a comment—all about the Dunachan family, their ancestors and their ghosts, their economies, their extravagance, their rudeness and their sterling worth, their habits and their politics, their servants and their animals, and the habits and notions of their friends.

The old lady asked several astute questions about the order of the household, and how often the servants got out to church on Sundays ; and she said she thought Lady Dunachan must be a godly woman and a very nice relation for Oriane to have. When she heard that there was a little blind boy in the Dunachan family, she took him to her motherly heart, blessed him audibly, and was sure that in some way a great happiness would befall him to make up for his pain.

Mr. Ward had the Scotch land laws on his mind. He wanted to know how the law at present worked on the Dunachan estate, what change, if any, would really make things better for landlord and tenant.

‘This Dunachan,’ he said, ‘would seem to be a fair-minded fellow—what does he think about it, now?’

Oriane marvelled. 'It does not appear to me that it makes the least difference what he thinks,' she said. 'He thinks just what his fathers and his neighbours and his party and his class think. To my mind that means that he does not think at all; he just hunts in a pack, as the hounds do. What use are such a man's opinions except to swell the bay of the pack?'

'With a variation,' said Mr. Ward. 'Now, I think if you talked to Lord Dunachan long enough, you'd find that there was a personal factor in his opinion; and it's that, however small it is, that's worth getting at. You would probably see more sense in the Tory contention if you got down to the real man. I believe in getting down to hard facts. You'll always find the working of the Lord behind facts. I don't mean masses or classes of facts; they're good enough in their way, but it's awfully easy to go wrong in totting them up. The best way to check them is to get back to the individual and have a good, long friendly chat with him. Get at him deeper down than the balderdash of his set. Did you try that, now, Miss Oriane? Did you get at anything he really thought for himself?'

'No,' said Oriane slowly. 'You see, I am still rather young, Mr. Ward, and very ignorant, so that if I had begun to talk to him seriously I should have been sure to pour forth volleys of my own opinions at him and omit to listen to what he said—it is the way of ignorance.'

'Eh, but you've come a bit further than that,' said he, 'for, you see, you know a little something

about your own weakness. But I'll not say,' he added, 'but what I might have come to logger-heads with him myself.'

'I haven't told you all the things I thought about them,' said Oriane; 'but I may now say, in a general way, that, although I enjoyed myself very much, I hated some of them and despised the others, and didn't love any one except Lady Dunachan and the dogs. The man I really liked best used sometimes to get drunk at nights—in his own room, you know; nobody was supposed to know—and then he was always horribly sorry the next day at tea-time; and every one felt horribly sorry for him, but was too polite to show it.'

'I'm glad you liked him,' said Mr. Ward, 'for very likely he's going into the Kingdom before us.'

'Oh, I wish,' cried Oriane with sudden feeling, 'that you had been there to tell him that! You see,' she said, trying to laugh at herself, 'I felt in a dull sort of way that that was what was needed to put him on his feet.'

The old man went out to the door to fetch Oriane's overcoat and umbrella, for the day was stormy. Mrs. Ward made a sign to her that she would like to say a word in confidence.

'You will excuse me asking you something, my dear; I would not like the suspicion to enter my husband's mind if it is unfounded.' Then she asked quietly, 'Have you any reason to think that Ethel Compton could in any way have found out that we have money to leave?'

Oriane could not think what she ought to say. It was evident that the old man had not told his wife what Ethel had overheard. If he had not, he must have the strongest reasons for silence. And she, what right had she to tell what he had not told and what she had promised Ethel never to refer to in any way? But something hurt her.

‘Surely, Mrs. Ward, you don’t think I broke my promise to you?’

‘Oh no, my dear; I know you did not. But of course there are a few people in Canada who know about our affairs, and one never knows how such rumour may come round.’

‘There is no such rumour in Mosford,’ said Oriane. ‘My aunt would have heard it.’

‘But I think I gather from your silence that you are not sure that Ethel does not suspect?’

‘Then judge my silence as you will, dear Mrs. Ward; for have I not sworn never to let myself speak or think of this matter.’

Oriane walked half-way home in a spring storm; then she suddenly put down her umbrella and let the rain beat upon her face as she strode on fiercely. Another thought had come to her—what if Ethel had never told the old man, and had lied to her in order to buy her silence? It was not in Oriane’s nature to conceive of anything half-way between truth and a lie.

CHAPTER XXXV

VICTORY IN SIGHT

For a little while Ethel was happy in the apparent success of her reconciling activity. Every step she had taken had augmented her faith in her own course of action. Not only had she done nothing but what was right, but the very doing of it had revealed how wrong it would have been to leave so good a work undone. Her husband admitted this and approved ; Mr. and Mrs. Ward were deeply pleased.

Ethel explained to them all how far-reaching was the work she had accomplished, because, as she said, the wife and mother in every home, Anglican or Dissenting, was now in a position to see the best, and not the worst, of the other side, and her kindly feeling would soon be communicated to her husband and children. But, in truth, Ethel was in this beginning to do more than even she said or dreamed of. Any thoughtful observer must be aware that the inward sore of our Christianity, especially in rural life, is the partisan rancour of pious women, which hides its ugly deformity under the cloak of principle. Women

who in every other respect are graceful and gracious, harbour the twin demons of wilful ignorance of, and hostility to, their neighbours in the very depths of their religious life. In the atmosphere of this rancour sons are nurtured and husbands live out their domestic life; and when in the larger life of the world these partly realise its absurdity, they are still deeply influenced by it in their serious moments. The circle of circumstance in cause and effect frees the woman from the greatest blame while she remains the cause of the deepest mischief, for all the food of her hatreds she commonly gets from the very men who are afterwards pulled and pushed by her hatreds from the path of justice. It is the alchemy of the religious passion which transforms his more idle prejudices into the intensity of her determined ignorance and party feeling; but unless we are prepared to admit that sustained rancour is a Christian virtue, we cannot suppose that the religion that thus lends itself to be exploited is more than partially or nominally Christian.

Women of Ethel's type have a strange, subconscious cleverness in estimating another's weakness by their own, and thus choosing the best means to accomplish anything on which their hearts are set. The few heart-felt words of enlightenment which she was now continually saying to every woman of her acquaintance were gradually revealing to the best of them the true nature of their own blindness. The outward reconciliation she had effected was but an earnest of the deeper and, in a sense, eternal work she was inaugurating;

but it dazzled her eye, and she almost thought her battle was won, until she discovered that Mr. Ward regarded all that she had done as a mere prelude.

A new Education Bill, dealing with religious teaching in the schools, was brought before Parliament, and the controversy which had long engaged every religious party in the nation gathered to another head. As all political parties were trying to make capital out of the new bill, the battle raged more bitterly than ever. There was hardly a newspaper, religious or secular, that was not engaged in the application of fresh irritants. On each side every one was assured that the bitterness and injustice and evil-doing were all on the other side, that the other side had no real grievance, their imaginary grievance being put into their heads by merely wicked politicians.

Mr. Ward was greatly distressed by the threat, which rose louder and louder from a growing section of practical people, that as Christians could not agree, Christianity would have to be excluded from the school curriculum. The old man was ready to weep when he spoke of this possibility. He was anxious that each religious party should yield part of their supposed rights in order to secure Christian teaching for the children of the nation.

‘Poor lambs,’ said he ; ‘what have they done that the teachers to whom they look all day long should not make them familiar with the beautiful stories of the Gospels ?’

The matter was a supreme interest to his mind,

and Ethel ruefully began to think that if Cumnor could not be brought to agree with him in the desire for compromise, he would be more likely to endow some scheme of Bible education with his money than to leave it to a man who, as he thought, was, with others of both parties, provoking a great national disaster. Ethel was satisfied that Mr. Ward's age and intensity of feeling combined to make it quite impossible for her by any persuasion to modify his views.

When she entirely realised this she fell for the time into something of that mental distress and physical prostration which had accompanied her first knowledge of his wealth. For a few days she could hardly look at her husband or children without an almost frantic compassion ; so near, so very near, had the source of all earthly blessings come to them, that the thought of their continued poverty and narrow, grinding life wrung her heart. Her eyeballs burned ; her thoughts were tumultuous and feverish. She sought relief in almost constant prayer, silently entreating Heaven to come to her aid. She did not now repeat her first perplexity and indecision ; having made up her mind that her course so far had been right, her only question was how to continue it successfully.

All the religious instruction of her own life had been on the lines of the Anglican doctrine which Mr. Ward and his friends proposed to banish from the very schools built and long supported for the purpose of giving it, and she could only recoil with horror from the thought.

'But,' said Mr. Ward to her, 'why do you

Anglicans not take in hand the support of schools where you could teach what you like?’

‘And pay our rates for the Government schools too?’ cried Ethel.

‘Greater sacrifices than that have been known for a religious cause,’ said Mr. Ward.

Ethel became voluble about the sacrifices of Church people in all directions, but she soon saw that an old man who lived with the simplicity of a peasant while in command of a large income was not likely to be impressed by her stories.

It was after this conversation that Ethel’s fit of depression came. She was in a slough of despond, but so golden was the country she desired to win that she did not struggle out on the side on which she got in, but reached the opposite side.

One day Ethel said, ‘You know, Cumnor, there is something about this education battle that you are fighting that I cannot quite understand. Why is it as bad to teach children part of the truth as to teach them falsehood—provided that they are not taught that the part is the whole?’

‘To what do you refer?’ he asked. He could not conceive she meant what she seemed to say.

‘Well, of course I have always assumed we were entirely in the right; but when the Browns and you were talking the other day, it seemed to be understood that if the Dissenters will not allow us to teach the children the Gospel stories plus the Catechism, we with equal reason object to our children being taught the Gospel stories without the Catechism. Now, I can’t quite see that. We admit that our Catechism is

in their opinion positive error ; but we don't consider the Gospel stories they want to teach to be positive error. Why do you contend that it is no worse for them in Mosford if we teach their children the Catechism than it would be for us if they taught our children the parables and miracles ?'

John Compton simply stared at his wife. 'My dear Ethel, we surely do not need to go over the whole ground of this tiresome controversy together !'

'Well, I suppose, dear, it is tiresome of me to ask you questions. Still, as we are all saying that we want to be just, I should be sorry to find any trace of injustice on our side, because it must tell against the Church more than any blow struck at her from without.'

'Whatever may be said about our contention, it is clear to me that it is just. If I were an atheist or a Jew, I should yet be able to see that a trust deed ought to be respected, and that one party in the nation ought not to thrust its views of religion upon the rest.'

'But I am just asking you what private views they would thrust upon us by teaching half of what we now teach and no more. The trust deeds is a separate question.'

The next day, however, Ethel found the proof-sheets of the page Compton had written for the next month's parish magazine. He was out ; she had gone to his study table to leave some accounts for his inspection. When she read it a tremor seized her, and she was obliged to sit down in his

chair and hold her head in both hands until she had steadied herself a little.

The page ran : 'The Government's education proposals threaten the foundations of our national life and character. All who watch the political movements of the day are aware that the members of the new Government are the bitter enemies of the Church. The Bill they have put forward is deliberately aimed at the Church of England, and seeks to force upon the whole country the teaching of the Nonconformist religion, and without regard to the teacher's fitness. It need only be pointed out that their proposals would enable an atheist to be appointed head teacher of our boys' school, a Roman Catholic of our girls' school, and a Baptist of our infants' school. This Bill is being urged on by the Nonconformists, not with a desire to help education, but to cripple the Church.'

Poor Ethel could read no further. 'What shall I do?' she moaned. 'Oh, what shall I do? He will certainly be disinherited for this. Oh, my poor husband! my poor children!'

She looked again at the sheet, and found, among other items of parish information, a paragraph explaining that the vicar had felt obliged to refuse to take the chair or speak at a Temperance meeting on non-sectarian lines, and to avoid misunderstanding he thought it right to state that his views on Temperance were unaltered, but that it was impossible for him to co-operate with the Nonconformists as long as they were the would-be robbers of the Church.

When Cumnor came it happened that he was not alone. Miss Brown came in with him to get some literature pertaining to the Girls' Friendly Society. Cumnor opened his study door and then stopped suddenly in surprise and alarm. Ethel had sunk upon the hearthrug and was weeping bitterly. His heart stood still; nothing less than dire misfortune to one of the children appeared to him to account for such indulgence in grief. He staggered forward with incoherent questions and lifted her to her feet.

Ethel had no desire to exhibit her emotion. Her tears were genuine, and she made some dignified effort to check them and to hide their traces.

'No; it isn't the children; it is only that what you have written for the magazine hurts me so. Some way or other it just breaks my heart. I am sure it is not true or charitable; and oh, Cumnor,'—and again her tears flowed—'I cannot bear to think that you—you of all people—should sin so publicly against truth and love.'

'My dear! my dear!' cried Cumnor, too amazed to remember what he had written, 'I would not for the world print anything that could distress you thus.'

'Dear Anna! don't go away,' cried Ethel. 'I am ashamed that you should find me giving way in this weak fashion, but stay and tell us what you think, for I am not as clever as either of you, and you can help us.'

There are few psychological facts more curious than the swift unerring instinct with which a

excitable woman lays hold of and uses an accidental circumstance to accomplish her purpose. With the swiftness of vision which might almost be called second sight, Ethel foresaw the conversation she was about to have with her husband, and without any train of conscious reasoning she was sure that if Miss Brown were present she would side with him, and that alone would tend to bring him round to his wife's side.

'I can't imagine what offends you,' said Cumnor. He looked about for the leaflet which he had not yet corrected, but it was folded tight in Ethel's hand.

'What have you been writing, Mr. Compton?' asked Miss Brown. 'No attack, I hope, on the Methodists? for Ethel has just persuaded me into eating such an enormous piece of humble-pie for my truculence to them, that I assure you I never want to hear them mentioned again.'

'Dearest,' said Compton to his wife, 'you are looking very ill. Do sit down. You surely are not at variance with what I wrote about the Education Bill?'

'It would be impossible for you to characterise that too strongly,' muttered Miss Brown.

'Don't, Anna!' said Ethel reproachfully. 'Don't! It hurts me so when you talk in that way; because, after all, we are women, and we ought to be loving and gentle even if it is necessary for men to go out to battle.'

Miss Brown was touched, as was natural, by Ethel's tears. 'She really is turning into a saint,' she said to herself; but sainthood in

its first stages, she reflected, was sometimes extravagant.

‘Well, Ethel,’ said Compton, ‘let us hear.’

‘You say,’ wept Ethel, ‘that the new Bill is aimed against the Church—“aimed.”’

‘Well, so it is. Every Bill is aimed at abolishing some abuse, and this is aimed at abolishing the national power of the Church—it is a first step.’

Miss Brown chimed in. ‘It is a first step—and a pretty big one.’

‘Then you say that the members of the new Government are the enemies of the Church: but most of them are Churchmen.’

‘A wolf in sheep’s clothing is the worst kind of wolf. The Bill is inimical to the Church; no one except an enemy could help to bring it in.’

‘Oh, my dear,’ cried Ethel, ‘I cannot tell you how it hurts me to hear you speak so.’ Ethel had ceased to weep now. Her cheeks were burning; her eyes were glowing; her voice was high and clear; her mind was marvellously clear. She looked like a woman either mad or inspired. ‘You might as well say those who promote an Eight Hours Bill for miners are the enemies of the colliery owners; you might as well say that those who believe in regulating public-houses more strictly are enemies of the brewers. Are you willing to say that in your magazine? You would not dare to say that, therefore you ought not to say this! You cannot honestly say anything against those who bring in this Bill except that they differ from us as to what is good for education.’

In her husband's expression astonishment was only less than tender concern.

Ethel went on. 'O Cumnor, admit that what I am saying is reasonable! Promise to alter these phrases! I can't bear to think that in future years you may look back to this time and read over such remarks as these with bitter regret that you flourished a sword when you ought to have sought peace.'

'I wrote the paragraph very carefully,' he said, 'and I was not alone in approving of it. Briggs of Ducklinghoe and my friend Dinsmore have both seen it, and agreed to put virtually the same thing in their magazines.'

When Miss Brown heard this she was confirmed in her belief that the vicar was entirely in the right, but she regarded Ethel's passionate protest with respect almost mingled with awe.

'You are awfully charitable, Ethel,' she said. 'I really think you have the tenderest heart of any woman I know. But all the same, my dear, the clergy ought to let their people know that the present Government are a pack of canting hypocrites, and that they only got into office by promising the Dissenters to attack us. To do a thing like that is just like selling one's soul to the devil.'

'Nay, I would not go as far as that,' said Cumnor smiling. 'Their intentions are so openly inimical to us that I hardly think we need add the charge of hypocrisy.'

'But they pretend it's all in the cause of education—that's what I call hypocrisy,' said Miss

Brown. 'Indeed, Ethel, if you read *Church Chimes* you would know that Mr. Compton has understated the case.'

Compton could not honestly feel he had understated the case. He had, indeed, intended to state it accurately but very forcibly. 'Perhaps I have said a little too much,' he said.

'I think it's dreadful what you say about the atheist and the Roman Catholic and the Baptist. Can you seriously think for a moment that any decent set of school managers would make the arrangement you picture, unless indeed under the almost impossible condition of those candidates being greatly superior, both in character and attainments, to any others before them? How often have you told me that people do not carry the practice of any rule to a logical issue! And then,' Ethel went on, 'here at the end you advertise the fact that you have refused to take the chair at that Temperance meeting. If that is true, Cumnor, I think we ought to hide it for very shame instead of proclaiming it. How awful the mass of intemperance is! and how powerless we are against it single-handed! And here is an opportunity of standing shoulder to shoulder with men who are making a united effort against it. How often you have preached that when we neglect an opportunity God shuts the door! We cannot enter the door of neglected opportunity when we will. And why have you neglected this one? Simply out of ill-temper, because you attribute to these men motives of which I am sure they are innocent.'

Compton gazed at his wife in amazement. Then, when she said no more, he answered from his own point of view, and said what he had to say ably enough. But when he was warmly seconded by Miss Brown, and Ethel stood before the two like a hunted animal, he repented.

‘You know I cannot argue,’ cried his wife. ‘I am not half as clever as you are, but my heart tells me that this is wrong. I entreat—I implore——’

‘There! there!’ he said, ‘I cannot ignore your strong feeling in the matter. I will alter the paragraph. Your insight may pierce to a truth deeper than my logic.’

Over Ethel’s face came a rapt expression. ‘O Cumnor, I think your own heart, when you let it speak, will show you a deeper truth which will guide you in this matter. You know,’ she added softly, ‘we must always remember that without charity we are nothing.’

Miss Brown went home thinking that Ethel was too good for this world, and Compton extracted from his leaflet what his wife disliked.

CHAPTER XXXVI

SECOND THOUGHTS

ETHEL won her victory about the parish leaflet by sheer intensity of will and emotion. This hour of intensity had given her a taste of the brain power often produced by such stimulation. The experience raised her hope still higher. She thought it might not be impossible to change Cumnor's whole conviction concerning the kind of religious instruction essential for the day schools. At first she questioned the righteousness of the attempt. Then she set herself to argue the case impartially before her own judgment. Then the parties in her fancied court imperceptibly shifted, and she found herself in imagination arguing with her husband, he on the one side, she on the other. She mustered every argument she could think of, dwelling most on those which would have most force with him, and her own eloquence soon made a great impression on herself.

Her mind underwent a perfectly genuine change. She could no longer see that Cumnor's position was a rightful one or why he found it so convincing. She began to talk to the Browns in

a tentative way, in order to try her skill and prepare them for her change. The Browns had a real affection for Ethel, but, as was natural, some of her faults had always annoyed them. They had no titled relatives, and disliked Ethel's constant references to Lady Sarum and Lady Alicia. They were lively in conversation and were apt to regard the somewhat purist attitude of the vicarage as 'dear Ethel's airs.' But when a supreme motive takes possession of a human breast it often happens that faults and foibles so long harboured there pass away, and the Browns said to each other that Ethel was greatly improved in these respects. They were therefore inclined to think—although they did not say such a thing aloud—that some gracious reformation had been accomplished in her. When she began to question a position as to which they could not admit that there was room for any doubt, they listened with the respect they felt to be due to her general improvement in Christian character. They were bound to answer, and discussion actually became frequent between Ethel and three women who were at bottom assured that there was nothing to discuss. They ceased to be surprised at what Ethel said, which was one point gained. Ethel was very patient; the very advertisements on the fences taught her that if a thing is said often enough it will carry some weight.

She began the same course of treatment with her husband, but with very different effect. His convictions rested on reason as the Browns' did not; he was therefore much more disturbed to

hear reasoning directed against them. He no sooner suspected that Ethel's doubts were real—she expressed no more than doubt at first—than he threw his whole energy into restoring her mind. His impetuous course brought about a collision for which he was unprepared, which seemed to him at the moment the bitterest pain that earth could offer. So harsh is the commonplace of our life that it chanced they were talking over their dinner when his vehemence forced Ethel's hand, and half-unwittingly she revealed her entire change of mind.

No longer conscious of the presence of the servant or the circumstance of the meal, Compton rose up. 'You think that !' he said. He looked at her, all his pain in his face, and then went out of the house, walking fast, heedless of time and place.

Ethel was not in a mood to conceive the depth of his wound ; her little probe was not long enough. She was frightened by his behaviour and greatly annoyed that his dinner had been left uneaten and the servants scandalised. She knew that Cumnor was hurt, and she was sorry ; but she had now no thought of giving way to him or even of letting the matter drop.

She met her husband again with consoling affection, but offered no excuses. She immediately renewed the subject he had thought she would never mention again except to recant her opinions.

This was the state of affairs at the vicarage when Miss Brown happened to mention Ethel's new views to Miss Kennedy.

'I like strong language,' said Miss Brown ; 'so

does the mater ; so does Theresa. There is something breezy and honest about it. When I say, for instance, that the Radicals are a pack of hypocrites, I don't of course mean they are all Pecksniffs ; and I wouldn't say it where I was not well enough known to be understood. But Ethel comes down on us now for that sort of thing like a thousand of bricks. One has to admit that she is right in theory, so if she said it in her old priggish way she would be intolerable. I don't mind prunes and prisms when they are in the wrong, but when they are right they are simply intolerable.'

'You mean there is nothing prunish and prismatic about Ethel?' There was a slight incredulity in Miss Kennedy's voice.

'There used to be—yes, I agree there,—but there really isn't now. She has come out a strong character, and as sound as a nut in holiness and humility and all that. She's got a bee in her bonnet just now about the Education question ; but, as the mater says, St. Francis and many other saints went off on a wrong tack for a bit. It's one of the "five unmistakable marks"—no, I think that isn't the verse mother quoted!'

Oriane listened eagerly. This was just after the suspicion of Ethel's duplicity had settled upon her mind.

'What is the bee?' she asked. 'Describe the bee.'

'If you will have it——' Then, somewhat against Miss Brown's conscience, but much to her enjoyment, she gave a description of the scene over the magazine leaflet, and went on to reveal,

as a dead secret, Ethel's turnover about the school question. She concluded, 'If the dear vicar were not so thoroughly sound, the mater thinks he might be in danger, for she knows how great a wife's influence may be.'

All this increased Oriane's interest and distress. That Nathaniel Pye should lose the money that Ethel was winning by tricks and deceit, that she herself should be, by ever so little, responsible for this, became an intolerable burden. She could not persuade herself now to inform Mr. Ward of Ethel's overhearing, restrained partly by the shock of grief it would give him and partly by the obligation of her long friendship for Ethel.

She reflected on Ethel's natural way of eluding straight argument on any subject, and her more recent experience of Ethel's hysterical reasoning when she had vainly tried to bring her to book on this particular matter. She was convinced that a direct appeal to Ethel would only produce plausible explanations which had better not be uttered. In any case she felt too angry to reproach Ethel without using the stormy language from which all conventional opinion shrinks.

She sought refuge from her own thoughts in the tranquil conversation of Mrs. Ward, trying to gain information which would define her own position and Ethel's more clearly.

'May I ask you some questions? they are quite impertinent!'

'Go on, dear.'

'Does Mr. Ward think that Ethel——' She paused.

'— knows that he has money ?' asked Mrs. Ward. 'No ; he feels sure that she does not know. He is convinced that this change of attitude is the last thing that would have happened if she had found out in any way. He is a proud man himself ; he can't understand that there are characters that have every quality but pride.'

'I have always thought humility a great Christian virtue,' said Oriane.

'Only when it is put to a purpose of which the Christian may be proud,' returned the old lady.

Oriane did not reply.

'Will you tell me if Mr. Pye has ever asked Mr. Ward for any money for his excavations?'

'No—never. He does not want any, does he?'

'I think he does.'

Her next question seemed to have no connection with the last. 'You told me once that you thought Mr. Pye would not marry. Will you tell me why?'

'He never speaks much about his trouble ; I am sure he would not like it spoken about ; but of course all his friends know more or less how things are.'

Oriane listened almost breathless.

'His mother, you know—you will have heard, dear, about his mother? No ! Ah, as I understand, she was a very fine woman, one in a thousand for gentleness and intelligence. He has described her to me more than once with such reverent admiration. She made him what he is. His father was a good, warm-hearted man ; but

this mother—I remember the words he used once, that she opened all the poetry of life to him, and made the common prose of life an epic of heroic deeds.'

Oriane's heart, responding to the glow of affection that could inspire such words, sank at the sadness in the old woman's gentle tones.

'You know, dear, a few years ago, just before he got this post at Oxford, his parents were both in a railway accident. His mother's head was injured ; there is some slight lasting injury to the brain—I do not know exactly what. At times she is almost like her old self. He has told me that sometimes she is able to talk to him just in the old way, or if he is away, to write good letters, as she used to do.'

Mrs. Ward paused again. Oriane could well believe that the son, in speaking of this trouble, would dwell first and longest on these bright intervals.

'But that is not always, perhaps not often ; but I think he cannot bear that any one should picture her as other than noble and self-controlled.'

'I can understand that.'

'That, I am sure, is why he speaks so little about her, while devoting every spare hour he has to being with her or writing to her. His father died soon after the accident, and Nathaniel took his mother, with his step-sister, to his own house. The mother, I am sure, must have been a rare woman, for her step-daughter—a plain woman much older than Nathaniel—gives up her life to the most tender care of the mother.'

‘And of course he must give them a home.’

‘No, dear ; I don’t think it’s in a money way that they are dependent on him ; I think the mother has enough of her own ; but the sister told me once that the poor invalid only knows the peace of self-control when her attention is centred on her son. It is only that which keeps her from sinking into melancholy, and even fits of violence. The notion that she is all in all to him is what she lives on. I am sure he will never disturb this notion of hers as long as she lives.’

Oriane waited. The old lady gently swayed her rocking-chair as she knitted. At length Oriane said, ‘Do you think he is right ? If it is a great sacrifice to him, as you think, is it necessary ?’

‘Ah well, dear, no one can tell that but himself. But I can easily see that he may have strong reason. You know what mothers are. He is her only child, and she unable to reason, poor thing. She might, not being quite herself, go wild with jealousy if she thought another woman was put before her. If Nathaniel had married before it happened, the case would have been different.’

‘Yes,’ said Oriane, ‘it would have been very different.’

Oriane had made her inquiry to assure herself that if she sought Mr. Ward’s money for the digging she would not be working in her own interest ; but now, for a day or two, she did not think directly of Ethel’s behaviour, or of the money. She was fully aware that in her girlhood her heart had gone out to her first lover,

that his departure without a word had so piqued her that she had refused to recognise her affection for him until years had taught her his probable motive. The harm to her had been not only the loss of him but an actual loss of heart, in that her nature had habitually crushed down all those emotions which appeared to her despicable because she thought he had despised them. Now her affection, revived with redoubled force, taught her to make a new estimate of the strength of his. But the separation was complete.

Her mind was taken up with the story she had heard from Mrs. Ward. She wondered whether the knowledge of her loyal friendship would help her lover, and concluded drearily that it would not make his life happier to know that he had succeeded in spoiling hers. In any case, if he did not ask for further comradeship, the matter was not hers to decide. Oriane knew herself well enough to know that she had no power to make articulate to him her deepest sentiment except under some strong necessity.

Gradually the question about the money revived in her mind. It was the only channel into which the expression of her affection could legitimately flow. By this time she had thought a good deal about the righteousness of diverting money now spent on directly religious work into such a channel as the Professor proposed. The question of comparative values seemed too difficult for her to decide from the religious point of view ; but it also seemed clear that if Mr. Pye, or some one on his behalf, did not engage Mr. Ward's practical

interest in his research work while he lived, he would scarcely be justified in using the old man's wealth in that way should it be bequeathed to him. While this was true, there was, to Oriane's mind, no doubt at all that the money would be better squandered—if squandered it was—in any desert than used to put a golden crown of success on Ethel Compton's trick. She feared to think what Ethel would become if her present deceit, which seemed like temporary madness, should be welded into her character, and that character endowed with the power that wealth gives. Oriane felt assured that if Ethel's course was rooted in deceit it must have a purely evil result upon her character. Like most of her fellows, Oriane, while deeply impressed by the idea that the great machine of physical nature was prolific of beneficent secrets as yet uncalculated by man, assumed that she could easily reckon up God's moral action.

She decided to introduce the subject of Mr. Pye's work to Mr. Ward, and see if he expressed any opinion that would justify her in writing to the Professor and entreating him to ask for what he wanted.

Mr. Ward's time was just now largely shared between the company of the vicarage family and Willie Latimer's studio. Oriane preferred to meet him at the studio, and went there.

'As flowers in May are you welcome,' said Willie. 'In May, I say; had you come when invited at the beginning of our work, I should have said "in January," when they are most desirable. Mr. Ward and I were both stiff and frosty then;

now we are great friends, and you can only add somewhat to our blandness.'

'Not a May flower,' said the old man, 'for they are mostly short and have cool colours. Miss Oriane is like some blush June lilies I had in my garden on the prairie. They were as stately as queens, and held the warm, rosy light of the dawn always in their faces.'

'Make your curtsy, Oriane, and look at my St. Peter—isn't he grand?'

Oriane stood before the easel with a critical air. It was as evident to her that Willie's heart had gone out in affection to the old man as that his picture was a success. It was 'The Raising of Dorcas.' Oriane only said, 'Dorcas is too dead—there are degrees of death.'

'If she could get up after she was dead at all, it wouldn't matter how dead. The theory of it is that the spirit organises its own body out of anything.'

'I don't agree with you, Mr. Painter,' began Mr. Ward; and he went on with a long theory of his about the Christian miracles.

Oriane did not listen. She was disappointed to find that Willie and the old man were so absorbed in their talk with one another. She sat apart and did not interest herself in the point.

Willie broke off to amuse her. 'We're so amiable in Mosford now, nothing can be like it. What do you think? The man with the beard is ill, and I met Ethel this morning taking him soup in quite a caressing-looking tin can.'

“Caressing” is not the adjective to apply to tin.’

‘The whole business is tinny to my mind,’ he said.

‘Don’t say that,’ said the model; ‘it may not go very deep yet, but it’s a “making straight the highway.” I am sure that, if my revered Greek tutor still thinks Compton a Jesuit, he’s quite convinced that his wife is not.’

‘My dear sir,’ said Willie, ‘I think you believe in such amenities because you give people credit for common sense. You see, the real ground of difference between your tutor and the vicarage lies too deep for soup. They each deny each other any participation in what they call “grace.” Now you might think grace was goodness, and could be tested by actions, or what, in a figurative way, is called “fruit.” But no. I talked to Compton years ago on the subject. He says it’s something that comes through the channels of his Church; and if every one outside the Church were more moral and benevolent than the people inside, he would still be quite sure that the people inside had grace and the others had not. That settles Compton; he is not open to the teaching of experience. On the other hand, The man with the beard is convinced that all goodness on the part of a Ritualist is mere craftiness—the bottom’s out of it. Now, how can any passing amenities stuff the mouth of that volcano?’

‘But it’s to their common sense I trust after all,’ said the old man; ‘for when you’ve shaken a man’s hand and looked into his eyes, you can’t be

quite as sure that God hasn't taken him by the hand too as you were when you never saw him nearer than across the street.'

Oriane went away, her heart naturally inflamed with indignation at Ethel's success.

When she had gone Willie said, 'I liked to hear you praise Oriane's looks. She's the finest specimen of that large, fair type that I ever saw. She is strong but not stiff; she is ruddy but not florid; her hair is very light and yet rich in colour. No fairy could have more delicate tints. She walks like Persephone, and smiles as Raphael's Madonnas would if one could fancy any of them with a sense of humour. I've known Oriane since we both wore pinafores, and I always feel rather mad that there are not more people about to admire her; nor does she take as much joy out of the looking-glass as she might—I hate waste.'

'That is not just what you feel.'

'What then?'

'The sort of heart-soreness that you feel looking at her has a deeper meaning.'

'Do you feel it too?'

'She ought to have stalwart sons and daughters rising about her; she ought to be the home and heart's desire of some good man. He loses and she loses, and the world loses more than we can ever tell because this is not so.'

'But I thought you religious folk put that sort of thing down to the will of God?'

'It's odd that the Lord of Life should have gone about changing so many things when He

was in the flesh if men's misfortunes were all according to the will of God !'

'If you'll set up a church, I'll come to it,' said Willie. 'It's the dreary idea that the devil isn't in it that I can't stand. When I can say about things, "The devil he did it," I feel a lot more pious.'

'There is a Church that was founded by One who taught that there is a "prince of this world," who interferes in God's plans to do us great harm.' Over the old man's face came a look which Willie always called, 'The Victory of God.' He gave that name to his picture, which afterwards became celebrated.

Oriane came again to Willie's studio to see Mr. Ward, but she gained nothing to her purpose. The third time she came he was not there, and she found he had gone unexpectedly to Oxford to visit Mr. Pye.

'My model is gone ; come for a drive !' cried Willie. 'I've got my fairest and most fanciful pony back from grass. I'm longing to see her in harness, and the little lads are pawing for a drive.'

'No,' said Oriane ; 'I am not in a good humour.'

Willie looked at her face and was convinced that she was in trouble. True to his principle of trying to eclipse all woe with delight, he insisted upon the drive. 'I can't take the children without you. I've no one else to hold them in when the pony stands on its head.'

Oriane gave grudging consent. She went across

the churchyard to prepare for the drive. The glow of the spring sunshine, the tint of bursting buds, made the square glorious. The clergy, now gathered for the diocesan retreat, were to be seen everywhere, sombre figures, walking dumbly in twos or threes from an afternoon gathering. Oriane scarcely lifted her eyes to recognise any of them. She was now fully determined to write to Professor Pye and withdraw the words she had said in his friend's rooms at Birmingham. What reason could she give for this withdrawal? Her chief reason lay in the character of Ethel's treachery; but that she could not reveal. Perhaps in any case her scruple had been fantastic. Perhaps he had not been influenced by it. Perhaps Mr. Ward had now gone to transfer this money to him. She must throw supposition to the winds and, however briefly, retract her advice.

She wrote a few lines expressing her hope that he would ask for the money; yet this did not for a moment satisfy her heart. If he had not already acted irrespective of her advice, he was not the man to be turned about by apparently unreasoning counsel. She was determined to take some more effectual means to prevent his losing by Ethel's nefarious success.

Oriane posted her letter to Nathaniel Pye before going for the drive, little dreaming that before it could be delivered she would precede it to its destination.

BOOK VII
THE TOUCH OF GOD

INTRODUCTION TO BOOK VII

IN writing a story of the religious life it is necessary to accept as a working hypothesis the assumption on which that life is based, that the human spirit may undergo many variations in nearness to, or distance from, God—nearness and distance being figures, probably, for the degree in which man invites or repels the inspiration of the Divine mind.

It is evident, however, to the onlooker, whether the subject of the experience realise it or not, that, granting the mind of man to be thus open to inspiration of good from sources in the spiritual world, these inspirations present themselves to the mind inviting them under the conceptions and figures habitual to it, and this coercion, so to say, of the Divine mind into the mould of the human must remain a source of the most lively interest to all students of the drama of life.

CHAPTER XXXVII

THE WINGS OF DEATH

ON the evening of the day on which Oriane posted her letter to Nathaniel Pye, about the hour of sunset, she found herself hiding among the bushes in Miss Kennedy's front garden, holding three of Willie's children in shuddering embrace, holding them together there by main force to prevent them seeing what was happening on the road. The air was filled with the shouts of men pursuing a frantic horse, with the sound of hurrying footsteps and the involuntary groans of men who were lifting Willie Latimer from the ground. When strong men moan in pity over the form of another who makes no sound there is dire disaster. Oriane, listening acutely, knew this. Yet she did not rush out to help. She knew that the supreme wish of the father would be that the terrible sight should not be indelibly printed on the children's minds. The awful thing had chanced in the centre of all their happy, neighbourly life. Miss Kennedy had gone out to the road. The doctor, who was everybody's friend, had rushed to the spot. Compton was already

there. Oriane had the strength to kneel on the grass behind the flowering bushes, like a picture of Charity, her arms full of struggling children ; and as she soothed them she fought back the chill of horror that would have disfigured her face.

After a time Miss Kennedy was beside her. 'My dear,' she said, 'do you keep the children. I am going over to his house. I shall not be back to-night—at least, not if——'

'I understand,' whispered Oriane.

They had no tears to shed. Their hearts seemed dead within them during the pause. 'As long as he is with us I will stay there,' said Miss Kennedy steadily ; 'but, my dear——'

'Yes? I will do whatever you say.'

'I do not know what you ought to do. I only want you to know that he spoke—it was only a few words ; he said, "Ernest." They are sending for Ernest. I think he also asked for Mr. Ward, but no one else seemed to understand that. I will leave that to you ; if you think well, tell the vicar, or let Mr. Ward know. I must go now.'

When Oriane could at last give the children into the hands of the maids, she had time to think. The trains to Mosford were few ; the last that night made no connection by which Mr. Ward could now come. If he got a message that night summoning him to Mosford, he could not arrive till the morrow was well advanced. Oriane made up her mind ; she would go herself with the motor and fetch Mr. Ward.

She had no sooner decided this than she heard

flying feet. The doctor, almost breathless, cried, 'Miss Graham, the Hall motor is out of order; I must have your car.'

'I need my car.' She spoke in quick distress.

'I must take it,' he said. 'I must have the Ducklinghoe man at once to help me; and then the car must go on to the junction to meet the midnight express; Sir James and two nurses will come down by it. Mr. Latimer's driver has gone round to your carriage-house.'

'Is there any hope?' she asked.

'None; but he may live a day or two. We must do all we can.'

Oriane stood with him and watched the car disappear down the road over which the sweet spring night had fallen. 'I cannot believe it,' she said. 'I cannot believe that Willie will die.'

The doctor was walking back quickly. Oriane kept pace with him.

'Willie half believed in faith-healing,' she said.

'That's all very well in hysterical cases when it comes off,' said the doctor; 'but in a case like this it doesn't come off. It would be very inconsistent of the Almighty if it did. Mr. Latimer has played with fire driving those wild colts.'

'Oh,' cried Oriane, her mind sharpened by intense feeling, 'we are all convinced that God must work along the line of our rules till we find that He does not. Then we revise our rules. How often do the careless escape and the cautious fall by what we call mere accident! But we religious folk do not challenge God's providence

in these cases till some religious theory we do not like draws our attention to the discrepancy.'

They turned now to cross the churchyard toward the lights in the windows of the House Beautiful that was now the House of Pain. The power of spring was on the old trees overhead, in the grass and flowers springing from the graves; the scent of spring, cool and soothing, sweet with its subtle, irresistible inspiration, assailed the very citadel of hope within them as they walked and talked, spurred on by a feeling that was more like despair.

The doctor was a rough man with a heart of gold. He gave a little snorting answer to her derision.

'You yourself saved the life of a scoundrel last week by a marvellous operation,' retorted Oriane.

'But he had to undergo the operation.'

She sneered, 'You did not give him anæsthetics, and every other possible alleviation for his pain, I suppose?'

'But such powers to heal are won by careful experiment. They do not contradict the fact that man learns by experience.'

'Yes; God teaches us by experience,' she cried, 'and therefore our whole question is whether faith-healing is a fact of experience or not. But you have decided that it ought not to be a fact!'

He had known her many years; he was amazed at the new vehemence in her tone. He could not know that in this excited hour half-forgotten memories were surging within her—the voice of

a Quakeress demanding a Church made visible by the marvels of faith; bitter words that Willie had dropped about the inefficacy of modern Christianity to deal even with imaginary ailments; calm stories old Mrs. Ward had told of men and women raised up from the verge of death by her husband's prayers. And now, just when Willie needed this old man he was away, and the doctor had taken from her the one means of fetching him! As moment by moment she realised the position more clearly, her heart was bursting within her.

'We would both be almost willing to give our own lives to save him,' he said; 'why should we quarrel? I have no hope; but it is my duty to get the most skilful man I know; therefore your car must meet the midnight train.'

'And I have almost no faith; but it is my duty to go for the most God-like man I know. Send the car for me when it returns.'

'At one o'clock in the morning!' he exclaimed. 'It is madness!'

'Yes; and I must take the Latimers' chauffeur.'

'He will be asleep by that time.'

'He may sleep while I drive, but he must come.'

CHAPTER XXXVIII

AT SPRING AND THE DAWN

NATHANIEL PYE was an early riser, a habit perhaps inherited from generations of working men. As many scholars do their best work at midnight, he did his best work in the cool quiet of the dawn. This is of all hours the most lonely in a well-to-do modern household ; the master worked long before a servant stirred.

This morning was grey, and he was in a long room whose windows looked over meadows. The trees that fringed the meandering water-courses were already tinted with the parti-coloured buds of spring. As the light grew stronger, Pye looked up to see that these delicate but lively tints were brighter than the day before. In the soft folding of the grey cloud above there grew also a many-coloured tinting and brightness, elusive yet clear. Nathaniel Pye laid down his pen and went to the window, which was a glass door leading by steps into the garden. As he reached it on one side, a woman, stepping up from the Easter lilies of the garden, confronted him on the other. He paused with the glass between them.

He was conscious that never since he first knew Oriane Graham had he looked upon the raptures of spring and of morning without thinking of her. Was he now punished for thus unwarrantably carrying her in his heart by the madness which conjures its fancies into apparitions?

But this was not the Oriane of his dreams—serene, satisfied, triumphant as the dawn in youth and beauty. This wan, sad woman had some imperious need. She made a gesture of entreaty, and he opened the door.

‘I have been ringing at your other doors in vain,’ she said. ‘I have come——’ But here her voice ceased; some difficulty of utterance overcame her, perhaps the dust of the road, perhaps the emotion of the night.

He mutely invited her entrance. The thought that his doors had been barred to her, that she had waited before them, made him dumb.

She began again, ‘Mr. Ward—is Mr. Ward well? He is with you?’

‘Oh!’ said Pye; and then he found his voice. ‘It is Mr. Ward you want.’

She told her brief story, and he went to the old man with her sad message.

Even in her great distress about Willie, even in the stern chase she had been pursuing, she had conned some sentences about Mr. Ward’s money which she was determined to say. ‘Have you asked for it? If not, do so. You can take it on my authority that nothing could be worse poison to his nephew’s wife than the acquisition of this money. It is better for the Comptons

as well as for the world that it should go to you.'

But when Nathaniel Pye returned to say that Mr. Ward would be with her as soon as possible, Oriane did not bring forward the subject of the money. She was walking uneasily up and down the plain, carpetless room, looking at his pictures. His pictures were the only beautiful things in the room. She was too restless to care much for them.

He began himself to make a fire in the grate, and put a kettle on the hob.

'My sister will come down as soon as she can,' he said.

'I am sorry to disturb her,' she said.

Then there was an interval, when they both spoke in subdued tones about Willie Latimer, and the dull fact that the chauffeur had taken Oriane's car for petrol. Oriane forgot that it is money makes the modern world go round; she forgot that there were such things as gold or buried cities or scheming and deceitful women.

Then the glow on the clouds of the morning faded into common daylight. The sister came. The moment Oriane saw her she was glad that she was but a half-sister. She was a pathetic-looking person; her attitudes and eyes claimed sympathy; there was the hint of a wail in her voice even when she made her most ordinary remarks.

After Oriane had had some slight breakfast with Mr. Ward, while they stood in the garden waiting for the car, she had another minute alone

with Nathaniel Pye. At their feet tulips and daffodils were lifting dewy heads in the grass of his garden. The grey town lay about them; the tower of Magdalen, the spire of Mary, rose very near. They were not more grey than the mountains of cumulous cloud that were parting and moving and joining again in some strong wind that roamed the upper atmosphere but hardly stirred the ruddy branches of the trees of Holywell.

It was he who took the initiative and chose the subject. 'Mr. Ward tells me that you say you are discontented with your own Church, that you have been partly thinking of joining some other religious body. I have no right to ask whether this is so or not; I would only say that in my opinion it might very likely be a mistake. I have a very strong belief that all that is most worth having can be found in any Christian communion, and that in none is the Master's ideal as yet realised; and most of us do our best work in the environment where we have been trained. A turnover means a denial of something—a harsh denial. The world is always trying to make us believe that we must be very careful about our creeds, but that our negations may be broad and assured. I think the mind of the Master is rather the other way. We must, of course, define at times, which means denying something; but it ought to be the most cautious work of our lives.'

He could not have said anything that showed her more clearly how remote, in his mind, was her future from his own. Yet she was sure he had not spoken with that intent. He did not

dream that, in spite of the schooling she had given herself, his words hurt her cruelly. She was, at least, glad that he did not know; she could imagine his dismay if any reflection of her misery fell upon him.

He, oblivious, added, 'Of course if you could find what would satisfy you better in one of our Free Churches, I should say "Come"; but the eye that is once open to the paltriness of much that is current as Christianity will find admixture of false and true everywhere. It is to the future we must look. We must work, each in our own place, to establish a more truly Christian Church in the future.'

At the moment she hardly took enough interest in his subject to care to reply; yet she fully understood that the man who used the rare delight of speech with the woman he loved to talk of religion, found in religion the supreme interest and joy of life.

As she stood silent, her face half-averted, he spoke the third time, with a touch of disappointment at her silence, 'Many will tell you that this indifference to Christian differences is indifference to Christ.'

She cried in brusque rebellion, 'It is because our Church people are silly enough to say that that I want to leave them.'

The light of a smile came into his eyes. 'I beg of you, whatever happens, do not allow yourself for one moment to sit with the scorner. Believe me, it is far more soul-deadening than to walk with the ungodly or to stand with sinners. Your Church

has this great advantage, it harbours all our differences within itself.'

He was astonished to perceive that she had no voice to speak, and that her face was wet with tears.

She found herself facing the empty morning roads, driving Mr. Ward at full speed over the long, long miles to Mosford. She knew that her dearest friend would blame himself all day, thinking that some mere clumsiness of his speech had wounded her. Well, better that than that he should guess the truth!

The note she had written to him the day before would be delivered to him when the active work of his day began. It seemed years ago—that yesterday in which she had been concerned about a mere question of money.

CHAPTER XXXIX

THE SILLY LAD

THE man who had made so brave an effort to enjoy the feast of life to the full, to live out his gospel of colour and grace—this man, in the prime of life, strong and healthy and gay, was struck down and stretched in helpless pain, to look death in the face. The surgeons did what they could. They said he might have one or two days to live. Mosford, represented by the crowd which stood in dumb anguish round the scene of the accident for an hour, retired to its ordinary avocations and speedily forgot. Willie's wife, who had always bemoaned herself in every crisis of their domestic affairs, now lay passing from a faint to convulsive grief and again to a faint, absorbing the attention of her maids. The children slept at Miss Kennedy's; and in the great bright room of the house where his last unfinished picture stood on its easel and the walls were hung with such specimens of his past work as he had loved too well to sell—in the centre of the large, gay studio Willie Latimer was stretched on a little trestle bed, a uniformed nurse in attendance,

and Miss Kennedy sitting beside him, holding his hand.

Thus the black night passed, and the day woke; and all the time Willie lay very wide awake, looking out from his immovable body of pain with eager eyes. Nothing was altered that morning in Mosford. The factory hooter raised its voice at the accustomed times, and the clatter of feet in the street rose and fell with it. The shops were all open, and the women went to market. The clergy who had gathered in retreat went to the services marked on their programme. The night before they had all felt the thrill and pain of the accident; this morning in most of their minds it was not uppermost, except while they joined in the prayer offered for the sick man.

When the morning sunlight was at its brightest, Willie's eldest son—the boy of defective understanding—arrived at the Mosford railway station with one of his tutors. Willie had asked for the lad, and the doctor's telegram had directed that he should be told of his father's condition. All the way in the train the tutor had been endeavouring to temper the natural gaiety of the lad's disposition; as they walked up the street at Mosford he was still at intervals saying words suitable to the end in view. But Ernest Latimer walked with the hearty, boyish stride habitual to him, and smiled at the village children and the village dogs he met. He was like what his father had been—strong, handsome, yellow-haired, ruddy-checked, bright-eyed—a boy whom it was always a joy to look at, for to the eye he did not seem to

lack anything of the proper equipment for human life.

Ernest said, 'Yes, yes,' to all the tutor said, and then he looked about him and smiled. The tutor confessed in a whisper to the grandfather, who received them, that he did not know how far Ernest understood his father's fate.

The squire took Ernest's hand, and they went together, a handsome pair, an ideal representation of youth and age, into the bright studio, and stood beside the bed which was so soon to be a bier. The young eyes of unclouded sunshine looked down into his father's eyes, which were so full of eagerness and unspoken longing. The lad looked at the bandaged head, at the awkward shape of the bed-covering raised by the surgical appliances beneath.

'You'll soon be better, father,' he said. 'You'll soon be up and about again.'

Such an eager light of hope shot from the father's eyes, such a look of longing for life, that the grandfather turned away his head. So clear was the passionate cry for life in his son's eyes that, man as he was, his own eyes were scalded by blinding tears. There was no hope—none at all; not one of the three surgeons had whispered hope.

The lad twitched his grandfather's hand and pointed to the picture on the easel—the picture of St. Peter raising the dead.

'Where are they, grand?' he asked. 'Where are the apostles?'

Then smiling down at his father, Ernest said eagerly, 'Yes, father; I'll go and get them. We

learnt about it in our confirmation class. There are some men now who stand for the old Apostles and take their places. Grand will tell me where they live. I will go and get one of them, and he will say, "In the name of Jesus Christ, rise up and walk"; and then you will be quite well again. Come, grand; let's be quick'; and, pulling the old man along, he strode gaily out of the room.

Mr. Latimer went out with him. When they were both in the hall the youth turned with an eager word, 'Where?'

There was not, in the whole of merry England, a more sweet-tempered and just-minded gentleman than Mr. Latimer; but to every man at some time comes the temptation to hate his fellow-man, to be bitter and unjust to him. Mr. Latimer had led a long and blameless life, loyal to the Saviour whom he held divine, punctual every morning with his acts of private devotion. For many years now he had patiently, politely listened to Compton, who by word and deed had teased him to believe doctrines concerning the grace of orders and the necessity of sacraments, which seemed to him but idle tales. He had not complained when the sunny little church that he loved had been darkened by stained glass pictures. He had not fretted when other people liked their religious services and rites muddled, as he thought, with too much ornament and needless performance. But now his long weariness of all this made the yoke seem intolerable in his hour of agony. The belief of the silly youth that the successors of the Apostles could prove their succession by uttering

the word of faith that brings life from the shadow of death, struck him as forming a derisive comment upon a claim which he had long ignored and now angrily desired to disprove.

He pointed to the church door. 'There, boy; there they are. They are all in there. Go and see if one of them will come.'

CHAPTER XL

THE CLERGY AND THE BISHOP

ERNEST ran to the church, stepped softly to the inner door, and, opening it, looked quickly round. Some score of clergymen were seated listening to an address from the Bishop. From the backs of their heads and shoulders Ernest did not at first discover much by which to choose. He stepped up the aisle and touched the nearest upon the shoulder, and went back again. The vicar of Ducklinghoe, stout and honest, rose and followed the lad, supposing stolidly that some telegram must have come for him, wondering, indeed, whether his wife had been confined before her time. He even got the length of thinking that, if it were so, it would be a comfortable thing to have the trouble over before he got home. Then he stepped through the green baize door and followed the lad out of the old Norman porch into the sunshine.

The lad turned round and spoke in eager excitement. 'My father is very ill,' he said. 'Come.'

'Do you come from Ducklinghoe?'

The lad shook his head.

'Then why do you come for me? Who is it you want?'

'You will do,' said the boy. 'I only want you to come and make him well. It won't take long.'

'My dear fellow, I can't cure your father.'

'Haven't you descended from the disciples?' asked Ernest. 'Please come quickly. Father wants so badly to get well.'

'He's daft,' said the stout vicar to himself; but he answered very kindly, 'I will go with you if your father has asked for some one. But why not get your own vicar? Where do you live?'

The boy pointed to the beautiful house beyond the churchyard palings. Then the good vicar of Ducklinghoe remembered the accident which had befallen, and with hesitating steps and a puzzled face he followed the boy as far as the door of the house.

Mr. Latimer had retired. One of the nurses was resting on a settle in the porch, and when the vicar inquired in an undertone of the patient's condition, she shook her head.

'Did the doctor give leave for a clergyman to be brought?' asked Mr. Briggs.

The boy had darted in and was already holding the handle of the studio door and looking back eagerly. 'Is he quite right in his mind,' asked the vicar of Ducklinghoe of the nurse.

'No, sir,' said the nurse.

The lad came back to see the cause of delay.

'Does your father want me to pray with him?' asked the vicar.

'Oh no, sir; father can do his praying better

after he's well. When I was ill I couldn't say my prayers at all till I was well again, because my head ached so. I only want you to come and make him whole, as Jesus did.'

In spite of his burly aspect and plain, practical ways, the heart of the vicar of Ducklinghoe was a soft one. He was deeply touched, and prayed within himself that God would save the soul of the dying man and comfort the bereaved. At the same time he explained, in a paternal way, that he did not try to imitate the Apostles in the miracles they wrought.

Ernest listened with smiling courtesy ; but the moment he understood the purport of the speech he excused himself in haste and ran back to the church.

'Terribly sad ! terribly sad !' murmured the vicar of Ducklinghoe ; and he too went back to the church, for he was anxious to hear the rest of the Bishop's address.

When Ernest walked up the aisle a second time Compton looked round, and, seeing the lad, rose instantly and went out with him. Since he had been refused admittance to the sick-room the night before, he had sent up a constant inward prayer that the dying man might repent, send for him, and obtain the last comfort of the Christian faith. This prayer had kept him awake during the watches of the night ; it had been his first conscious thought at the break of day ; his soul was yet in travail with it.

'Did your father send for me ?' he asked eagerly.

Ernest smiled. He had always liked Mr. Compton. The spiritual serenity of his face had attracted him from childhood.

'Grand says the successors of the Apostles are in church. Will you please fetch one of them to come and heal father? Father wants so badly to get well.'

'Oh, my poor fellow!' Compton's words came almost like a moan of pain, so acute was the sympathy he felt. Then he set the question of healing aside, returning to what was nearest to his heart. 'Did your father send for me?'

'No, no,' cried the lad; 'not you—I know you don't make people well. Oh, quick, please—it's a disciple that I want—one or two—perhaps two would be better. There were two, you know, when St. Peter and St. Paul made the lame man walk. Please, please, Mr. Compton, fetch them out for me! It hurts father so much to lie there; and he sent for me all the way from school; and I am his eldest son, and it is my business to get him cured at once. He will be wondering what's keeping me.'

Compton was deeply disappointed. His prayer was not yet answered. No doubt it was his own unworthiness which made the dying man think so slightly of his office. Upon this soreness of heart the pathos of the request which Ernest made fell with stinging force. Compton turned where he stood in the niche of a buttress and leaned his head against the wall; a sob shook his frame.

'Oh, my dear fellow!' he moaned. 'If I

could bring your father back to life, I would gladly give my own unworthy life to do it.'

Ernest Latimer was shocked and sorry to see his good friend in distress, but he had no time now to inquire into the cause. 'Don't cry,' he said wonderingly. 'I'm sorry I made you cry about father. There's no need, because, you know, Jesus Christ can make him well. All that I want is some one to come and say the words rightly.'

Then, because he was far too eager to wait longer, and could not understand Mr. Compton's reluctance to be his messenger, he ran again into the church; and this time he was determined to be satisfied with no futile person, so he walked all the way up the aisle and stood, bareheaded and eager, before the Bishop.

One childlike glance at the faces around him, and then at the gentleness and power of the Bishop's saintly face, satisfied him that he was addressing the greatest man in that assembly.

'I beg your pardon, sir. I'm very sorry indeed to interrupt you.' His clear young voice rang out in happy energy round the old Norman arches, and the Bishop, in his surprise, noticed first that even his own voice, in the instruction he was giving, had become a little artificial and melancholy.

Perhaps no lad in England but Willie Latimer's son could have been so ignorant as to what was conventional in a church. He looked at the Bishop with an air of happy confidence as he swiftly proceeded, 'My father is very ill indeed, and you must come to him. I am sorry I can't

'Wait till you have finished what you are saying to these gentlemen ; but father is in dreadful pain, and I want you to come quick and make him quite well in Jesus' name.'

A little child could not have gone more simply and quietly with the lad than did the Bishop. Ernest took him by the hand. Across the grass of the sun-flecked churchyard, across the broad, sunny road they hurried, into the House Beautiful, and into the great, bright studio, to where the master lay stretched in agony on the pallet bed.

CHAPTER XLI

THE TWO OLD MEN

ERNEST called out as he approached the bed, 'I've brought him, father. He's going to say the words. He's going to say——' The lad hesitated a moment in the effort to remember a formula. Heaven only knows what influence guided his wayward memory, but he continued joyously, 'He's going to say, "Father, I know that thou hearest me always"; and then you're going to get up, as Lazarus did, bound hand and foot.'

The Bishop stood by the bed and looked down, hardly recognising Willie's familiar face, so drawn it was with continued pain, so white with approaching death. But he did recognise, as clearly as the lad had done, the passionate cry for life—mere physical life—that spoke in the bright, humid eyes which looked up, first at the boy and then at the Bishop. They all saw that while the boy was speaking there was a wild hope in those eyes, and when the sufferer saw that it was only the Bishop who had come, the hope died down as a candle-flame flickers in its socket.

The lad turned to the Bishop, a wholly new

and terrible fear breaking into his heart and voice. 'Can't you make him whole?' he said. 'You—aren't you one of the disciples that Jesus sent out?' He pointed to the picture on the easel. 'Didn't He say that He gave you power to heal the sick? I read it in the Bible. Oh, please, please, be quick and do it, for father's getting worse.'

The Bishop knelt down and lifted up his face and hands in prayer. 'If it be Thy will,' he said, 'life, life for this Thy servant.' His murmured words became inaudible; he was wrapt in silent prayer.

But the lad looked at his father and saw no reanimating glow in his eyes. Hope—the wild, mad hope that the child had inspired—was almost wholly gone, and with it life was ebbing.

Ernest ran from the room and from the house, actuated by nothing but a blind, mad cry for help, and in the street he saw, coming towards the house, the very apostle of his father's picture!

Oriane's motor, hueless with dust, stood near the churchyard gate. Mr. Ward had just alighted and thrown off his dusty coat. Oriane sat still in the car with the tense face of one who by sheer will-power had triumphed over time and space.

Ernest saw nothing but the old man. 'Oh, come,' he cried joyfully. 'You are in time. I was almost afraid that God would not let me find you in time.' The lad's brief agony was again changed into peace. They both turned toward the house, and this time the lad was not leading, for the old man's feet moved even more swiftly than the steps of youth.

'It's all right, father,' cried the boy, flinging his strong voice into the silent studio as if there were no such thing in the world as pain and death.

In Willie Latimer's eyes a spark of the old fire was left, and as they met the old man's smile, hope returned to them; there was even the flicker of a smile upon the white lips.

The Bishop did not move. He seemed unconscious of what went on around him. His face was lifted toward heaven in passionate entreaty. Unconsciously his lips moved with the audible whisper, 'Life, if it be Thy will !'

'It is God's will,' said the old man quietly, joyfully. He laid one large hand gently on the poor bandaged head, and looking down into the sick man's eyes, he said, 'Jesus taught us that pain and sickness, and the death of those who are too young to die, are against God's will. They are evil; they are the work of The Evil.' With his broad, loving smile he looked at the dying man and said, 'Jesus Christ, the same yesterday, to-day, and for ever, bids you believe that life is the will of God, and you shall live.'

In the quiet that followed the look of supplication passed from the Bishop's face; it was lit up with the ecstasy of thanksgiving.

'You shall live,' repeated the old man. 'Believe that life is the will of God and you shall live.'

'Father's better now,' whispered Ernest. 'I see it.'

'Go and bring your mother,' said the old man.

As he waited he repeated to Willie again and again, slowly and joyfully, the burden of the

Gospel for the bodily life as he understood it, 'Believe, and you shall live.'

Diana came, tearful and frightened, dragging her slow steps, and when she stood above him Willie's eyes sought her beautiful face.

Mr. Ward took her hand with great gentleness. 'Look,' said he, 'your husband has nothing to fear; he has taken hold of God and will get quite well. Kneel down with me and let us thank God.'

Diana sank by the bedside, and with one hand upon her head and the other touching Willie's poor, motionless form, the old man knelt and began to pour forth his heart in love and thanksgiving to that Intimate Presence of whom he always seemed aware.

'Thou hast given Thy life for us, passing through the worst that can befall this human body and building it again. Thy power over it is absolute. Thy will is life and strength for every man until his full time comes. We thank Thee. We take life from Thee; we thank Thee.' He relapsed into silent prayer.

On the Bishop's aged face was written for the time the oblivion of ecstasy. His soul seemed to be absent in some far heaven. Then, as he came back to himself, they heard him say 'that Thou hast hid these things from the wise and prudent and hast revealed them unto children.'

The boy knelt beside the Bishop, his hands reverently folded, his eyes closed. He seemed as if listening inwardly to that which was passing in the hearts of the two old men.

Willie Latimer was lying as he had lain all night and all day, his head immovable, his face turned straight upward on his pillow, like an effigy upon a tomb. He knew that he could not move; he had heard the doctors say that he could never move again. But now that those about him were kneeling he could not see their faces; he turned his head to look at his idolised son; then he turned his face to the other side and looked for Diana.

When he made the first movement, Miss Kennedy, sitting backward and watching him keenly, held her breath and waited in amaze. When he moved again she pressed her hands to her eyes to keep back the tears of joy.

The lad, mercurial, unable to be silent long, opened his eyes, and, feeling the need of expression as he caught the joy that radiated from the Bishop's face, began softly to sing. The association of ideas naturally guided to words and music made familiar at the school choir practice. Words and notes were at first confused, then his voice soared distinct and true into the 'Gloria.' He always sang like a bird, easily, joyfully. The father, carried away by the beauty of his son's voice, gave a little laugh of pure pleasure.

The Bishop rose. The boy, seeing that his father was delighted, sang the 'Gloria' over again. When his voice ceased the Bishop lifted a hand trembling with age and gave a benediction.

The lad jumped up. 'Now, father, you must rise up and walk, and I'll get you something to eat.' He looked at Mr. Ward for instruction.

‘Hadn’t I better get him something to eat?’ he asked.

The old man said, ‘We won’t let father get up to-day, my boy. He needs a long sleep; but he will be much better to-morrow, and he’ll get up and walk soon.’

‘Shall I bring father something to eat?’ persisted the lad. ‘In the Bible Jesus always gave them something to eat.’

When the nurse brought the cup the lad snatched it from her hand with the wilfulness of a child, and himself held it to his father’s lips. Willie drank eagerly.

Diana stood watching them, her lips parted, a new courage in her face.

The old man still knelt, with his arm under Willie’s pillow, and his face was still luminous with the ecstasy of praise. ‘I will stay here,’ he said.

The Bishop went back to the church. The clergy were grouped about in the churchyard and porch, but there was that in his face which prevented any one speaking to him. The Bishop went up to the altar-rail and knelt in prayer. It was more than an hour before he came out of the church again.

Compton was waiting for the Bishop and kneeling near the door. He supposed him to be praying for a passing soul.

When they both came out, old Mr. Latimer was having great cart-loads of straw strewn thickly upon the road for a long distance. The doctor’s trap was stayed at the other side of the church-

yard. The doctor himself was assisting to lay the straw. Compton stared in amazement. Last night they had been told that no sound would again disturb the master of the House Beautiful. Compton went over and spoke sadly to the doctor.

‘Do you think there is any hope?’

‘Yes, I do,’ said the doctor with curt vigour. This curtness surprised Compton. Then he was aware that all about the House Beautiful, and in the gait and attitude of the few persons in sight, there was a change. The oppressive shadow of the wings of the death-angel was gone; yet no one told him of any new feature in the case. He followed the doctor, who was moving briskly about.

‘Can you give me any explanation?’

‘No, I can’t,’ said the doctor. ‘Am I a fool that I should explain to you what I do not understand myself? Hang me if I care what the explanation is so long as he pulls through! There is nothing miraculous in it. These chaps with genius have a crack somewhere by which mental forces to which most of us are impervious can leak in. We thought his spine was badly injured and that his wounds would not heal. But now it turns out that the spine is not injured; and he’s mending all right. But that’s no explanation!’

Compton looked startled. The doctor, who did not imagine him to be ignorant of what had passed, made no effort to be more civil.

CHAPTER XLII

ORIANE'S TALE-BEARING

ORIANE felt keenly that she was set alone in the battle of life, as far as human companionship was concerned. Miss Kennedy was claimed and climbed over every day by the lusty Latimer children. Willie was beginning to drift joyfully back to his old happy life. Diana, holding hard by the old man's hand, was waiting upon him day and night. Ethel was vehemently arguing with her husband and the Browns on behalf of compromise in the school question, disconcerting them with the plausibility of her arguments, and more by the intensity and persistence of her attack.

Miss Brown appealed to Oriane. 'Do speak to her; she has always been your friend. She is making the dear vicar miserable. We think he may yield, and he would never cease to regret so great a sin. We think perhaps she is going mad.'

Oriane knew well that Miss Brown's vision might be highly coloured, but she also knew that the situation was much worse than Miss Brown supposed.

Oriane had received a note from Mr. Pye,

thanking her for her change of advice, but pointing out that he still thought he had been well advised from the first, because he had lately heard of Mr. Ward's increased friendship for the Comptons and satisfaction in all they did. How natural that he should have heard this! How inevitable that the news should have this effect on his mind!

Oriane prepared for a hasty journey. She went to Elminster and sent in a note to the Bishop entreating an hour's interview.

When the hour arrived the little man came briskly into a drawing-room of the palace, where she was waiting for him. 'I can't get an hour for anything *I* want,' he said. 'You say "must"—you must talk to me for an hour. Let us take the "must" first; that will be the point of it.'

Oriane shrewdly suspected that she had been put into a drawing-room because some one else claimed the Bishop in his private room, and he thought to dispose of her quickly. She was not sure that he was conscious of her individuality, or could make a fair estimate of the worth of her words. He stood before her, bright-eyed and alert; but whether his mind was fixed on the work he had left, or on his next engagement, or on her, she could not tell.

She briefly recalled to his mind the Mosford circle—the Comptons, the Latimers, the old man.

'I know; I know,' he said nodding; 'and the last time I saw you you were playing elephant with one of Latimer's small boys. Now, go on.'

'I've come on a very ungracious errand—to tell a sorry tale about another woman.'

'And you say "must"—must you?'

'Yes.' Then she told him hastily, and with some confusion, about Mr. Ward's money, and Ethel's eavesdropping, and the lie she believed that Ethel had told her, and all in Ethel's conduct in the last two months that had amazed, edified, and disturbed Mosford.

'Is that all?' said the Bishop.

'No; not all. I must tell you something else'; and then she told about Professor Pye, and the advice he had asked of her, and how he had taken it, and her subsequent repentance.

About Pye the Bishop asked several shrewd questions. She could not fail to see that the scholar's heart drew to the work and fortunes of this other scholar, that his interest was keener here than elsewhere in her narrative. She thought with discouragement that, saintly man as he was, a woman's sin weighed less with him in comparison.

'Is that all?' he asked again, and this time she assented.

He took a silent trot about the big, stately room.

'It's bad news for me about Mrs. Compton. I thought there was a fine tone about her. I thought Compton had a prize, and God a good servant, in her. You say she lied—are you sure of it?'

'Yes; but I am sure that I gave her my word not to speak of the affair, and now I have broken my promise in telling you. Perhaps she made for herself the same sort of excuse.'

'It seems to me all you say she has done in the parish was good—quite good. There's no harm

in anything she has done, except perhaps pestering her husband.'

Oriane said nothing.

'I am very sorry for her,' he said. 'Poor woman! She will regret it all so terribly when she sees it in the right light. Poor thing! Poor thing!' He took another turn about the room, but this time she felt he was suffering real anguish in forecast of Ethel's repentance.

'You may think me cold-hearted; but it is her husband and this kind-hearted old man whom she has duped that I feel for most.'

'No, no,' said the Bishop sharply. 'You're wrong there. A woman who has courage and strength of character to do all that will suffer far more for her own sin than any one else can suffer.' After a moment he added, 'I think you ought to have gone to her before coming to me. You might have got her to confess her duplicity to Mr. Ward and to her husband; that is what she must do before she can have a day's real peace. Will you try that now?'

'I tried that first.'

'You have not gone to her since she lied to you. You must try again. If she listens to you, you will have gained your sister.'

'The only result would be that she would weave for herself and me a further tissue of explanations that had better not be woven. I have come here on purpose to entreat you to speak to her. I do not know how far I believe in confession, but I am sure this is a case for a confessor in the best sense.'

'I think it is your first duty to try again.'

'I was going to say, I cannot; but I mean, I will not. My conviction that it would be no use proves to me that I am not the right person to do it.'

'You said "must" to me, and I heard your story; but now when I say "must" you will not obey.'

'Do you think I am all wrong, first to come tale-bearing, and then to reject your advice?'

'I think you have not enough love for her, or enough faith in God's power to change her heart.'

'I almost hate her now; I certainly despise her.'

'We're getting at the truth now,' said he more cheerfully. 'Hatred and scorn—not what we call the meaner vices—were the sins that slew the Lord.'

He was standing before her, his slender legs a little apart, his thumbs in the top of his apron. She looked up to see his keen face and bright, kindly eyes beaming down on her.

'How can I be what I am not?'

'That is just the question on which the salvation of the world depends. How can each of us be what we are not? How can the Church be what it is not? Without charity, without faith, what are we? How can we be filled with a temper we do not even desire? What is the answer?'

'What?' she asked with a lingering look, for his face seemed transfigured with power and dignity.

He recited three fragments of Holy Writ, and there was a cheerfulness in his tone which made the mystic words sound quite practical at the moment. 'If I by the finger of God cast out devils, then is the Kingdom of God come to you.' 'What is impossible with man is possible with God.' 'Ye shall be endued with power from on high.'

'I entreat you to see her yourself,' said Oriane. 'I am doing my utmost for her in having courage to make this entreaty.'

'Then,' said he, 'if we can go no further, will you tell me why Professor Pye asked your advice. Is he a personal friend of yours?'

'He asked me because I knew Mr. Ward and the Comptons so well.'

'Do you know that he has just published his view as to the site of these remains in *The Archaeologist*?'

'Then he can never have the joy of discovering them himself!' Her colour heightened.

'The world will be none too quick to do it. He was quite right in supposing he won't get the money from the public. You say you have written to retract your first opinion—is not that enough?'

'No; because if he had asked then he would now have what he wants, and all this warm friendship between the Comptons and Mr. Ward has happened since. What weight I had I have thrown into the wrong balance; I cannot get it out again.'

'You are trying to throw weight into the other balance by telling me, because you know I would

rather this money were thrown into the ground in hope of a new chapter in ancient history, than that it should be spent, as Compton would spend it, on church restoration and church adornment which has no real beauty. We are tricked out far too fine now for true dignity.' The little man moved and spoke with suppressed feeling. Again he came before her and said, 'I know a little about Pye's subject, but I will not be tempted into anything but a strictly judicial attitude. You came to ask me—what?'

'If I might plead Professor Pye's case with Mr. and Mrs. Ward?'

'I'll look into the matter and tell you.'

He walked down the gallery with her, to the head of an old oak stair. 'Remember this,' he said,—she turned, thinking he was going to give her some stern admonition,—'remember this—there's a place and time ahead of us when all our day-dreams will come true.'

'All?' she said.

'Yes—all,' he repeated. 'If you remind yourself of that every morning for the next fifty years, you'll live a more useful life for it.'

'I am sure,' he said to himself as he trotted back, 'there's a tragedy about that woman, but I could not get at it. She did not ask for my blessing.'

CHAPTER XLIII

THE BISHOP'S PALACE

THE next bit of news that went about Mosford was that the vicar and his wife had been invited to Elminster to dine and stay over-night at the palace.

'I suppose he is having us all by turns,' said Compton to his wife.

Ethel was pleased ; for apart from her general predilection for dignitaries and palaces, she thought the Bishop's influence tended to make Cumnor more moderate. The Bishop had taken no belligerent part in the Education controversy.

There was not a large party at dinner. A minor canon was there, a school friend of Compton's, who had been ill and was about to start on a long voyage for his health. This seemed to be the occasion of Compton's invitation ; but Compton's friend Dinsmore with his wife were also there. They lived near Elminster, and the Bishop's wife was said to have quite taken them up.

At dinner the Bishop said, 'I'm coming down to Mosford, Mr. Compton, some day the week after next, if possible.'

'To visit us, my lord, I hope,' said Ethel.

'No ; I am going to call on Mr. Ward.'

Compton smiled. 'If the King announced that he was coming to Mosford, I should expect to hear that my uncle was the cause. I used to think the vicarage was the most frequented house in Mosford, but since my uncle came six months ago I have learned what a nonentity I am. Every one goes to him for sympathy and counsel ; every one quotes him to me as an authority ; our friends desert our house for his.'

Entire sweetness of temper characterised the tone and smile of the man who thus spoke. The Bishop looked keenly and saw that there was not a shade or flicker of personal jealousy in Compton's mind. Yet he did not speak as though he took personal pride in the attractive qualities of his kinsman.

'He must be rather a nice sort of uncle to have,' said Dinsmore ; and the minor canon said something to the same effect.

Compton said, 'My difficulty in liking his widespread influence is that his religious views are quite vague.'

'New Theology ?' asked Dinsmore.

'Not exactly that ; but although a Dissenter, he doesn't see any harm in going to church once a Sunday, or in others belonging to the Church. My people are beginning to think him the model Christian, while, in fact, being neither one thing nor another, he is not definitely anything.'

'I don't see that you have proved your conclusion,' said the Bishop. 'An analogous

argument would be that, because I am neither a dog nor a cat, I can't be a vertebrate—with a strong backbone.'

Compton shook his head gently at his bishop. 'You can't be a mere vertebrate.'

'Even Plato allows that the universal in things must in this world appear particular,' said Dinsmore.

Said the minor canon, who had a liking for science, 'I think the new physiology supports the suggestion that the Bishop's vertebrate may be a higher form of animal life including the organs and functions of lower forms. The stomach of the mammal is practically a jelly-fish, and——'

'Don't descend, like my Platonic universal, to anything more particular,' interrupted Dinsmore.

Compton remarked, 'It is quite in harmony with the laws of physical development that the ideal Christian Church should develop to include all forms of Christian life; but it can't include what is not alive, unless it first convert it into itself. My contention is that we have no right to admit that what is formless may yet be alive.'

'Vagueness consists in refusing to deny the contradictory of what we affirm,' said the Bishop.

'Just so,' said Compton.

'It also consists in supposing that affirmations which appear to oppose one another are contradictory,' said the Bishop.

The minor canon felt amused. He said, 'Which is a case of building half the arch and refusing to join the other half; when the whole falls back formless. Or a truth may be said

to reject its mate, and so return to the dust unperpetuate.'

'I could think of other illustrations,' said Dinsmore, 'but I don't see whither we tend.'

Compton looked at the Bishop. 'What you say is important; but the trouble is——' He paused, diffident, then said, 'I can't see, in the case of which we were speaking, that the opposition is not a contradiction.'

'Yes, I quite agree with you; that is where the trouble lies,' said the Bishop in a tone of finality.

'Exactly so,' said Compton, catching the tone.

There was a flicker of amusement under the eyelids of the minor canon. He admired sarcasm, and thought the Bishop an adept.

Dinsmore, with a truer instinct of heart, was sure that the Bishop had none but the kindest feeling; from this he inferred that the Bishop either agreed with Compton or had forgotten what he was talking about. 'I'm glad the opposition isn't strong in my parish,' he said. 'I've plenty on my hands without it. I'm always sorry for a man like Compton, who has to struggle with Dissent on the top of all other discouragements.'

Next morning the Bishop arranged for Compton to look over the cathedral library. He took Ethel into his own room to show her a new picture.

'I understand that you have been working quite a reformation in Mosford—a very good one,' said he, 'making your church workers and the people who don't come to church friends with one

another. It is the sort of thing we most sadly need all over the diocese. Now, will you tell me exactly what you did, and how you did it? What was the condition of things before you began, and when did you begin?'

Ethel was delighted to sit by his fire and tell her story. She had no sense of wrong concerning all the plans and actions which she laid before him. The amicable result of her deeds and her own recent change of opinion made her conscience perfectly clear. There was something about which it was not wholly at rest, but she had never allowed that item to become confused with all that had sprung from it.

When at last she was beginning to wander from facts into the school quarrel, in the hope of claiming him as an ally in her effort to modify Compton's opinions, the Bishop said, 'It is only a few weeks since you began. It shows what determination and gentleness combined can effect in the hearts of men. That is the chief lesson we may learn from it.'

'Yes, my lord,' said Ethel; 'I see now how terribly callous and slack I was before.'

'What a pity that the love of God was not a sufficient motive to make you see and act!'

'I do not quite understand you,' said Ethel.

'If the love of God had been a strong enough motive in your case, I should have been encouraged to think it might have proved so with other vicars' wives. I can't go about the diocese offering each of them some thousands of pounds as an incentive to brotherly love, can I?'

'I do not think I quite recognise my motives as you depict them, my lord.'

'Motives are always mixed. I am only judging of your governing motive as others will naturally do. You have had God always with you, but only the last few months have you had a rich relative with you. As I understand, he is free to leave his money to your husband or not as he chooses, and he greatly desiderates brotherly love!'

'Who has told you that Mr. Ward is rich?'

'Several people. I have been making inquiries about him lately. He gives large sums to many good objects at home and abroad. Men take too keen an interest in money not to track an anonymous donation to its source, unless the donor is a more habitual schemer than Mr. Ward. Then I was talking yesterday to a man who has a friend in Oxford who happened to know Mr. Ward in Canada. Did you not know in January that he was rich?'

'Oh no; I did not know it at all, my lord,' said Ethel.

'You did not know it in the beginning of February—did you not?—for it was then your efforts began.'

Until that moment Ethel had been sitting with a serene exterior. She had overcome so many difficulties of late, she had twisted about so many people's minds, she had made men and women think and do what they were determined not to think and do, that, at the beginning of the Bishop's inquiry into her motive, she had felt that

all she needed was to keep her wits about her, to smooth over any little unpleasantness, and convince him he was mistaken. But now that she was faced with a direct question, she began to realise that she could not tell him a direct lie.

'I do not understand at all why you should think——' she began, and paused, because something else he had said was pushing forward in the plane of her attention; 'as others will naturally judge,' he had said. If Mr. Ward's wealth was becoming known, would every one judge her thus? The Bishop's personal opinion became as nothing to her. Would the Browns judge as he had done? Would her husband detect? Had Ethel been a woman of the world as well as a worldly woman, she would have foreseen this hour of judgment; but she had always lived more or less in the glamour of her own piety. Something in the movement of her heart seemed to tighten. Her face grew pale. Try as she would, she could not check her growing fear. Would Mr. Ward accept the general conclusion as to her motive? In that case all she had done would be in vain. At first the thought of humiliation seemed terrible; a moment later the collapse of her cherished hope caused her still greater distress.

'You did know in the beginning of February that Mr. Ward possessed wealth?' the Bishop gently persisted.

'Yes, I did; but——'

'That is the point we want to get at to make your motive clear, is it not? Up to the end of January you were—the word is yours—"callous"'

as to the ill-feeling, the large misunderstanding, and lack of charity between Christians in your parish. You then learned that there was a fortune to be hoped for and became sensitive. We cannot regard your work as God-serving. Now let us look at the favourable side of it. You have done this good work to serve a good man ; that is not wrong, even if he is going to pay you for it.'

In this Ethel felt that she was falsely accused ; she began to right herself by indignant denial, and in her haste to do this she lost sight of the issue that had troubled her a minute before.

'I cannot understand, my lord, how you can for a moment have such an opinion of me. Mr. Ward has never offered me money or hinted at reward of any kind ; he has never even asked me to do anything that I have done.'

'My language is perhaps rough, but all that I mean is that you expect to get this money, that Mr. Ward has suggested certain conditions to you.'

'Oh no ; nothing of the kind.'

'Well, then, tell me how it is.'

'I never even spoke to Mr. Ward about his wealth, nor he to me. He is free to do as he likes.'

'Still, he cannot be blind to the change that has come since he told you he had money.'

'He never told me,' said Ethel.

'And you say that you never told him that you knew ! I could not have believed it,' said the Bishop. Such sorrow and compassion were in this brief word that Ethel looked up amazed.

The Bishop walked to the window. Ethel was aware that he could not look at her for very participation in her shame; and yet it was some time before she felt ashamed. Her mind was so accustomed to confusion that nothing but that complete silence and the heart-stricken attitude of the Bishop would have been strong enough to force her to see the points which his mind had seized upon as convicting her of sin.

When he slowly came toward her she saw that he was not aware of the tears upon his face.

'And your husband—was he privy to all this?'

Ethel winced in the sudden searchlight of these words. The thought that her husband was suspected of being what she was, showed her what she was.

Blank misery made her face look grey and drawn. 'My husband!' she stammered; and then she rose up and held out hands of entreaty. 'Oh, where shall I go? where shall I hide? My husband can never have another hour of peace living with such a woman as I!' Then for a moment she forgot even her remorse. 'You know'—she looked eagerly—'you know him well enough to know that when he is told this he can never be happy again?'

The Bishop smiled through his tears: he was wholly unconscious of smile as of tears. 'Does your husband love you as much as that?' he asked tenderly.

'Oh,' she moaned, 'you don't know how he loves me! It will kill him, I think, if at first, at least, you cannot take me out of his sight.'

'You cannot get out of God's sight. God must go on living with you.'

Desperately she said, 'I do not care about that.'

'Yes; now you have got to the root of the whole trouble. You do not realise God's love for you, or God's sorrow over you, because it is not God whom you love.'

She made a gesture as if brushing away some figment. 'But my husband,' she moaned. 'Will you tell him?'

'I will not tell him, nor will I tell Mr. Ward; but you will.'

Something arrested her passion of self-loathing; she lifted heavy eyes. 'How do you know that I shall? How can you trust me to do it?'

'You have told yourself the truth; that is proof that God is restoring your soul.'

All her life Ethel Compton had courted good influences. For ten years she had sought to walk in the light of Compton's high emprise. In the graphic phrase of the early Church, she had 'sown to the spirit'; she had also 'sown to the flesh.' Natural law is not to be fooled, and the reaping in both kinds was certain, as the Bishop knew full well. Nor had he a doubt but that in this hour of storm and drought the harvest of the flesh must fail, choked by the crop of more vital impulses.

CHAPTER XLIV

THE PALACE GARDEN

SOME hours later Ethel was in the palace garden. There she told her husband the circumstances and motives which had actuated her in the past weeks.

A few minutes before, Compton had sought her where she was sitting under the flickering emerald leaflets of an ancient lime. He had come in a happy humour to tell her that Dinsmore had paid his debt. He was delighted at this, because it evinced the strength of Dinsmore's character in untoward circumstances ; and he knew that Ethel would be delighted to have the spending of a few pounds thus reclaimed. He had crossed the sunny lawn with a light step and a smile. He had found her with lifeless look, physically spent.

After she had made her explanation, Compton sat on the rustic bench, haggard and chill. She had at first no further word to say, feeling that it was no longer for her to express solicitude on his account. She had known since the first glimpse she had obtained of her own heart that to her husband the sin she had committed would seem, in her or in any one, more black and awful than it

did to the Bishop. She could not analyse this, but vaguely felt that it was not because the Bishop was less holy.

‘How terrible!’ whispered Compton with white lips. ‘My God, how terrible!’ and Ethel saw that in the immediate pain of the blow he knew not what he said or did, but crouched, as it were, only trying to live through these moments. During life’s ordeals we are apt to take note of what we call trivial; she observed that he drew back from the light and warmth of the sun, which fell freely through the haze of green, to a part of the bench shadowed by the minster tower. She looked away from his misery.

Compton grew older by that marvellous power the spirit has to mould the outward frame for good or ill. Were those white threads in his dark hair before? Just now they showed for the first time. Had his shoulders drooped before? Now he stooped as with weight of years.

He got up and walked into the further darkness of the trees that stood thickly by the wall of the garden. Now, whether fanaticism be an evil or a good spirit, one thing is certain—it always catches a man at the moment when he thinks that he cares for nothing in the universe but righteousness.

As soon as Compton recalled himself he came back. ‘My dear, the sin is wholly mine.’

She looked up in weak wonderment, feeling that any protest would come ill from her lips.

‘I see it now,’ he said. ‘It is a sharp lesson, but God in His mercy shows me my inward sin.’

He put up his hand to shade his eyes, as if the light of heaven blinded him. Again he took a turn on the grass. 'Oh, my love!' he said, 'the sin is wholly mine, but you have suffered so far all alone!' Heedless of the open space around them he bent over her with a passionate caress.

'But, Cumnor,' she said, 'I don't think——'

'You don't know,' he said; 'but I know. I have been untrue to the message delivered to me; I have been false to the faith.'

'Indeed, my dear——' she began again.

'I have been uneasy for a long time,' he said, 'and now I see that my wretched vacillation, my weak indulgence of unworthy sentiment, has been in the sight of God a great sin. I have even doubted the power of the truth.'

'My dearest! my dearest!' she cried, wholly forgetting herself in her desire to draw his attention to the plain fact that she was the sinner.

'Do not interrupt me,' he said with white lips. He stood between her and the sunshine as he denounced himself. 'You do not know how often, in thinking out my sermons, I have allowed myself to deviate from Catholic truth. I have allowed myself to think of Mr. Latimer, and been afraid to offend him. I, God's minister, with God's truth in my heart, have refrained from its clear reiteration, which was my first duty.'

Ethel gazed with eyes quickened by a great tenderness of pity and love, and as she looked her heart sank lower than before; she did not know why; she was beyond all power of connected thought.

‘I have even—how hard it will be for you to believe it!—I have even thought of women like Oriane Graham, women who are apt to find God’s truth a stumbling-block because they worship the wisdom of this world; and I have been afraid to emphasise the exclusive claim of the Church lest they should stumble—as if I, with my puny finesse, could decide what part of the truth might be spoken when the whole was delivered to me to speak!’

His whole attitude denoted self-abasement. In sheer weariness she looked away from his humiliation. The spring sunshine fell upon the gentle lines of the minster roof and lighted up the old palace with gleam and glint on mossy tile and ivied wall. In the borders the tulips stood like coloured candles lit from the very source of light. Then she looked back at the man she loved, who seemed in such dark contrast to the peace and beauty of that enclosed garden that involuntarily her mind for a moment accused him of lashing himself merely in order to rack her heart.

She cried, ‘Cumnor! do you think I do not know how bad it was? If I had not seen my wickedness, I could not have told you; but I have wept all the tears I have strength to weep; I have said to God all that I have strength to say. I am too tired now to think or even feel, except that pity for you is breaking my heart.’

‘You do not understand what I am telling you,’ he resumed. ‘It was only because I have been so faithless that God let this temptation assail you,

that He let you fall, in order that we might both see to the fullest extent that a mistaken charity, a mistaken tolerance, is not true charity, is indeed the very denial of the only truth by which the world can be saved.'

She had no strength to stem the current of his thought, and had she been able to follow him her mind might have been swept into the rapid current of his conclusion. As it was she lost the thread of his words and dumbly waited.

'I have been deterred again and again from clearly proclaiming the authority and power of the Church by my weak affection for my uncle. Ethel, if he died without desiring or receiving the last sacrament, his infinite loss would be my eternal shame.'

The minster chimes rang out the hour at which they had arranged to leave the palace. Compton started; but he was now inspired by new hope. 'It is time to go and put our repentance into practice. Come, dearest; we will root out from our hearts all that has led us to a mistaken weakness in the guise of charity. You remember that not long since you saw the duty far more clearly than I, until my sin obscured the light of God in your heart.' It never occurred to him that Ethel's repentance might not involve her whole-hearted return to her old point of view. Indeed, it was the belief that they were now at one again that had given him a fierce pleasure in taking all the sin to himself.

She only said brokenly, 'I cannot go. Leave me a little while. I will come to you when I can.'

The Bishop kept Ethel for a week at the palace. He watched Compton's hurried departure with a puzzled mind. There was a light of tense purpose in his face, a haste in his carriage, a constraint in his farewell to his wife which gave his host a vague feeling of disappointment.

In Ethel the Bishop was not disappointed. He thought that the next steps of her life could only be made wholesome by some external work of a nature she had shown herself well fitted to do. He took pains to lay before her his hopes and plans for woman's work in the diocese. His hopes were high; his plans, tending to little immediate outward change, carried in them the seeds of deep reformation.

Ethel did not speak much. She sat day after day in the dark minster, absorbed in prayer or listening to the flute-like voices of the choir boys. She found it impossible at first to return in thought to Mosford, and much easier to give her mind to the schemes about which the Bishop asked her advice. By degrees she summoned courage to lay her finger here and there on practical difficulties.

'How many of these high walls which you see are insurmountable?' he asked sharply.

'None; but we might save our strength by going round to the gate in some of them.'

He looked at her keenly. He was aware that he had found in this woman not only a loyal friend but a gifted helper. 'You have given the right answer,' he said briefly. 'Now point out the gates and find the keys to them.'

This exercise of thought and the quiet confidence with which he treated her renewed her strength. Her mind turned more and more to her husband and her own home duties. Cumnor wrote to her every day long letters breathing love and courage, full of reiteration of all he had said in the garden, full of the conviction that she agreed with all he said.

Try as she would, Ethel could no longer see the complexity of life in the proportion in which he saw it; in her mind the emphasis now lay on love, and in his it was on doctrine. In her desire to please the old man whose hand grasped so much gold she had watched his every expression, learned to know when she pleased him deeply, and when moderately, and when she grieved his heart. Thus gazing, thus labouring with single purpose, she had become changed, clothed in part with his spirit. This is the most powerful of all forms of training. She could not, as Cumnor expected, root out Mr. Ward's ideas wholly from her heart. True or false, they had become in some degree her very self, and, as it seemed to her, her own experience of despair and the renewal of faith taught her that the ways of God are more beautiful, and God Himself more accessible, than she had known. Then, too, the Bishop, whose standpoint again was different, had not travailed in vain for the new birth of her soul. The whole eager life of the brisk little man seemed to her like a sunlit spire pointing Godward.

At length, when her home-going approached, she diffidently introduced her personal problems

again to the Bishop's notice. She gave him some of her husband's letters, hoping that he would comment upon their main drift.

As he read he only said, 'There is a mood which God sometimes requires in order that we may hear Him speak—it is self-effacement. Mr. Compton calls it "self-abasement," but I think perhaps that is just a slip.'

It was the sort of remark that made superficial people call the Bishop 'sarcastic.' Ethel did not so interpret it. 'Do you consider that I ought to think just what he thinks?'

'Did you ever think just alike on religious matters?' he asked briskly. 'If you did, one of you was not spiritually alive. It is only an inanimate thing that can be the same as another.'

Ethel received no further advice from him.

CHAPTER XLV

ORIANE'S BEGGING

No spring was ever more glorious than that in whose long, fragrant days Oriane taught herself to believe that for her there was no more on this earth any springtime of natural joy. She did not mope; she did not exaggerate; she was aware that that which is missed seems perfect, and nothing that is gained can ever be perfect. It was not perfection or any dream-like joy that she really desired, but her whole mental picture of what she wanted was summed up in the thought of one man's lonely life and the sunshine she might have brought into it. Nor was she able to gain comfort from the notion that she could worship God the better and do some better work because her healthy capacity for friendship remained unsatisfied. She was by constitution and training quite unable to believe in the ascetic's God. Something had gone wrong; but she had the faith which believes that somewhere further on there is fulness of life. In the meantime she prayed for a lifework, and studied the record of the home slum and the foreign mission. She

made a point of trying to enjoy herself every day, and was baffled to find that pleasure was not possible.

The day after Mr. Compton returned to the vicarage, Oriane had a note from the Bishop.

'I have seen Professor Pye,' it ran. 'I think the work in which he is specially interested of great importance. There is no reason why you should not show Mr. Ward the article to which I drew your attention. You need not urge the matter. I think you were right in asking me to speak to your friend. I want you to take it on my authority that she is worthy of your utmost affection and needs your friendship. In neither case has your name been mentioned.'

At first Oriane's interest was fixed only on the last line. How much she desired that her action on his behalf might have been told to Nathaniel Pye she only knew when thus assured of the Bishop's most natural discretion. The motherly nature, which was strong in her, went out to the man she loved. She wanted him to have the toy he cried for, for no better reason than that he wanted it; she would also have liked the pleasure of giving it to him, but that might not be.

Next day, under Mr. Ward's direction, she was tying up the superabundant flowers of his little garden.

'I hear,' said he, 'that by degrees you've given every woman and child in Mosford a ride in the motor car, and the new sensation of seeing what banks of clover and fields of mustard look like when they are turned into streaks of coloured

light. You've given them sympathy with the folks inside motor cars as well as with the folks outside. That's all good, you know, for it lessens this class antipathy and makes the inside of their minds larger so that there's more room for God.'

Oriane looked at him with solicitude. He was sitting still in the sunshine where six months ago he would have been working.

His thought responded to hers, often without a word between them. 'Yes; I'm not good for much gardening these warm days. It's twelve years since I was threescore and ten. When a man ceases to work he ought soon to go to a new life where he can work again. I am thinking that I shall be leaving you all pretty soon now. Sally will have Ethel and the children, and she won't be long behind me.'

It needed but a gentle touch to break the fine shell of fortitude that Oriane had so long thrown over her life. She began to weep silently, and her tears fell upon the flowers.

'Nay, now, pretty one,' said the old man gently.

'I lose everything I care for as soon as I care for it,' said she; 'but I know you will think I ought to be quite satisfied.'

'"Satisfied"! ' he cried with energy. 'Why is it your duty to be satisfied? What have you to satisfy you?'

'I have God, and this beautiful earth—ought not that to be enough?'

He spoke eagerly, 'It's a damnable thing to say an "ought" that God doesn't say, for it

certainly keeps you from hearing some "ought" that He does say. If God had meant you to be satisfied, He'd have made you differently. God's thought of what ought to satisfy you is written in every power He has given you.

'We are all cramped in one way or another. What do you call the quality we ought to have to prevent too much wailing?'

'The determination to make the best of a bad business. It requires a high sort of faith to say, "God's in His heaven though things are wrong in the world"; but that's the only sort of faith that removes mountains.'

'Just to bring it down to here and to me,' said Oriane, 'what mountain can I move?'

He went on, 'It's a most exhilarating business, the moving of mountains. Even if one is cramped in by some wrong condition, it takes away the cramped feeling. For example, Sally and I ought to have our children to be doing their share of work in the world when we are gone. If we'd known what we do now of God's will, they would not have faded away too soon. But the knowledge that their premature going was all wrong has given me the faith to call back many another man's child from the gates of death. Something has gone wrong in your life, and you can't turn the hands of the clock back. You will find that the same sort of wrong is hurting other folks; that's the sort of mountain you will have strength to move.'

The noonday bloom of the old man's garden brimmed over the palings. The air, fresh and warm, was filled with spice.

'It is true,' said Oriane, 'that what stunts me has the same blighting influence on regiments of gentlewomen and the sort of men who, having no originality, are all too stupid to see where the harm lies. It is that we exercise our conceited religion, our twopenny politics, our inane sociabilities—we exercise them all within walls of prejudice; and if we don't we find ourselves outcast. If you only whisper the heresy that the walls do not reach all the way up to heaven, you are suspect. Personally, I think the outcast life more interesting, but it is lonely, it is terribly lonely! because all the people who are not in one set of walls are in another set. It's not a case of caste and pariah at all; it is caste against caste, and each in need of the other all the time.'

'It's not as bad as that.'

'You have never been inside any wall; you don't know how bad it is.'

She leaned gloomily on the spade she had been using, her eyes on the ground. All the warm scents of the garden brought to mind the memories of certain spring days when the only man who, by some mysterious power, was able to enlarge her life, had come and gone again. She was thinking of him intensely, and of the many years in which his prejudices and hers had probably been making mutual understanding more and more difficult.

'It's only love that can pull down the walls,' said the old man dreamily.

She started, but perceived that he had only the general question in mind. 'The most that love can do is to overleap them in some cases,' she said.

'That would be more than half selfishness. Better get some battering engine and set love to work it!'

'Yes!' But her mind reverted to her reverie.

And again he took up her thought as if she had spoken it. It was plain that increasing weakness was laying his sympathetic nature more open to that strong influence we call telepathic; but, true to its most illusive nature, he caught only fragments of her thoughts and remained ignorant of their purport.

'It's the sort of thing, my dear friend, Nathaniel Pye and the Bishop are both working at; but, in my opinion, they neither of them see how far it's going to carry them. The trouble is that our hearts and ideas are much too small, and we can't help fancying that God is small to match. Now, one thing that will help us to get a true Christian tolerance is to steep our minds for a bit in the joys and sorrows, the virtues and worship, of the hordes of folk like us, just as far advanced in body and soul as we are, who lived for centuries and centuries before our Lord came, or before the Jews were Jews. No one can blame them for not accepting our notions. It is this insidious idea that people are to be blamed for not agreeing with us that does the mischief.'

Oriane's heart leaped at the unexpected reference to the work whose utility she had come to advocate, but he seemed to pass too easily from the particular to the general to stay at one thought.

He went on, 'The Christian era so far is only

like a month out of a boy's life when he is about fifteen ; but when you get hold of the idea that our Lord came to be a parable of how God thinks and acts and suffers and saves—has done, will do, always, everywhere—then it's easy to believe both that He was God as well as man, and that it takes the outcome of all religions to interpret Him.'

'I want to stop at one point—you feel we must think from the racial standpoint?'

'Well, I think if we are going to make use of big phrases like "the salvation of the world" or "a universal religion" or "Catholic doctrine," let us have some notion of what they must mean to cover facts.'

'Do you think Mr. Pye's digging contributes to that end?'

'I never see him without saying, "Go on, and God be with you."'

'He will need a great deal of money ; and money seems to be so much needed for mission work at home and abroad. I can't make up my mind whether or not it would be right to take money from mission work to dig with.'

'He is well enough able to decide which is the more important. We must remember God cared for these old deaders as much as for us, and it is our business to find out about them.' In a minute he added, 'Sally told me you were saying my friend Nathaniel wanted money ; but I told her I felt sure you were mistaken. He lives very simply and gives away a lot ; there never was a man who wanted it less.'

'He doesn't care for anything less than a very

big sum,' she said boldly ; and then, as her companion turned surprised eyes upon her, she added, 'The Bishop showed me that article Mr. Pye wrote asking for money.'

"Article?" said the old man. 'What article? Could you find the paper for me?'

Oriane found it in the pocket of her gardening apron, and the old man did not express the least surprise at the coincidence. She had been working up the subject for weeks with the hope of this hour. She spread before him a tale every detail of which fascinated her own imagination—the lost pleasure city, the treasures it contained, the wild recess of mountainous desert in which the Professor believed it would be found, the difficulty and expense of the excavation, the important results.

'I think,' said the old man, 'he ought to have told me himself. It wasn't quite friendly of Nathaniel.'

'Oh, don't say that. He wanted to tell you ; it was my fault.'

'Nay, now, my pretty one!' It was his favourite way of chiding her.

'But indeed it is true'; and to pass over this point quickly Oriane returned to her plea for the ruined palaces so long hidden in drifted sand. 'He was a good prince,' she said ; 'as we should say, a serious-minded youth in an age of pleasure. He married an Israelitish princess ; we do not know why—perhaps for purposes of state, perhaps only because she was beautiful and he loved her. He built this treasure palace—perhaps to retire there with her from the world, perhaps to get

time for thought and study. Perhaps he learned to worship her God. He certainly had Hebrew scholars at his court. There are three letters, and a fragment of another, which he wrote; and in one of them he speaks of his wife and of two Hebrew sages who had come to instruct her in matters concerning her nation. Two other letters give orders to his steward for the purchase of wood and stone for the building of these palaces. He also speaks of commanding the scribes to make copies of many books—that is the point of intense interest; if these copies are found——’

“If,” said the old man gently. “If,” my pretty one, what then?’

‘Then, of course, we don’t know in the least what they might be, but they might be tremendously important.’

‘It’s a great speculation,’ said the old man shrewdly.

‘Yes,’ she said sadly; ‘yes, it is.’

‘But there never was any great thing done in this world that was not a speculation to begin with,’ said he.

‘Mission work is a speculation too—a magnificent speculation, and one can’t invest in one thing without taking money out of another,’ she rejoined.

‘Don’t be too sure of that. There’s a way of tapping the resources of the universe at the main. I don’t exactly understand it, but it’s like the pansies and sweet-peas—the more you pluck them, the more they grow. They fetch themselves out of the light and the air and the earth. And I’ve

often noticed that it's the men who give most to one thing who give most to another, and have most left. But, mind you, it isn't always the case. There were many widows in Israel who had given poor men cakes and were the poorer for giving ; but Elijah and a heathen woman managed together to tap the unfailing supply. It's only an old story, but there's a tremendous truth at the bottom of it. There's some law of life that governs, and we haven't just caught it yet.'

His amazing mental energy was rushing into this channel of thought ; it was only by an effort that she recalled the subject of the digging. 'I don't know in the least how much money you have, Mr. Ward,' she added.

'No more do I,' he said with a sober twinkle.

'You must know!'

'It has a hilarious way of accumulating if one stops baling.' He paused ; his face grew sober. 'I get tired of baling ; I am too old to serve tables ; I must ordain some younger man soon.'

She did not feel that she could say more. There was a curious sacredness about the reserve the old man sometimes threw into his manner, usually as open as a child's.

CHAPTER XLVI

THE BURDEN OF WEALTH

EVERY one in Mosford made some remark about the vicar's appearance in the first few days after his return. He did not look ill or tired. His step was quicker, his manner more decided ; there was more light in his eyes ; peace had taken the place of a certain manifest anxiety that before had characterised his expression. Yet the people said that he had seen trouble. The poor opined that he had 'had words' with the Bishop. Mrs. Brown and her daughters were in distress lest some point of ritual might have been forbidden. Never before had Compton got through so much parish business in a few days.

He was experiencing the relief of a mind at unity with itself. Compton had never forgotten the accusation of uncharitableness which his uncle had brought against him. It had troubled him much ; but now, although the controversy raised by the Education Bill was raging with increased rather than abated heat, Compton felt no uneasiness : again the duty of war seemed clear.

Besides this self-unity, the anticipation of unity

in his house gave him relief. He never doubted that with her confession of sin Ethel had abjured her new ideas.

The vicar had fallen into the way of announcing his sermons under more or less interesting titles, a method of attracting working men to church which had been recommended by a guild of parish priests to which he belonged. The factories of new Mosford were employing more and more labour, and it was becoming painfully apparent that the Church congregation did not reflect the growth of the place. John Compton had a fastidious taste and disliked sensational methods, but he was more than willing to play the fool if so men might be won. His announcement this week was, 'The Duties of Christian Love.'

Mr. Ward saw the announcement. How much he longed that this one kinsman of his should be worthy of his calling no words could say. His heart was a deep, strong well of paternal love, and although it embraced the whole generation to which his own children, had they lived, would have belonged, it was only natural that, since he had come to know his sister's son, it should centre most intensely on him. This strength of natural affection had enabled the old man to bridge over all minor differences between them. He had at first felt shocked, felt almost disgusted, at certain fantastic vestments, gestures, and genuflexions which seemed to him to belittle Divine majesty and travesty human dignity. But he swiftly amassed some good books on Christian ritual and read himself, if not into sympathy with his nephew,

into some understanding of his point of view. He often argued the case with his wife, who remained to the last lovingly obdurate on this point.

'You see, Sally,' he said, 'it isn't that he thinks that the Heavenly Father cares about embroideries and bob-curtsies, but that sinful men and women like us need all the reminders we can have of what our attitude must be in coming to God, and all the helps we can have to get into the right attitude.'

'Nothing could help me less than to see a man make a bob-curtsy. Ethel, in the pew, can do it with more grace, although even then it looks foolish. When I see John do it, standing sideways in the singing seat, I feel about as far away from thoughts of God as I can get.'

'You are wrong, Sally. The customs of all nations show that the outward expression of reverence, like modesty, depends upon the association of ideas. Whatever people are accustomed to do when they feel reverent seems to them to express reverence. You know very well how our old Scotch neighbour used to think it so wickedly irreverent of the English folk to gabble through the psalms as quick as they could go; and they thought he was irreverent because he prayed sitting in his pew. As far as reverence goes, I think what John thinks is, that if you must associate reverence with some outward actions, you should bring your actions into line with those that some part of the Church has practised all along. You see, all this acting and these bright-coloured dresses make a

sort of living picture, done to teach the people ; and in times when they couldn't read they might need to get hold of spiritual truth that way.'

'But they can read now,' said she.

'Part of it is very pretty, you know, Sally—very pretty indeed—especially when the sun shines in a long ray through the side window. And whatever is pretty must be pleasing to the Lord.'

'Nothing can make a man doing a bob-curtsey look pretty,' said the old lady ; 'but I just shut my eyes and try not to look. I daresay by the time the children are grown up John may have been brought out into a larger place.'

'I don't know,' said the old man ; 'I don't know that we can reckon on that ; but our question is, whether, if Johnnie remains what he is now, he would help on the coming of the Kingdom as well in his way as we should in ours. We all have the spirit of God in earthen vessels ; the whole question is, how much of the spirit of God John has got.'

'As to that,' said the old lady placidly, 'I don't see that John's child's-play does much harm. It seems to me innocent enough, but silly. But, you know, I always say Nathaniel will do more good with the money.'

The old man leaned back in his chair ; he did not feel inclined to go into the sacerdotal question. In his affection for his nephew he had learned that ritual may be looked at in two ways—as making certain spiritual ideas more material by giving them material expression, or as making all material things spiritual by linking material expression inseparably to man's most spiritual experiences.

He was willing enough to believe that the majority of ritualists might hold an almost divine conception of the sacredness of the common things of life. Never having been brought into that antagonism toward any religious sect commonly induced by the strivings of opposing religious beliefs in the small, crowded spaces of old countries, he came to the consideration of religious ideas hitherto foreign to his mind without that inherited bias which makes our neighbours' religion a cause of offence to most of us.

Thus, before the last days of his life came, he had lost all scruple about odd points of form or doctrine. His whole mind was centred upon having some plain indication that, in what seemed to him the essential point of the larger charity, John Compton was whole-heartedly making straight the way of the Lord. It was with intense eagerness that he looked forward to hearing this sermon on the duties of Christian love ; but when the end of the week came he was no longer able to go to church.

CHAPTER XLVII

THE LAST TESTAMENT

ETHEL was to return on the Monday morning. She wrote to her husband that she would make her confession to Mr. Ward before she got home, going to the cottage on her way from the station.

When Compton had prepared his sermon on the Saturday it occurred to him that he might save his wife a painful duty, and discharge his own soul of a sacred obligation, if he told the old man himself of Ethel's temptation and fall and of his own unworthy weakness and repentance. He went to the cottage early in the evening, but the old man had felt weary and gone to bed. Compton was not to be put off; he found time on his busiest day to go in for an hour before matins.

His uncle was sitting in an easy chair drawn up before the window which was open to the garden. His wife had arranged specimens of all his favourite flowers in a little row of vases on the narrow sill. They fairly sparkled and glowed in the flood of sunshine.

He was not ill; he would not admit feeling any special weakness; he was only tired and must rest.

Compton sat before him and told his story, too full of the shame which he took to himself to perceive how the recital fell on his hearers' hearts. Neither of them spoke till it was finished.

'Well, Johnnie, your wife's trouble, I am sure, reflects on me. Concealment was an old man's folly.'

Compton knelt by the old man's side, and, taking the aged hand, pressed it to his lips. The morning sunlight fell in broad ray upon them. There was a certain family resemblance between the two, but the face of the younger man was like a fine carving in its beauty of outline, and it formed a strange contrast to the massive strength of the older face.

'I cannot take your money,' said Compton. 'It is because I love you I will not. Bequeath it to whom you will; my blessing shall go to those whom you enrich. But I want to tell you now, as I have not had courage to tell you before, what it is that has kept us apart. It is the idea of what is worth living for about which we differ. It is my lifework to preach the Gospel of God's grace as I have received it; and you—whatever sympathy you may have with me—reject the only means offered, as far as I know, whereby that grace comes to sinful men. Look beyond me and my imperfections to the wonderful condescension of God in coming to men in ways which they can apprehend, making the very limitations of human nature the means by which He reveals Himself. You have been taught to listen to your own heart instead of to the voice of the Church, by which God speaks,

by which alone His grace is conveyed. If you, with all your longing for holiness and rightness, will only submit your mind to the teaching of Holy Church, you will see the beautiful economy of it.'

'Say on,' said the old man. 'All that you say of God's loving grace toward human limitations can only err by falling short of the reality, never by exceeding it.'

'Do not speak as if you agreed with me; you do not,' continued the priest faithfully. 'The teaching of the Church, the voice of the saints through all the ages, is that by the hands of men as imperfect as the rest, but endowed with power from on high, God waits to give His blessing and His grace; and whoever refuses to put himself in the channel of that grace has no right to claim it. To get the Father's blessing we must become little children; to share the life of our Lord we must partake of Him, remembering His own words, "He that eateth my flesh and drinketh my blood hath eternal life." This sacred mystery is the charge of the Church. She exists to show it forth, to set forth Christ on the altar—the only source of life to a dying world. But you have so far set aside this assured means of grace. It is the assurance that comes only from submission to the Church, and acceptance of Divine pardon and strength at her hands, that I come to press upon you.'

Compton had bowed his head in speaking, and the old man, looking at him with great affection, murmured a blessing.

‘You will think about it?’ said Compton eagerly. ‘As you cannot come to church to-day, I will leave you the sermon I am going to preach. I know it by heart. Do you read it while I preach.’

Compton went immediately into the church. The congregation was gathered. That morning he preached, with eloquence as never before, an impassioned plea for the recognition of the Catholic Church as the only certain channel of God’s grace.

He put before his hearers that their first and supreme duty was love to God, and that its supreme and all-important expression must be their frequent and reverent presence at the Holy Eucharist. The second great duty, love to their fellow-man, was inoperative until it found expression in leading him also to share the blessing of the great Sacrifice of the altar, or at least warning him of the terrible danger incurred by neglect. This led the preacher to a confession that he had failed in his love to them and an expression of his deep repentance for that failure. ‘There are some of you,’ he went on, ‘who hold it no sin to join with schismatic bodies in their worship. I am here to tell you, by the authority of the historic Church, nay, by the authority of Jesus Christ Himself, that to do so is a grievous sin. There is a living Body of the living Christ in the world, and in this country the Church of England is that Body. There are more of you, perhaps, who hold lightly the privilege your Church offers, and would seek God apart. The daily Sacrifice does not draw you; you are content to live receiving your Lord only at long

intervals, and then coming with but perfunctory notions of the significance of your act. There are those among you who think we can preach Christ to our youngest children ignoring His supreme revelation of Himself in the Holy Eucharist. Listen to God's voice speaking through me and telling you that the mystery of redemption set forth in that simple rite must be the earliest lesson of childhood, as it is the only hope and stay of the mature saint. The Church's ministers (although unworthy) are Christ's ministers; their acts are His acts, and their teaching His teaching. If it were not for this conviction, I should feel that there was no certainty in any form of religion; and when everything is indefinite and vague there cannot be truly either faith or hope.'

When Compton had left the old couple alone together, Mr. Ward said, 'You're inclined to be angry with Johnnie.'

'How do you know that?' asked she, for she was sitting behind him.

'Oh, I can see you, my dear; my heart sees you, even though you're hiding. There's nothing to be angry about. Do you think I am too old to learn anything?'

Mrs. Ward did not deny that she resented the idea that her husband had yet to learn the essentials of Christianity. She said nothing.

'Now,' said he gently, 'you're not angry with Ethel, although you know she has tried to deceive us.'

'Poor thing! How much she must have wanted the money!' said Mrs. Ward.

‘Yes, I know you have forgiven her ; and you’re not angry with me, although you suspected long ago what was in her mind, and I wouldn’t believe you : you said I was leading her on, but I wouldn’t be warned. We have both done wrong—Ethel and I—and you don’t resent it. But Johnnie has only done his best—what he thinks his highest duty—and you are angry !’

‘Well,’ said the old lady, ‘and any one else would feel as I do.’

‘Ay,’ said he, ‘and there’s something deep at the bottom of the feeling, but I can’t get at the rights and the wrongs of it to-day, Sally.’ He passed his hand over his brow.

They read the sermon sitting hand in hand and turning over the leaves together.

Afterwards she said, ‘You will write your will to-day, John, and then it will be off your mind and you can enjoy yourself ; for now we know all there is to know.’

He knew it to be his wife’s most earnest wish that she should not have more than the joint annuity on which they both now lived, and which he had worked so hard for many a year to obtain for her.

‘Very well,’ he said ; ‘bring me a bit of paper—a little bit will do.’

She placed pen and paper before him.

‘You’ll give John what Ethel’s been wanting so much, my dear, won’t you ? You noticed John said she thought you had only £500 a month.’

‘What was it Johnnie said ?’ he asked dreamily ; ‘—that I might bequeath the money to whom

I would and his blessing would go with it, but he wouldn't have it himself? We'll give that much straight to Ethel, my dear, and she'll use it for him and the children. It's commonly God's way to give people what they'll risk their souls to get. God is more merciful than that nephew of mine; he'd want her to face poverty with him all her life because of this sin. It isn't God's way.'

That morning the old man had not eaten his breakfast, and his wife now left him to make ready a nourishing drink. When she came back he had written a few clear lines on a piece of notepaper and appended his signature in a firm hand. Then he had fallen into a happy sleep. She did not wake him, but sat by him a while, and before she was aware, he passed quietly and unconsciously into the spirit world, smiling as if his last breath had brought him a happy dream.

CHAPTER XLVIII

LINES THAT MEET IN INFINITY

AFTER the sermon Oriane walked home with Mr. Latimer. He was always alone in his pew, but he commonly went to his son's house for luncheon on Sunday. At this time Willie with his wife and children were at the sea. The squire, who, since his wife died, had never cared to drive on Sunday, had a long, hot walk to take over the fields to the Hall. Oriane went with him because she knew that he would be lonely and distressed.

'It isn't for myself that I care,' he said at length.

'I care for myself,' said Oriane. 'It's the only church within four miles. I do not feel that it is honest to appear to approve that sort of thing.'

'It's about Willie and Diana and the lads that I am concerned. At my time of life it doesn't matter much what a man preaches; but I had hoped——'

'Yes; I know,' said Oriane.

'I thought Willie might begin to take his lads to church now. It may be an old-fashioned

notion, but I'd like to see Willie and Diana and the children sitting in church on Sunday morning; and I thought, now that Diana is getting so strong——

There was again a pause. With the reticence of his race the squire would have found it as hard to suggest that his son had begun to say his prayers again as he would have found it to breathe a word concerning his own private devotions.

'I understand,' said Oriane. And then she said, 'I suppose you wouldn't want them to go to the chapel?'

'No; certainly not.'

'Then you agree with the vicar so far, that that would be wrong?'

'Not at all. It's not wrong for the lower classes, as long as it isn't political—and Ethel Compton told me herself that the tales against the Coles were exaggerated. I'd sooner the lower classes were Methodists than Catholics; but Dissent isn't for educated people.'

Oriane sighed and turned home again. The ox-eyed daisies stood in warm, silent crowds; the late wreaths of May on the hedges were turning pink, the laburnums dropping gold.

In a meadow by the river she found Miss Brown sitting under a tree conning a lesson for her afternoon class. She rose when she saw Oriane to give an affectionate greeting. She spoke of the exquisite weather in a glow of unusual happiness.

'I hope,' she said gently—Oriane noticed that there was uncommon gentleness in her tone—

'that you liked the vicar this morning. We liked him so much. Mother feels he is advancing. Oh, Miss Graham, if we could only bring the church life of Mosford up to the level he desires!'

'But I could not accept the vicar's dogmatic assertions to-day,' said Oriane.

'I don't see what there is for plain people, especially women, that can compare with Catholic doctrine. I, for instance, have no head for metaphysics; I don't understand abstract things. How can any one feel at home in the world unless they can feel that God Himself is on the altar in the church, and that we can go to Him there just as children go to a mother? It's something so very simple that we need—just to know that He is there, and that we can speak to Him there every day. It makes the whole joy and sacredness of life; and we feel that the dear vicar has never before felt with us so entirely as he does now.'

Oriane passed on and asked herself if she had any valid reason for preferring that the Latimers should be satisfied at the expense of the Browns. It seemed to her so clear that what the church and its ceremonies would always be to the Browns, sky and sunshine would always be to the Latimers. They could never think alike.

When she neared home Miss Kennedy was looking out for her. Miss Kennedy had doffed her soft-hued Sunday summer finery, and was dressed in black. She was going to sit with Mrs. Ward at the cottage, but must see Oriane first.

The marks of tears and the sober garb arrested Oriane. 'Is it Mr. Ward?' she asked.

Oriane stood on the house steps and looked over the heaping snowberry shrubs to the west, where she had once seen the moon set.

After a while disappointment intruded upon pure grief. She had hoped to talk to the old man many times more about his friend Nathaniel and his work. She had only broken the ground; she had meant to say so much more. Now that hope, like others, perhaps was gone.

'I am sure we ought to be glad,' she said. 'The vicar would have misunderstood him more and more, and that was his greatest grief.'

In a little while the aunt said: 'My dear, a strange thing has happened. I may as well tell you at once, for every one is talking of it. It seems that he was a very rich man—very rich. He had more money than we are accustomed to think about. He passed away just after making his will, and those who went in to help Mrs. Ward saw it. The vicar tells me he knew that he had something to bequeath, but he had no idea it was so much.'

Oriane held her breath. 'I suppose,' she said, 'that it all goes to Mr. Compton?'

'That is what is so strange. He has left a considerable sum to Ethel—quite enough to make them easy; but—much more strange—the rest all goes to Professor Pye. Did you know that they were such close friends?'

Oriane turned away to hide the pleasure she felt. 'It is not exactly for himself,' said Miss.

Kennedy, 'and yet he has it unreservedly. The phrase is, "satisfied that he will use it for the welfare of the world."'

Nathaniel Pye came down to Mosford. He spent three days with Mrs. Ward. No doubt his every hour was occupied in gathering up the many threads of the old man's benevolence. No doubt every moment he could spare from his work as executor it was his pleasure as well as his duty to devote wholly to the sorrowing wife. Miss Kennedy, guarding for the hour the simple *menage* of the cottage, saw him frequently. Oriane did not see him, except across the grave at the simple funeral.

There was only one other guest at the grave. The Bishop happened to hear the appointed hour in a broken-hearted letter from Ethel; he came trotting up from the station without a word to any one, to stand in silent respect while the old man's body was laid away under the flower of the grass.

CHAPTER XLIX

ORIANE'S PARABLES

WHEN summer was again passing into autumn, Compton came early one morning into Miss Kennedy's house on an errand to Oriane.

Outside, the garden was fading. The roses had strewn all their petals on the ground, and here and there the first sere leaves were falling from shrub and tree. Inside, the room was full of light and beauty. With its white chintzes and rose-coloured hangings, and its small but exquisite pictures, it suggested the feminine side of life at its fairest. Oriane came in to see him, stately in her white summer gown. She sat among pink cushions to hear his errand.

'I had a letter from Professor Pye this morning,' Compton began. 'He has gone to the East; he writes just before leaving. He says that, as my uncle's executor, he wishes you to have a gift in memory of him, and he asks me to beg your acceptance of it. He supposes that Mrs. Ward may have already given you a small personal remembrance; but my uncle's belongings were few and simple, and as so much was confided to

his own discretion, he judges that my uncle would like you to have something of value as a small acknowledgment of your many kindnesses to him.'

Compton handed her a packet. It was addressed to him, but he had not had the curiosity to investigate it further after taking out the letter.

Oriane opened it, and was startled by the flash of jewels in a costly ornament.

'You need not be disturbed,' said Compton, smiling kindly. 'He regards the money as not his own, but to be given away. In my uncle's name I think this is well done.'

She looked at him for a moment. His face showed entire satisfaction. Never had the most critical eye in Mosford detected in Compton the slightest regret that so much wealth had passed him.

'You do not care in the very least for either jewels or gold, Mr. Compton!' said Oriane. 'Why should it give you, apparently, such pleasure that I should receive this?'

'Oh,' said he, 'I like to see them on Ethel; and the children will have their share by and by. All women should have their share.'

'I am glad you are pleased,' she said. 'Did Mr. Pye give any address to which I can send my thanks?'

'No; he did not. He asked me to acknowledge its receipt to his bankers. He has made some arrangement about his work and is posting away to the North Syrian desert.'

Compton rose to go. He was looking thin and worn. He had not had an easy summer, as

Mosford people knew. He had met with some opposition to the more pronounced doctrine he had lately been teaching. The Latimers were repulsed, the working men indifferent, and he had not as yet found any enthusiastic support except from a few, chiefly women.

Oriane saw how worn he looked. Her resolve was made. 'I wish you would wait and hear something that I have to say.'

As a long familiar friend, he rested against the window-sill while he waited.

'What I am going to say is a warning which I feel is given me to utter. I must say it, because I have suffered so much; and you must hear it, because you were the cause of my suffering. You will realise how painful it is to me to speak, because my speech involves a confession.'

He looked at her in great surprise. About her all the beautiful things in the room gleamed or glowed, repeating the outer summer. The jewel she held lightly in her finger-tips flashed, a focus of light. Oriane herself, tall and strong and vigorous, with her crown of golden hair, seemed to him as far removed from suffering and aught that could cause her shame as a human being might be. The flush of youth was still on her cheek. Yet stay! He had never noticed before, though now he knew, that Oriane was no longer young. The summer of her life was almost gone; the laughter he always associated with her grey eyes was no longer there.

Oriane went on quickly, 'It is part of your vocation to bury confessions in your own breast.'

He bowed. His figure assumed a less shrunken air as he thought of his vocation.

'I am not going to confess my sins, but something much harder to speak of, although wholly right. When I was young the man of whom we have been speaking loved me—and I loved him.'

Compton started visibly. 'I never guessed that you cared, Oriane. I am very sorry—very sorry indeed!'

'You are sorry that I loved him—I can believe that; but you are not sorry that you sent him away.'

'Your aunt——'

'My aunt may have wished to do it, but she would never have done it—you know that very well. Her gentleness, her native politeness, was far stronger than her theories. If she had tried she would never have hurt him, as you did, so that he could not return. You would not have acted as you did if you had thought her capable of acting.' Oriane went on, 'It has taken years—all these years—to teach me, by slow and sad degrees, that he still remains the standard of all that I like, that I can never care in that way for any other man. I have lately heard him say what has convinced me that this separation was as hard for him as it was for me, that just as he had a stronger nature than mine, so he has suffered more than I have. I feel sure that what you did is irrevocable. Not only have the best years of our lives gone, but all that they might have given us has been lost, and we are no longer within reach of one another. My life has gone round and round

one little centre ; he has gone far on ; I do not think now that there will be a meeting-place.'

'No one could fail to feel the utmost sympathy with trouble such as you describe,' cried Compton. His face was full of concern ; his voice faltered. 'Yet I am sure you know that I——'

'What you would say is just what I want to talk to you about. This thing that you did was done as a duty. You did it in your service of God !'

'I tried to put before him the privilege and duty of taking Holy Orders,' said Compton.

'I have not told you that you have spoiled my life in order to reproach you on so small a matter, but in the hope of persuading you to reconsider a much greater thing. You felt sure that you were doing right in separating us. You knew that he would suffer ; you thought that he would lose his best chance in life in losing me ; but you thought he deserved that because he was perverse. Tell me, Mr. Compton—had you been able to foresee that it was my life that would be spoiled, that Fate or Providence would comfort him with such large compensation of knowledge, wealth, and personal power as he has, while I live on with little power, little influence, little heart for life—could you have seen all that, would you have been equally sure that you were right ?'

'What you have told me requires time for reflection. The fact that you have suffered——' What he himself was suffering at that moment was most evident. He turned from her with a gesture of pity and looked out where the garden drooped in the autumn drought.

neighbours in that deep region of thought and feeling which underlies all tastes, prejudices, and actions. Love cannot exist without understanding. Without understanding, efforts at kindness can only produce a series of stupid insults and blunders, which cause them to misunderstand you in return. You instigate this entire religious separation in the full conviction that it is only those who perversely refuse to be united to your Church on your own terms who will suffer. But I am sure that it is your Church that is suffering, and will suffer most, by this separation, and that they are not cut off from you by their own perversity so much as by your fault. They are not perverse in refusing to accept wilful ignorance and misunderstanding as the right fruits of Christianity, nor in testing your teaching by its fruits, for that is the command of Christ. And if your doctrine does not produce the right fruits, is it not time for you to consider whether the hearty acceptance of diversities which hitherto you condemn, is not needed to establish that real unity of love which can alone vitalise the world? It may be the very union of what is radically and permanently different in a common religious life that God requires in order to people His Kingdom.'

He looked across the garden to the blue above the trees. The very principle that she sought to assail was for him part of that eternal truth which seems to rest above the challenge of reason and experience, as the distant sky rests above all earth-born change.

Men called him perverse, but no man was less perverse than John Compton. He was far too true at heart to reject light. He saw a vision that Oriane did not see, and he was blind to almost all that she saw. His mind moved slowly, but now one glimmering ray reflected from her vision came to him. He bravely turned his heart to it.

He spoke. 'You think some people are kept out of the Church by my fault, not their own?'

'Look at what has happened in this small place! Mosford may mirror Christendom as we tell the children that the dewdrop mirrors the universe. I could not like you so well, and respect you as deeply as I do, Mr. Compton, if I did not say, this once, what it hurts you to hear.'

'Yes; I understand. Go on.'

'We began the year in a state of fierce anger with half our neighbours, and they with us. Did the healing of that most unneighbourly strife proceed from your teaching?'

Compton winced visibly.

'Look at Willie and his wife. Even if you regard his return to life as a happy accident, who was it that taught Diana that the very king of all those terrors that enslaved her was vanquished long ago in the Resurrection? If Diana and Willie live now in the most child-like and happy form of Christian faith, and teach it to their children, is that your doing?'

'My dear uncle was a very remarkable man.'

'No; do not rest in that explanation, because the same thing goes on in other places. Take another

instance. Years ago you and Nathaniel Pye were young preachers together, and all external advantage was on your side. Do you realise what his religious influence is now? I do not know enough to speak of his influence with scholars, of the firm hand of Christian faith which he is said to have laid on critical questions——'

'You forget,' he cried, 'that while he is a genius I am a dullard.'

'I said I would not take his scholarship into account. Nor will I speak of the influence of his daily life of self-denial, for we know little of that. I want to tell you that I heard him speak once at a devotional meeting. There were thousands there of all sects. - Those crowds did not go away without a stronger hold upon a faith that no convulsion of theology can shake. I know that from what they said as they went out. He spoke so easily; I could see that both he and they were accustomed to such occasions. His position and power in every way is another parable. The Church from whom you have inherited your doctrine used to stand beside the sects with every outward advantage on her side, just as you once stood beside him; but fate has given numbers and power and wealth and holy influence to these sects. Probably they come no nearer to grasping eternal truth than you do, but they hold the gate of heaven open for those whom you shut out; and I want you to open your heart, and ask if God may not be taking from you and giving to them for that reason.'

'We do not grudge them their prosperity. We

stand aside; we have our own work. We do not deny that God, in His mercy, may work by these means.'

'If some one came to Mosford with introductions from the Glynnes, and you went about saying, "I do not deny that these introductions are valid," and yet took care never to be seen in his company, you would be denying in the most emphatic way that he was a friend of the Glynnes, and your vague words would be mere cant. Just in that positive way you are denying that the Dissenters are friends of God, and that their good work is His. But common people like myself are not perverse when we recognise them because they produce the fruits of Christianity. We do not deny that you also are His ministers; we do not want to leave you. Your sin is in bidding us choose between them and you. You bar us out. In this great English nation, which we love so much, you and such as you are separating one half the Christian aggregate from the other—just as you once separated two lovers in the case I have told you about.'

He stood before her gazing intensely at her face; but she saw that he had lost sight of her in trying to pierce through the veil of circumstance and see if there could be any vestige of truth in the description she had forced upon him.

She rose up. 'I would not reproach you with this personal sorrow were it not that I think you are just now busy depriving the Church of the children who might be hers in the future, and lessening her national usefulness by cutting her off

from those who believe in Christ as much as you do, though they do not seek Him by your road.' Laying her hand in his with lingering confidence, she added, 'If truth does require it, then be staunch to your principle ; but for once I entreat you, open-heartedly, to reconsider your doctrine. Truth comes first ; but a teachable heart is needed to arrive at truth. I am no theologian ; I am only a disappointed woman. My assertions cannot weigh much with you. Yet I beg you to consider my parables.'

CHAPTER L

‘NOW MINE EYE SEETH THEE’

COMPTON went out into the village street feeling dazed under disappointment. He had hoped, by his staunch preaching of the great doctrine that possessed him, to have produced a different result on the mind of a woman like Oriane Graham. If this hope was so far fallacious, who should say that Oriane’s version of the results of his work in the parish was wholly untrue?

To the Christian the pains of physical hardship, or of human persecution by violence or neglect, are but the light afflictions of a moment, bringing even present compensation in the privilege of bearing God’s blessing to mankind. But to hear that the enemy is distributing blessings, to hear that one’s own power to bless the world is failing, to look about with keener glance and see much that corroborates the heartrending taunt—this does not seem to be one of those legitimate pains for which there is certain reward.

Compton’s mind naturally reverted to the obvious good which on all sides in the parish had resulted from his years of labour, and to the

evident impetus given to the religious life of some by the advanced doctrine he taught. He looked across to where the street widened out to embrace the church and churchyard in its broad triangle, and there, on one side, ivy-hung among its trees, stood Mosford Chapel. As far as he knew, the steady work there carried on could also show as good a moral result. He had spoken quite truly when he said that he did not grudge the Methodists their success; but at this moment it seemed to deprive his own success of the argument he would have derived from it.

Compton mounted the familiar steps from the old street to the raised turf of the churchyard. Many causes of discouragement—which, firm in faith and hope, he had till now refused to take into his calculations—obtruded themselves on his notice. Especially his wife's sentiments rose now in his mind with depressing force because, most illogically as he thought, she had remained silently loyal to his uncle's point of view.

He had to transact some business in the vestry. His inner pain did not change as he attended mechanically to the details in hand. He was still thinking, or trying to think, how far Oriane's accusation might be true.

The great strength of his character lay in his constant willingness to see that he personally might be at fault. It was here that he saw now the gleam of new truth to which he turned eagerly. Not for one instant did he doubt the doctrine upon which his order of life was based, or the order based upon it. How should he?

Every thought from boyhood had been adapted to that conception of the Divine society which he upheld. He had so learned to read the Bible that every text was pregnant with this plan of God's salvation ; every detail of human history or art was, as he interpreted it, a witness to his belief. To him, as to most men, what was most familiar seemed simple and self-evident. If it was true that the dews of heaven rested all about him while his own lot was parched, it must be from causes outside the great articles of the Catholic creed.

His business finished, he sat in reverie, trying to hold his gaze to the glimpse Oriane had given him of a great beneficent spiritual outflow from sectarian life and of himself as deflecting its flood from what ought to be a common channel. He would not let it go, but gazed and gazed. He had no great range of vision, but he had never yet blinked any light or shadow that came within his range. What could be the secret by which the sects blessed men whom he, and perhaps others such as he within the same fold of God, were shutting out ?

Compton was in a small, rudely furnished vestry. The door into the church was shut ; a narrow door into the churchyard stood half open to let in the autumn warmth. Now and then a leaf dropped, telling of the passing of life.

It was no wonder that Compton was moved. Whatever be the truth of any theory of intelligible vibrations in the ether set agoing by the motion of thought in the brain, it is certain that one man's

force of thought and feeling knocks at the door of another man's brain in many ways that are not perceptible to conscious sense. The whole great force of his uncle's life in Mosford—his prayers, his kindness, and all the current of feeling he had directed in other hearts—had been slowly but surely appealing to the latent power of brotherly love in Compton's heart. Some direct result was bound to come in reaction from the vigorous opposition to which he had, till now, been roused. To the onlooker in human affairs the only question must be, what form his religion would give to the uprush of volcanic feeling when some accident loosened the stern crust of repression. There is the universalism of the mystic always underlying the separatism of the saint.

The very serenity of this man's intellectual belief had been half his weakness. He had never divested himself of the underlying conviction that those who rejected the claim of the Church were guilty of neglecting opportunity. He had thought that a revelation so plain and so well-attested must commend itself to any really candid seeker after truth. But he was also quite familiar with the notion that unfaithfulness in preaching Catholic doctrine on the part of Churchmen might withhold from the world its opportunity; he had already regulated his life by that possibility.

Now, for the first time, he was on the track of a variation of this idea; what if some infidelity on the part of Churchmen, not to doctrine, but to the Divine Type of Love, kept earnest souls outside the fold. Perhaps Churchmen had made a

large mistake as to their duty of love, and thus barred the door. In such case what would God do? Compton almost laughed when he put it to himself in this way; the answer seemed so simple. God would leave the righteous Churchmen and go out to the lost sheep. Had God not always proclaimed this to be His way? The harassed mind of this poor priest leaped to meet a possible explanation of much that had long disturbed his peace. 'When the poor and needy seek water and there is none, the Lord will make the wilderness a pool and the dry land springs of water.' Was not that God's revelation of Himself all through the Bible? Did He not always run to meet the absent, to seek the lost? and if false shepherds could beat back the wanderers when He would bring them home, would He not certainly stay outside with them? Would He not pour out superabundant grace upon the outcast? Perhaps, then, it was all true—that the grace of God was flowing in channels that he had thought dry.

Whatever the truth of his premisses, however faulty the logic of his reasoning, his heart by this way entered into a new vision of the Divine activity in the world. So great was his real love to God and man that the accompanying thought of his own sin—perhaps the sin of his whole caste—did not hinder his heart's delight in picturing a close fellowship between God and those masses of men who had before appeared to him to call upon Heaven without reasonable hope of response.

He went into the empty church, and as he

knelt rapt, the chilly Norman arches became filled with the glory of God. His new thought grew into belief; the belief filled him with an unutterable joy—joy such as the worldling cannot dream, such as the heart that harbours a worldly taint may never know. In the mystic's true vision of God all earthly loves become as shadows of one Reality, and there is nothing real but Love.

The burden he had borne in the thought that multitudes of good men were allowed to suffer loss by lack of God's grace had been greater than he knew. The lifting of it was like relief from some suffocating gas which had well-nigh stolen his life unawares. He went out from under his burden with a gaiety of heart he could neither control or understand. He fixed his attention on his new joy, giving thanks to God for one and another Dissenter whom he chanced personally to know. As his praise became intense the very vision of these men rose before his closed eyes, and in a dim glory of light, the vision of God encircling them with irresistible tenderness of love. With the true self-despite of the ascetic, he had never thought of himself as thus embraced—no, it was theirs as compensation for the sins by which he had shut them out from their proper home. This vision of God was a joy containing all joys for him. In its light, like Job, he gladly abhorred himself.

Compton's was a very simple and a very tenacious mind. Having thanked God with jubilant heart for setting aside all barriers in His eagerness to bless the unfortunate, and with incon-

sistent delight acknowledged himself a fool for not knowing that God must act thus, he set himself to discover how to amend his own way and co-operate with God.

Firm in his view of the true fold, he did not for a moment dream that God could be satisfied till the erring were brought in; he only began to examine in what ways he had made the fold inaccessible when the Shepherd who held the lost in His arms would have passed in. Clearly, to have thought of them as otherwise than in the Shepherd's arms must have been a conception fruitful of many mistakes.

CHAPTER LI

THE WINE OF THE KINGDOM

LATER Compton had occasion to seek his wife on behalf of one of the many who were always calling for her help. She was not at home, and he naturally sought her in Mrs. Ward's cottage. The small garden was still gay; flowers of the old man's planting were making their last gorgeous effort before turning to their winter sleep.

Compton lifted the latch of the gate and went up the path. Dahlias and phlox and golden-rod stood like a forest level with his shoulder. The forest was peopled; Diana Latimer, her younger children, and two of his own, were playing hide-and-seek in it. Within the house Willie was painting the old lady's picture; Compton's black-eyed daughter was on her knee. Ethel, in apron clad, was soberly doing such household work as the old lady usually did for herself.

Diana and the children were playing their game with unfeigned delight. Compton had always thought that Diana's singular beauty had a soulless look. He now paused, seeking to revise this impression. Diana stood behind a clump of

dahlias, holding her skirts back. Supple and slight as a wood nymph hiding from Apollo, she stood, her dark head bowed behind the scarlet clusters.

‘If I do not interrupt——’ he began.

Diana came out from her hiding, and the sobered children gathered round her. He became aware that she did not like his interruption.

He asked a friendly question about one of her nursemaids.

‘She has plenty of time to go to church, Mr. Compton. How can I help it if she doesn’t?’ said Diana.

There was nothing flippant in her tone, but no response in it to his solicitude. He reflected that he would be the last man to whom Diana would show her better side.

‘To tell the truth, Mr. Compton, I believe she has been going to the Methodists ; but now, don’t scold her, because if you do I shan’t tell you another time.’ And the eager faces of her children, looking up at him, by their expression repeated, ‘Don’t scold her.’

Compton had never been a scold, but he saw that was what these thought him. He felt the full pain of it, but as of something already passed. He had begun a new life, although it was not yet articulate. He had arrived at no mental solution of any of his problems, but he had a renewed heart. Diana looked at him, and a sudden reverence rose in her, not for him personally but for mankind. She felt a new liking for him. When he entered the house she carried the memory

of his smile into the game, and felt her heart lighter.

'Cumnor,' said Ethel, 'auntie has serious news from Mr. Pye. He did not get further than Paris. His mother had a stroke after he left her; he was called back. He is evidently feeling his mother's illness terribly.'

Compton threw back his head. 'I will go to him at once,' he said. The new purpose broke joyfully into its first action; in his heart he caught at the hope of righting a wrong, and he knew how he might try to do it.

'To Oxford! O Cumnor, what good could you do? and at this time of day you could not get back in time for early service to-morrow.'

'I must just leave it. I am going to some one outside. Is his mother dying?'

'No, not at all—at least, he doesn't say so. Are you sure you ought to go? I do not see why.'

That evening he walked into the Professor's study.

Nathaniel Pye had all the remoteness from extraneous detail common to the scholar's temperament, but he also had the extreme sensitiveness of a man whose passion for humanity springs from the power of intense personal affection. The complexity of such a nature is not easily understood. It is perhaps more rich in result to the world than in happiness to the man thus endowed. Many of the sorrows of such a man arise from the fact that he has little power of self-revelation compared with his insight into the common mind. Only to his mother had Nathaniel Pye, so far, been able to

make himself fully understood, hence his absorption in her love. She was lying now, half-unconscious, and he was stunned by the real, if not final, loss of her.

He was undergoing one of life's dreariest phases, when the thread of personal purpose seems to be snapped and no design can be traced in the resulting chaos. He was heavy from loss of sleep. He was not glad to see Compton, and when he learned that he had come so far on his behalf, the real gratitude he felt was hardly expressed.

Every one who knew Compton knew that when he was in the right mood he could make himself very winning. In the next half-hour he himself learned that this right mood had never before been upon him except in hours of personal pleasure. Now it possessed him, because he was possessed with a vision of divine love which did not wait to be rightly met, but pushed its glad insistent way over all obstacles.

It was some time before he could even draw from Pye the slightest account of his affairs. It seemed that he had always hoped against hope for his mother's entire recovery. This attack not only blighted hope but deprived him of any further communication with her. This was the focus of his trouble. He blamed himself because the seizure seemed to have been brought on by his recent departure, and his return had done no good ; she lay only partially conscious. He was afraid to leave her lest fuller consciousness should recur in his absence ; yet there was no reason to expect

any change. Having planned for a half-term away from Oxford, he had not the relief of present duties. He had plenty of friends ; from the look in his eyes when he mentioned their unremitting kindness, Compton gathered that he felt rather oppressed by it, and only wanted to brood over the memory of his mother in her brilliant youth.

By the time this had passed between them, partly in words, partly revealed without telling, Compton had been made to feel that he ranked with those who marred grief's privacy ; but Nathaniel Pye at last observed, what Diana Latimer had more quickly seen, that there was something new in Compton's manner, something that made a man the happier for his presence.

'Is there nothing I can do ?' asked Compton. 'I will stay, or come back again.'

'There is nothing to be done, thank you.'

'And yet, since my uncle adopted you, you are in that sense my nearest kinsman,—in fact I have no other.'

Pye looked in sheer astonishment at a man who could make excuse for family affection out of the loss of the major part of a fortune. He suddenly said, in a kinder tone, 'You are like your uncle.'

'No ; I have not his unworldliness. What a man had made no difference to him. But I may as well confess that after his death I did not like to be too friendly with you, fearing you might think that your good fortune enhanced your worth in our eyes. I have got beyond that now ; I have come to ask for your friendship for myself and my wife and my children. There are many

things you can teach us all. I am not going to let my uncle's friend pass out of my life if I can help it.'

'You are very kind. I will not forget such hospitality.'

'You cannot wait here, sitting alone with sorrow day after day, and suppose that we are indifferent. You have many friends in Mosford. If in a week's time there should seem to be no change approaching, will you not come down to us, if only for a few hours?'

'Thank you, but I must not leave Oxford again.'

Compton felt that he was dismissed and rose perforce. But he was still determined. 'I ought to thank you, as far as I may add my own thanks, for that gift to Miss Graham. We all thought it appropriate.'

'Did she like it?' Not a shade of interest was expressed in the tone.

'She did not tell me whether she liked it or not.' Compton stopped short, and then he said, 'I wish I might unburden my mind of one folly of my youth. I was impertinent when, as a young man, I overstepped my duty in interfering between you and Miss Graham. Her affairs were really no business of mine.'

The other simply turned his back, moving a few steps slowly to his desk, as if absorbed in his own affairs. He said, 'I have a letter here Mrs. Ward might like to see; will you carry it to her?'

'I am not speaking of this old matter merely in order to ease my own mind,' said Compton; 'but

because it has occurred to me that you may have thought at that time I knew Miss Graham's mind—I did not.'

The other said nothing, but Compton saw a certain change in the subtle outline of the broad shoulders and pose of the head, an attitude of eager listening.

'Of course,' continued Compton, 'with regard to Miss Graham I can say nothing; but it is right that I should make it clear that at that time I did not express her inclination. I did not know what she felt.'

Compton saw that this missive had struck home.

Pye turned, but his voice was formal. 'I am obliged to you. At the time I assumed—but the past is passed. Will you give this letter to Mrs. Ward?'

'You naturally assumed that I spoke with her consent. Otherwise, perhaps you would not have felt justified in leaving her without an explanation.' Compton had carefully chosen this stone for his sling.

Pye's whole attitude stiffened. He was exceedingly angry, and the breeze of temper did him good. His eyes shone fiercely under heavy, black brows. 'And now, do you mean to reproach me with having played a dishonourable part?—you!'

'Yes, I own that at that time I wanted to send you away. In that, according to my lights, I suppose I was right. But perhaps the source of the wish was brackish, because in examining this action, which I had almost forgotten, I find that I

had no right to act at all, and also that in assuming, as I certainly did, that Miss Graham must in her heart agree with me, I probably gave you the impression that I knew her wishes.'

'Any way, I must say you have extraordinary courage to come here and accuse me of acting ill.'

The force of this anger assured Compton that he had given a conscience prick that would urge this man to action. He lingered, talking a little on other matters to show that he had finally dismissed the painful subject, and Nathaniel Pye emerged from his sudden gust of ill temper in a more frank and human mood. Compton's kindness won upon him by degrees.

'I wish you would come to see Mrs. Ward. She thinks of you always, and now is grieving over you. Isn't it your duty to come and see for yourself whether my wife makes her happy?'

'That is not necessary. Her letters are full of Mrs. Compton's goodness.'

'But I want you to promise me to come—I will not go till you promise.'

Because of his importunity the promise was given.

That evening there was a meeting held in Oxford on one side or the other about the Education question. As Compton passed the hall little groups of undergraduates who had been listening at doors and windows came suddenly shouting into the street, blocking the way in loud quarrel. In the dispute he heard the rival war-cries, 'Trust deeds,' 'parental rights,' 'public control,' 'religious tests'—such terms were banded about. Compton

heard, but they woke no note of answering disquiet in his mind. The vision which he thought had been his that day taught him the power of peace.

As the white ray holds in itself all the colours of the prism, so to this man his sight of God held all that could be of delight—in beauty, physical and moral ; in pleasure, temporal and eternal ; in love without doubting, and life without shadowing fear. This treasure was a lifelong possession, and whenever he let his thought dwell upon it he felt like a child who is secure in the might of right, and like a king who, in joy of accession, must set all prisoners free.

THE END

POPULAR SIX-SHILLING FICTION

RUDYARD KIPLING.

THE JUNGLE BOOK.
SECOND JUNGLE BOOK.
SOLDIER TALES.
CAPTAINS COURAGEOUS.
MANY INVENTIONS.
PLAIN TALES FROM THE HILLS.
WEE WILLIE WINKIE, Etc.
SOLDIERS THREE, Etc.
STALKY & CO.
LIFE'S HANDICAP.
THE LIGHT THAT FAILED.
THE DAY'S WORK.
THE NAULAHKA.
KIM.
JUST SO STORIES.
TRAFFICS AND DISCOVERIES.
PUCK OF POOK'S HILL.

MAURICE HEWLETT.

THE FOREST LOVERS.
RICHARD YEA-AND-NAY.
LITTLE NOVELS OF ITALY.
THE QUEEN'S QUAIR.
FOND ADVENTURES.
NEW CANTERBURY TALES.
THE STOOPING LADY.

LONDON: MACMILLAN AND CO., LTD.

POPULAR SIX-SHILLING FICTION

JAMES LANE ALLEN.

THE CHOIR INVISIBLE.
THE INCREASING PURPOSE.
FLUTE AND VIOLIN.
THE METTLE OF THE PASTURE.
KENTUCKY CARDINAL AND AFTERMATH.

WINSTON CHURCHILL.

THE CELEBRITY.
RICHARD CARVEL.
THE CRISIS.
THE CROSSING.
CONISTON.
MR. CREWE'S CAREER.

EDITH WHARTON.

DESCENT OF MAN, and other Stories.
THE HOUSE OF MIRTH.
THE FRUIT OF THE TREE.

MARY CHOLMONDELEY.

DIANA TEMPEST.
SIR CHARLES DANVERS.

OWEN WISTER.

THE VIRGINIAN.
LADY BALTIMORE.

CHARLES MAJOR.

DOROTHY VERNON OF HADDON HALL.
A FOREST HEARTH.
YOLANDA: Maid of Burgundy.

LONDON: MACMILLAN AND CO., Ltd.

391. *Via Crucis.* By F. Marion Crawford.
390. *A Bitter Vintage.* By K. D. King.
389. *She Walks in Beauty.* By Katharine Tynan.
388. *Richard Carvel.* By Winston Churchill.
387. *Little Novels of Italy.* By M. Hewlett.
386. *Stalky and Co.* By Rudyard Kipling.
385. *Miranda of the Balcony.* By A. E. W. Mason.
384. *War to the Knife.* By Rolf Boldrewood.
383. *The Log of a Sea-Waif.* By F. T. Bullen.
382. *The Enchanter.* By Miss U. L. Silberrad.
381. *The Cardinal's Page.* By James Baker.
380. *A Drama in Sunshine.* By H. A. Vachell.
379. *Rupert, by the Grace of God—* By Dora McChesney.
378. *Black Douglas.* By S. R. Crockett. [F. Pollock, Bart.
377. *The Etchingham Letters.* By Mrs. Fuller Maitland and Sir
376. *A Modern Mercenary.* By K. and H. Prichard.
375. *Cruise of the "Cachalot."* By F. T. Bullen.
374. *On many Seas.* By H. E. Hamblen.
373. *The Pride of Life.* By Sir W. Magnay, Bart.
372. *Off the High Road.* By Eleanor C. Price.
371. *Young April.* By Egerton Castle.
370. *The Pride of Jennico.* By Egerton Castle.
369. *The Game and the Candle.* By Rhoda Broughton.
368. *One of the Grenvilles.* By S. R. Lysaght.
367. *Selah Harrison.* By S. Macnaughtan.
366. *The Adventures of Francois.* By S. Weir Mitchell.
365. *For the Term of his Natural Life.* By M. Clarke.
364. *The Gospel Writ in Steel.* By Arthur Paterson.
363. *Bismillah.* By A. J. Dawson.
362. *Treasury Officer's Wooing.* By Cecil Lewis.
360. *Her Memory.* By Maarten Maartens.
359. *That Little Cutty.* By Mrs. Oliphant.
357. *The Red Axe.* By S. R. Crockett.
356. *The Castle Inn.* By Stanley J. Weyman.
355. *Roden's Corner.* By H. Seton Merriman.
354. *The Day's Work.* By Rudyard Kipling.
352. *Helbeck of Bannisdale.* By Mrs. Humphry Ward.
351. *A Maori Maid.* By H. B. Vogel.
350. *The Forest Lovers.* By Maurice Hewlett.
349. *The Concert-Director.* By Nellie K. Blissett.
348. *A Philosopher's Romance.* By John Berwick.
345. *Plain Living.* By Rolf Boldrewood.
344. *Rupert of Hentzau.* By Anthony Hope.
342. *The Choir Invisible.* By J. Lane Allen.
341. *A Chapter of Accidents.* By Mrs. Hugh Fraser.
340. *For Prince and People.* By E. K. Sanders.
339. *Corleone.* By F. Marion Crawford.
336. *The Well Beloved.* By Thomas Hardy.
334. *Lawrence Clavering.* By A. E. W. Mason.
332. *A Rose of Yesterday.* By F. M. Crawford.
327. *The Fall of a Star.* By Sir W. Magnay.
326. *The Secret of Saint Florel.* By John Berwick.
325. *My Run Home.* By Rolf Boldrewood.
320. *The Philanderers.* By A. E. W. Mason.
319. *Queen of the Moor.* By F. Adye.
- 317-318. *Farthest North.* By F. Nansen. 2 vols.

316. The Pilgrim. By C. M. ...
 315. Stories of ...
 312. The Greer ...
 310. The Money ... यह पुस्तक ...
 309. Palladia. By ...
 307. Wheels of Chi ...
 303. Ravenstone. ...
 301. Camps, Quarters, ...
 300. The Story of Maurice ...
 299. The Seal-skin Cloak. By Rolf Boldrewood.
 298. For Freedom's Sake. By Arthur Paterson.
 297. Taquisara. By F. Marion Crawford.
 296. Sir George Tressady. By Mrs. Humphry Ward.
 295. Master Beggars. By L. Cope Cornford.
 294. Jude the Obscure. By Thomas Hardy.
 290. Mrs. Martin's Company. By Jane Barlow.
 289. Tom Grogan. By F. Hopkinson Smith.
 288. The Inn by the Shore. By Florence Warden.
 287. Old Melbourne Memories. By Rolf Boldrewood.
 286. Denis. By Mrs. E. M. Field.
 282. His Honour and a Lady. By S. J. Duncan.
 272. Disturbing Elements. By M. C. Birchenough.
 271. The Sowers. By H. S. Merriman.
 270. Cleg Kelly. By S. R. Crockett.
 269. The Judge of the Four Corners. By G. B. Burgin.
 268. The Release. By Charlotte M. Yonge.
 264. The Courtship of Morrice Buckler. By A. E. W. Mason.
 260. Maureen's Fairing. By Jane Barlow.
 257. The Old Pastures. By Mrs. Leith-Adams.
 256. Lindsay's Girl. By Mrs. Herbert Martin.
 253. Wee Willie Winkie, etc. By Rudyard Kipling.
 252. Soldiers Three, etc. By Rudyard Kipling.
 251. Many Inventions, etc. By Rudyard Kipling.
 250. Life's Handicap, etc. By Rudyard Kipling.
 249. The Light that Failed. By Rudyard Kipling.
 248. Plain Tales from the Hills. By Rudyard Kipling.
 241. The Wonderful Visit. By H. G. Wells.
 239. A Sweet Disorder. By Norma Lorimer.
 238. The Education of Antonia. By F. E. Phillips.
 237. For Love of Prue. By Leslie Keith.
 236. The Wooing of Doris. By Mrs. J. K. Spender.
 235. Captain Flick. By Fergus Hume.
 233. A Set of Rogues. By Frank Barrett.
 232. Minor Dialogues. By W. Pett Ridge.
 231. My Honey. By the Author of "Tipcat."
 230. The Shoulder of Shasta. By Bram Stoker.
 229. Casa Braccio. By F. M. Crawford.
 227. The Horseman's Word. By Neil Roy.
 225. The Wild Rose. By Francis Francis.
 224. The Crooked Stick. By Rolf Boldrewood.
 222. Adam Johnstone's Son. By F. M. Crawford.
 220. A Son of the Plains. By Arthur Paterson.
 219. Winifred Mount. By Richard Price.
 218. The Lovely Malincourt. By Helen Mathers.
 215. Prisoners of Silence. By Mary A. Dickens.
 205. The Great Dominion. By G. R. Parkin.

93. The Ralstons. By F. Marion Crawford.
99. The Vagabonds. By Margaret L. Woods.
98. Peter Ibbetson. By George Du Maurier.
96. Two on a Tower. By Thomas Hardy.
94. A Laodicean. By Thomas Hardy.
95. The Hand of Ethelberta. By Thomas Hardy.
92. Life's Little Ironies. By Thomas Hardy.
91. A Group of Noble Dames. By Thomas Hardy.
90. The Trumpet Major. By Thomas Hardy.
89. The Return of the Native. By Thomas Hardy.
88. Far from the Madding Crowd. By Thomas Hardy.
87. A Pair of Blue Eyes. By Thomas Hardy.
86. Desperate Remedies. By Thomas Hardy.
85. Tess of the d'Urbervilles. By Thomas Hardy.
84. The Prisoner of Hope. By Thomas Hardy.
81. Katharine. By F. Marion Crawford.
75. A Modern E. By Rolf Boldrewood.
74. Marcella. By Rolf Boldrewood.
71. Marion Darche. By F. Marion Crawford.
68. Pietro Ghisleri. By F. Marion Crawford.
66. Strolling Players. By C. M. Yonge and C. R. C. Bridge.
67. Don Orsino. By F. Marion Crawford.
64. The Children of the King. By F. Marion Crawford.
69. The Three Fates. By F. Marion Crawford.
68. The Marriage of Elinor. By Mrs. Oliphant.
65. The History of David Grieve. By Mrs. Humphry Ward.
62. Blanche, Lady Falaise. By J. H. Shorthouse.
69. The Witch of Prague. By F. M. Crawford. Illust.
67. Nevermore. By Rolf Boldrewood.
64. A Sydney-Side Saxon. By Rolf Boldrewood.
62. Khaled. By F. Marion Crawford.
68. The Expansion of England. By J. R. Seeley.
66. A Colonial Reformer. By Rolf Boldrewood.
64. The Squatter's Dream. By Rolf Boldrewood.
61. A Cigarette-Maker's Romance. By F. Marion Crawford.
60. The Miner's Right. By Rolf Boldrewood.
59. Sant' Ilario. By F. Marion Crawford.
54. Robbery under Arms. By Rolf Boldrewood.
59. Greifenstein. By F. Marion Crawford.
53. Beechcroft at Rockstone. By Charlotte M. Yonge.
52. The Countess Eve. By J. H. Shorthouse.
76. With the Immortals. By F. Marion Crawford.
74. Wessex Tales. By Thomas Hardy.
59. A Teacher of the Violin, and other Tales. By J. H. Shorthouse.
65. Paul Patoff. By F. Marion Crawford.
64. Marzio's Crucifix. By F. Marion Crawford.
59. Zoroaster. By F. Marion Crawford.
49. The Woodlanders. By Thomas Hardy.
46. Saracinesca. By F. Marion Crawford.
41. Tom Brown's School Days. By an Old Boy.
36. Sir Percival. By J. Henry Shorthouse.
35. A Modern Telemachus. By Charlotte M. Yonge.
32. The Mayor of Casterbridge. By Thomas Hardy.

Complete Catalogues sent post free on application.

MACMILLAN & CO., LTD., LONDON.

